आधुनिक हिन्दी काव्य और कवि

प्रधान सम्पादक

डा० रामचन्द्र तिवारी

सम्पादक

श्री राजेन्द्र बहादुर सिंह

नया साहित्य प्रकाशन
२ डी, मिंटो रोड, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण . दिसम्बर, १९६२

मूल्य : अजिल्द : ५.००

सजिल्द : ६.००

मुद्रक : लोकभारती मुद्रणालय, इलाहाबाद

प्रकाशक : नया साहित्य प्रकाशन

२-डी मिन्टो रोड, इलाहाबाद।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रतिनिधि कवि

आमुख

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग जीवन-चेतना के अनेक स्तरों एवं मानवीय अनुभूति की विविध भंगिमाओं को संस्पर्श करता हुआ विकसित हुआ है। उसके सृजन के मूल में अध्यात्म, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान आदि की बहुविधि प्रेरणाओं ने कार्य किया है। भारतेन्दु युग के उद्बोधन, द्विवेदी युग की नैतिकता एवं सुधारवादिता, छायावाद युग के सांस्कृतिक उन्नयन, प्रगतिवादी युग के वस्तु सत्य तथा प्रयोग-युग के आत्ममंथन एवं सतत सत्यान्वेषण को एक साथ अभिव्यक्ति देने वाला आधुनिक काव्य अपनी महिमा में अद्वितीय है। भारतेन्दु, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, राम कुमार वर्मा, दिनकर, बच्चन एवं अज्ञेय आदि कवि आधुनिक हिन्दी-काव्य के गौरव हैं। प्रस्तुत कृति में आधुनिक युग के इन प्रतिनिधि कवियों तथा उनके माध्यम से अभिव्यक्ति पाने वाली प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों के अध्ययन, अनुशीलन एवं मूल्यांकन का स्तुत्य प्रयास किया है। यह एक सहयोगी प्रयास है। इसमें संकलित निबन्धों के सभी लेखक अपने विशिष्ट आलोच्य विषय के गंभीर अध्येता के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके हैं। इस कृति में अनेक विषयों पर एक ही व्यक्ति के विचार व्यक्त नहीं हुए हैं वरन् अनेक विद्वानों के विचार उनकी रुचि वैशिष्ट्य के अनुकूल विषयों पर व्यक्त हुए हैं। इस प्रकार इस कृति के पाठकों को आधुनिक हिन्दी-काव्य के सम्बन्ध में न केवल उचित एवं सही जानकारी प्राप्त होगी वरन् उसके मूल्याङ्कन की विविध व्यक्तित्व-विधायिनी पद्धतियों एवं शैलियों का परिचय भी प्राप्त होगा।

इस कृति को प्रस्तुत रूप देने का समस्त श्रेय श्री राजेन्द्र बहादुर सिंह एम० ए० को है। उन्होंने इसके संपादन में अथक श्रम किया है। हमारा विश्वास है कि भविष्य में उनके संपादन में इस प्रकार के अन्य अनेक सहयोगी प्रयास प्रकाशित होंगे। इसमें संकलित निबन्धों के विद्वान् लेखकों ने

अपने निबन्धो को प्रकाशित करने की अनुमति देने मे जिस उदारता एवं सौजन्य का परिचय दिया है वह उनके शील के सर्वथा अनुकूल है। हम उनके सतत आभारी है। इस कृति के द्वारा हिन्दी-जगत निश्चित रूप से लाभान्वित होगा ऐसा हमारा विश्वास है। इसे पाठको के हाथ सौंपते के पहले हम भी परम्परा का पालन करते हुए सच्चे भाव से उनकी वन्दना करते है—'जो बिनु काज दाहिनेहुँ बाएँ'।

—रामचन्द्र तिवारी

आधुनिक हिन्दी काव्य की भावभूमि

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

आधुनिक हिन्दी-काव्य की सृष्टि प्रारम्भ से ही मध्यवर्गीय जीवन-चेतना के उन विकासोन्मुख उपादानों की सहज अभिव्यक्ति के रूप में हुई थी, जो रीतिकालीन सामन्तीय जीवन-व्यवस्था को ध्वंस करके नवीन समाज-रचना की संभावना को सत्य सिद्ध कर रहे थे। यह मध्यवर्गीय जीवन-चेतना उस सामाजिक संक्रमण की उपज है, जो ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक दिनों में ही मध्ययुगीन जर्जर सामन्तवादी सामाजिक ढाँचे को समाप्त करके नवीन सामाजिक वर्गों की सृष्टि कर रहा था। भारतेन्दु-युग का हिन्दी-काव्य इसी सन्धिकालीन चेतना की अभिव्यक्ति है। स्वयं भारतेन्दु का व्यक्तित्व द्विविध चेतना में संगठित है। एक ओर तो वे भक्तियुगीन प्रेम-केन्द्रित काव्य-परम्परा और रीतियुगीन शृङ्गार रस रसित काव्य-कला को मूर्त कर रहे थे, दूसरी ओर नवीन सामाजिक चेतना के अग्रदूत बनकर जीवन की यथार्थ समस्याओं को काव्य के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे। उनका व्यक्तित्व उस जागृत व्यक्ति का प्रतीक है, जो सदियों की प्रगाढ़ निद्रा का त्याग कर उद्‌बुद्ध हो उठा हो और चारों ओर सतर्क दृष्टि से देखता हुआ वस्तु-स्थिति को परख कर नवीन लक्ष्य निर्दिष्ट करके पूरी शक्ति के साथ उसी ओर बढ़ना चाहता हो। उनमें प्राचीनता की खुमारी और नवीनता का उन्मेष दोनों है। भारतेन्दु के अन्य सहयोगियों—प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी—में भी व्यक्तित्व

की दुहरी चेतना के दर्शन होते है। इन कवियों की वास्तविक महत्ता हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत मध्यवर्ग की प्रतिष्ठा और उनकी समस्याओं के समावेश के कारण है। इन लोगो ने काव्य-धारा को देश-भक्ति, समाज-सुधार, जातिहित, मातृ-भाषा-उद्धार आदि नवीन विषयों की ओर मोडा। ये सभी कवि मध्यवर्ग के ही प्रतिनिधि थे। इनके विचार अँग्रेजी-शिक्षा-संस्कार के नये-नये वातायन से आने वाली रोशनी से प्रकाशित अवश्य थे, किन्तु ये लोग अपने पुराने घरो मे ही नया प्रकाश भरना चाहते थे। इसीलिए ये कवि 'पुरानी लकीर के फकीरो' पर भी व्यंग्य करते थे और 'नये फैशन के गुलामों' पर भी। स्वयं भारतेन्दु परम्परागत जीवन-मर्यादा में ही समयानुकूल परिवर्तन चाहते थे। न तो वे नवीनता की झोंक मे 'किरिस्तान' बनना पसन्द करते थे और न प्राचीन पौराणिक व्यवस्था में ही सिमट कर रहना चाहते थे।

जिस समय भारतेन्दु का हिन्दी-काव्याकाश मे उदय हुआ, बंगाल मे एशिया के प्रथम आधुनिक पुरुष (राजा राममोहन राय) का प्रादुर्भाव हो चुका था। हिन्दी-प्रदेश मे भी नवजागरण का श्रीगणेश हो चुका था। सदियों की अराजकता के बाद अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसके फल-स्वरूप होने वाली शान्ति व्यवस्था का जन साधारण द्वारा स्वागत हो रहा था। राजनैतिक और आर्थिक जीवन-क्षेत्रो मे हमारी प्रगति के द्वार पूर्ण अवरुद्ध थे। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो मे अग्रेजो का अंकुश कुछ ढीला था। अँग्रेजी शिक्षा-सभ्यता, संस्कार और नीति के परिणाम-प्रभाव-स्वरूप अध्यापको, पत्रकारों, डाक्टरों, वकीलो और बाबुओं का मध्यवर्ग ढलकर तैयार हो गया था, जो विचारों से रूढि-विरोधी-आर्थिक दृष्टि से खोखला और भावना की दृष्टि से आदर्शवादी था। संस्कृत भाषा और साहित्य के महत्व की स्वीकृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा घोषित की जा चुकी थी और इससे हमारा आत्मविश्वास जागृत होने लगा था। ब्रिटिश कूटनीति भारतीय सामन्तशाही का संरक्षण एक सीमित दायरे मे कर रही थी और भारतीय जनता मे हिन्दू-मुस्लिम-भावना जगाकर इन दोनो जातियों के बीच की दरार को चौडी खाई के रूप मे बदलती जा रही थी।

ईसाई धर्म प्रचारक पूरी शक्ति से सक्रिय थे भारतीय श्रेष्ठिवर्ग का स्वार्थ ब्रिटिश व्यापारियों से टकराने लगा था और वे मन ही मन उन्हें हटाने का संकल्प करने लगे थे। देश के प्रबुद्ध नेता वस्तुस्थिति को समझकर एक ओर समाज-कल्याण में रत थे, दूसरी ओर धीरे-धीरे अंग्रेजो से राजनैतिक सुविधाएं भी प्राप्त करना चाहते थे। भारतेन्दु युगीन काव्य मे उपर्युक्त सम्पूर्ण जीवन-चेतना अभिव्यक्त हुई है। बगाल मे जो कार्य राजा राम-मोहन राय, प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन और ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर ने किया, हिन्दी-प्रदेश मे जन-मानस को प्रबुद्ध करने का वही कार्य काव्य के माध्यम से भारतेन्दु और उनके सहयोगियो ने किया। आर्यसमाज-आन्दोलन ने इसके लिए पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत की थी, किन्तु इस आन्दो-लन द्वारा जागृत चेतना सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों मे ही सीमित थी। भारतेन्दु ने जीवन की सम्पूर्ण नव-चेतना को काव्य को भावभूमि मे ही प्रतिष्ठित किया।

विचार करने पर भारतेन्दु-युग में काव्य की तीन-भाव भूमियाँ लक्ष्य की जा सकती है—यथार्थवादी भूमि, जातीय एवं राष्ट्रीय प्रेम-भावना की भूमि और स्वच्छन्दतावादी भूमि। तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियो, आर्थिक विषमताओं और राजनैतिक दाव-पेचों के यथातथ्य वर्णनो को काव्य की यथार्थवादी भाव-भूमि के अन्तर्गत माना जा सकता है। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के प्रति व्यक्त होने वाली निष्ठामूलक भावनाओ को राष्ट्रीय प्रेम-भावना की भूमि के अन्तर्गत समझना चाहिए। इसी प्रकार रीति-युग के अन्तिम चरण मे घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि कवियो द्वारा प्रवाहित रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रेमप्रवाह भी भारतेन्दु-युग मे पूर्णतः क्षीण नही हुआ था और उसे हम काव्य की तीसरी (स्वच्छन्दतावादी) भूमि की सीमाओ के भीतर रख सकते है। यही काव्यधारा आगे चलकर श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों के काव्य मे प्रवाहित होती हुई 'छायावाद' के व्यापक आन्दोलन की पृष्ठभूमि बन गयी। राष्ट्रीय प्रेमभावना का प्रसार अन्यो की अपेक्षा अधिक था, किन्तु अभी इसमें वेग या तीव्रता की कमी थी। अंग्रेजों के आगमन के साथ प्रतिष्ठित

की दुहरी चेतना के दर्शन होते हैं। इन कवियों की वास्तविक महत्ता हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत मध्यवर्ग की प्रतिष्ठा और उनकी समस्याओं के समावेश के कारण है। इन लोगों ने काव्य-धारा को देश-भक्ति, समाज-सुधार, जातिहित, मातृ-भाषा-उद्धार आदि नवीन विषयों की ओर मोड़ा। ये सभी कवि मध्यवर्ग के ही प्रतिनिधि थे। इनके विचार अँग्रेजी-शिक्षा-संस्कार के नये-नये वातायन से आने वाली रोशनी से प्रकाशित अवश्य थे, किन्तु ये लोग अपने पुराने घरों में ही नया प्रकाश भरना चाहते थे। इसीलिए ये कवि 'पुरानी लकीर के फकीरों' पर भी व्यंग्य करते थे और 'नये फैशन के गुलामों' पर भी। स्वयं भारतेन्दु परम्परागत जीवन-मर्यादा में ही समया-नुकूल परिवर्तन चाहते थे। न तो वे नवीनता की झोंक में 'किरिस्तान' बनना पसन्द करते थे और न प्राचीन पौराणिक व्यवस्था में ही सिमट कर रहना चाहते थे।

जिस समय भारतेन्दु का हिन्दी-काव्याकाश में उदय हुआ, बंगाल में एशिया के प्रथम आधुनिक पुरुष (राजा राममोहन राय) का प्रादुर्भाव हो चुका था। हिन्दी-प्रदेश में भी नवजागरण का श्रीगणेश हो चुका था। सदियों की अराजकता के बाद अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसके फल-स्वरूप होने वाली शान्ति व्यवस्था का जन साधारण द्वारा स्वागत हो रहा था। राजनैतिक और आर्थिक जीवन-क्षेत्रों में हमारी प्रगति के द्वार पूर्ण अवरुद्ध थे। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अंग्रेजों का अंकुश कुछ ढीला था। अँग्रेजी शिक्षा-सभ्यता, संस्कार और नीति के परिणाम-प्रभाव-स्वरूप अध्यापकों, पत्रकारों, डाक्टरों, वकीलों और बाबुओं का मध्यवर्ग ढलकर तैयार हो गया था, जो विचारों से रूढ़ि-विरोधी-आर्थिक दृष्टि से खोखला और भावना की दृष्टि से आदर्शवादी था। संस्कृत भाषा और साहित्य के महत्त्व की स्वीकृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा घोषित की जा चुकी थी और इससे हमारा आत्मविश्वास जागृत होने लगा था। ब्रिटिश कूटनीति भारतीय सामन्तशाही का संरक्षण एक सीमित दायरे में कर रही थी और भारतीय जनता में हिन्दू-मुस्लिम-भावना जगाकर इन दोनों जातियों के बीच की दरार को चौड़ी खाई के रूप में बदलती जा रही थी।

ईसाई धर्म-प्रचारक पूरी शक्ति से सक्रिय थे। भारतीय श्रेष्ठिवर्ग का स्वार्थ ब्रिटिश व्यापारियों से टकराने लगा था और वे मन ही मन उन्हें हटाने का संकल्प करने लगे थे। देश के प्रबुद्ध नेता वस्तुस्थिति को समझकर एक ओर समाज-कल्याण में रत थे, दूसरी ओर धीरे-धीरे अंग्रेजों से राजनैतिक सुविधाएँ भी प्राप्त करना चाहते थे। भारतेन्दु युगीन काव्य में उपर्युक्त सम्पूर्ण जीवन-चेतना अभिव्यक्त हुई है। बंगाल में जो कार्य राजा राम-मोहन राय, प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन और ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर ने किया, हिन्दी-प्रदेश में जन-मानस को प्रबुद्ध करने का वही कार्य काव्य के माध्यम से भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने किया। आर्यसमाज-आन्दोलन ने इसके लिए पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत की थी, किन्तु इस आन्दो-लन द्वारा जागृत चेतना सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में ही सीमित थी। भारतेन्दु ने जीवन की सम्पूर्ण नव-चेतना को काव्य की भावभूमि में ही प्रतिष्ठित किया।

विचार करने पर भारतेन्दु-युग में काव्य की तीन-भाव भूमियाँ लक्ष्य की जा सकती है—यथार्थवादी भूमि, जातीय एवं राष्ट्रीय प्रेम-भावना की भूमि और स्वच्छन्दतावादी भूमि। तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों, आर्थिक विषमताओं और राजनैतिक दाव-पेचों के यथातथ्य वर्णनों को काव्य की यथार्थवादी भाव-भूमि के अन्तर्गत माना जा सकता है। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के प्रति व्यक्त होने वाली निष्ठामूलक भावनाओं को राष्ट्रीय प्रेम-भावना की भूमि के अन्तर्गत समझना चाहिए। इसी प्रकार रीति-युग के अन्तिम चरण में घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि कवियों द्वारा प्रवाहित रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रेमप्रवाह भी भारतेन्दु-युग में पूर्णतः क्षीण नहीं हुआ था और उसे हम काव्य की तीसरी (स्वच्छन्दतावादी) भूमि की सीमाओं के भीतर रख सकते हैं। यही काव्यधारा आगे चलकर श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों के काव्य में प्रवाहित होती हुई 'छायावाद' के व्यापक आन्दोलन की पृष्ठभूमि बन गयी। राष्ट्रीय प्रेमभावना का प्रसार अन्यों की अपेक्षा अधिक था, किन्तु अभी इसमें वेग या तीव्रता की कमी थी। अंग्रेजों के आगमन के साथ प्रतिष्ठित

होनेवाली देशव्यापी शान्ति ने जन-मानस में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न कर दिया था। नवनिर्मित बुद्धिवादी मध्यवर्ग अंग्रेज अफसरों को अपने विकास में बाधक मानकर मन-ही-मन असन्तुष्ट था। देशी व्यापारी वर्ग देश के पूरे व्यापार पर एकाधिपत्य चाहता था, जो अंग्रेजों के रहते सम्भव न था। अतः इनका आक्रोश भी संचित हो रहा था। यह असंतोष और आक्रोश आगे चलकर गाँधी के नेतृत्व में होनेवाले देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन में तीव्र वेग से फूट पड़ा और काव्य के अन्तर्गत मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि कवियों की वाणी में इसका ओजस्वी रूप प्रकट हुआ। काव्य की यथार्थवादी भूमि के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग में ही किसानों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाली कविताएँ भी बालमुकुन्द गुप्त और 'प्रेमघन' जैसे कवियों ने की थीं। इन कविताओं में भविष्य में आनेवाली प्रगतिवादी काव्यधारा का मूल स्रोत लक्ष्य किया जा सकता है। इस प्रकार यह प्रकट है कि भारतेन्दु-युग में ही आधुनिक काव्य-धारा के सभी प्रतिनिधि उत्स अपने मूलरूप में अस्तित्व में आ चुके थे। आगे चलकर परिस्थितिवश कोई धारा वेगवती और कोई क्षीण होती रही।

नवजागरण की जिस भावना का उन्मेष भारतेन्दु-युग में हुआ था, द्विवेदी-युग में उसकी व्यापक प्रतिष्ठा 'सुधारवाद' के रूप में हुई। स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण और दयानन्द के उपदेशों ने लोक-जीवन में नैतिक मूल्यों का उन्नयन किया। इनके द्वारा संचालित और प्रेरित आन्दोलनों का रूप सामाजिक एवं धार्मिक ही था। स्वयं गाँधी का आन्दोलन भी धार्मिक सुधारों के क्रोड़ से ही विकसित होकर राजनैतिक लक्ष्य-सिद्धि की ओर उन्मुख हुआ था। इन आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि जीवन के सभी क्षेत्रों में सुधारों की धूम मच गयी और काव्य के पुराने विषय पूर्णतः छोड़ दिये गये। 'ब्रजभाषा' का स्थान खड़ी बोली ने लिया। काव्य जीवन के अधिक निकट आ गया। सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ और इसी के साथ द्विवेदी-युग का आरम्भ समझना चाहिए। यहाँ तक आते-आते देश का नेतृत्व गाँधी के हाथ में आ गया

था। सन् १९०४ ई० मे 'रूस' देश पर जापानियों की विजय ने हम भारतीयों मे भी गौरव की भावना जगाई। बंग-भंग आन्दोलन ने राष्ट्रीय भावना के प्रसार मे योग दिया। असहयोग आन्दोलनों ने देश के कोने-कोने मे जागृति का सन्देश फैलाया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन ने 'बुद्धिवाद' की प्रतिष्ठा की। पौराणिक विश्वासो को गहरी ठेस लगी। हम अनेक पौराणिक आख्यानो की बुद्धिसंगत व्याख्या करने लगे। 'नारी स्वातन्त्र्य', 'निम्नवर्गीय जनता के प्रति सहानुभूति', 'खादी-प्रचार', 'अछूतोद्धार', 'स्वावलम्बन', 'पूंजीवाद का विरोध', 'जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के गुण दोष' आदि अनेक विषय काव्य-चर्चा के सामान्य विषय बन गये। द्विवेदी-युग के सभी प्रमुख कवियों—'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूरामशंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सत्यनारायण 'कविरत्न', रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय—ने किसी-न-किसी रूप में उपर्युक्त विषयो पर काव्य-रचना की थी। इन कवियों मे पूर्णजी, नाथूरामशंकर शर्मा, सनेहीजी, रूपनारायण पाण्डेय आदि तो ब्रजभाषा की पुरानी परम्परा का ही निर्वाह कर रहे थे। सत्यनारायण 'कविरत्न' ने माध्यम तो ब्रजभाषा का ही स्वीकार किया था, किन्तु उनकी भावनाएँ नये युग के साथ थीं।

इस प्रकार द्विवेदी-युग मे काव्य-विषयो मे तो पर्याप्त विस्तार हुआ, किन्तु मर्म-स्पर्शी काव्य-सृष्टि बहुत कम हुई। कवियो का ध्यान खड़ी बोली को काव्यानुकूल बनाने में लगा रहा। व्याकरण के दोषों के निराकरण मे ही वे उलझे रहे। स्थूल नैतिक मर्यादा ने कल्पना के प्रसार की सम्भावना कम कर दी। काव्य-शैली इतिवृत्तात्मक हो गयी। अधिकांश कवियो की कविताएँ तुकबन्दी बनकर रह गयी। कवि 'दिनकर' के शब्दों में यह युग 'कला की पराजय और जीवन की जय' का सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। इस युग मे काव्य की यथार्थवादी भूमि और राष्ट्रीय प्रेमभावना-भूमि का प्रसार तो हुआ, किन्तु समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के कारण स्वच्छन्दतावादी भावभूमि को ठेस लगी और इसका स्रोत सूख-सा

गया। फिर भी श्रीधर पाठक और जगमोहन सिंह के द्वारा प्रवर्तित काव्य की यह रूमानी प्रवृत्ति मुकुटधर पाण्डेय और मैथिलीशरण गुप्त की कुछ कल्पनामय अंतर्भाव-व्यञ्जक कविताओं में साँस लेती रही है और आगे चलकर छायावादी युग में तो यह काव्य की प्रधान भावभूमि के रूप में मान्य हुई।

सन् १९१९ ई० तक मध्यवर्गीय असन्तोष निश्चित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर पूर्ण विकसित राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ग्रहण कर चुका था, किन्तु अंग्रेजों की प्रभुसत्ता के रहते हुए हम किसी भी क्षेत्र में आमूल परिवर्तन नहीं कर सकते थे। सामाजिक जीवन में हम स्थूल नैतिकता, आदर्शवादिता और सुधार की प्रवृत्ति से अधिक आगे नहीं बढ़ सकते थे। राजनैतिक जीवन की सारी सक्रियता अंग्रेजी शासन के विघटन में लगी हुई थी। आर्थिक विकास के लिए विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार से बड़ी दूसरी योजना हम नहीं सोच सकते थे। इन योजनाओं को जीवन के व्यावहारिक धरातल पर उतारने के लिए कर्मठ व्यक्तियों की आवश्यकता थी। इसीलिए द्विवेदी-युगीन हिन्दी-काव्य में प्रबन्धों के माध्यम से 'शील' की प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा प्रयत्न हुआ। पुरुष पात्र सुधारवादी लोक-सेवक और कर्मठ चित्रित किये गये। नारियाँ आदर्श वीर क्षत्राणियों और सतियों के रूप में प्रस्तुत की गयीं। अनेक पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरितनायकों की अवतारणा करके उनके माध्यम से 'शील' की प्रतिष्ठा द्विवेदी-युग की उपलब्धि मानी जा सकती है।

जीवन कितना ही विचित्र और रहस्यमय क्यों न हो, वह अपने यथातथ्य रूप में काव्य नहीं है। इसीलिए द्विवेदी-युगीन तथ्यमूलक इतिवृत्तात्मक कविता अधिक दिनों तक न चल सकी। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया अनिवार्य हो उठी। यह प्रतिक्रिया छायावादी काव्य की अनेक विशेषताओं को सम्भव बनाने में सहायक हुई। द्विवेदी-युगीन जीवन-दृष्टि स्थूल सुधारवादी थी। उसके स्थान पर सूक्ष्म भावात्मक जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा हुई। सामाजिक, नैतिकतामूलक जीवन-मर्यादा के विरुद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को महत्त्व दिया गया। उपदेशगर्भित काव्य की प्रतिक्रिया शृंगारिकता और रूमानियत

म हुई। आदर्श चरित्रों के स्थान पर मनोवैज्ञानिक और मानव की सहज दुर्बलताओं से युक्त पात्रों की अवतारणा की गयी। प्रबन्ध-काव्यों का स्थान 'प्रगीत' मुक्तकों ने लिया। स्थूल और बाह्य-जगत् की सतही अनुभूतियों के स्थान पर सूक्ष्म एवं आन्तरिक जगत् की गहरी अनुभूतियों को व्यक्त किया गया। दर्शन की जगह चित्रण का महत्व प्रतिष्ठित हुआ। यथातथ्यता कल्पना-वैभव के सामने फीकी पड़ गया। काव्य में अभिधा की जगह लक्षणा और व्यञ्जना की श्रेष्ठता स्वीकृत हुई। प्राचीन उपमानों और रूढ़िग्रस्त प्रतीकों के स्थान पर नये उपमान और प्रतीक ग्रहण किये गये। कला जीवन के लिए न जीकर अपने लिए जीने लगी। 'सत्य' और 'शिव' के स्थान पर 'सौन्दर्य' की पूजा होने लगी। कविता पुरातनता का निर्मोक हटाकर नवीन अर्थ-बोध एवं शब्द-सौष्ठव से युक्त होकर 'मोती के भीतर की छाया की भाँति' तरल लावण्य की उज्ज्वल आभा विकीर्ण करने लगी। इन विशेषताओं से युक्त काव्य-प्रवृत्ति को 'छायावाद' की संज्ञा प्रदान की गयी।

अतिशय संवेदनशील एवं भावप्रवण होने के कारण छायावादी कवि ने स्थूल-जड़ प्राकृतिक उपकरणों में भी चेतन आत्मा के दर्शन किये। कदाचित् इसीलिए छायावादी काव्य के मूल-दर्शन की ओर संकेत करते हुए आलोचकों ने उसे 'सर्वात्मवाद' माना है। वास्तव में 'आत्मन्' शब्द को जिस रूप में दार्शनिकों ने ग्रहण किया है उसे देखते हुए 'सर्वात्मवाद' को छायावादी काव्य का मूल दर्शन मानने का भ्रम अनुचित नहीं प्रतीत होता। आचार्य शंकर के अनुसार—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततोभावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

अर्थात् 'आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति), समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते), स्थिति काल में वह विषयों को खाता है, अर्थात् अनुभव करता है (अत्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततोभाव)।' कहना न होगा कि छायावादी कवि ने संसार के समस्त पदार्थों में एक ही चेतन तत्त्व की झलक

देखी, उसने समस्त वस्तुओं को आत्म-भावना के रंग में रंगकर उपस्थित किया, उसने आत्म-अनुभूति को प्रधानता दी और इस आत्म-तत्व की चिरन्तनता पर भी कभी अविश्वास नहीं किया। यही कारण है कि महादेवी ने उसे 'दर्शन के ब्रह्म का स्मरण' मानकर 'सर्ववादी' या 'सर्वात्मवादी' घोषित किया। किन्तु छायावादी कवियों की 'अहं' की चेतना (आत्मतत्व की अनुभूति) और उसकी सर्वव्यापकता गहन चिन्तन का परिणाम न होकर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से प्रतिष्ठित होने वाले 'व्यक्तिवाद' का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के सभी प्रतिनिधि कवि—पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि—वेदान्त-दर्शन से परिचित ही नहीं, प्रभावित भी थे। पन्त जी ने तो विवेकानन्दजी का प्रभाव स्वीकार भी किया है। निराला ने भी विवेकानन्द की कई कविताओं का अनुवाद किया है। प्रसाद, महादेवी और वर्माजी भी भारतीय अद्वैतवेदान्त के अध्येता रहे हैं किन्तु इन सभी के काव्य का मूल, दर्शन के आत्म-चैतन्य की उपलब्धि न होकर जीवन में प्रतिष्ठित 'स्व' की संवेदना ही है। अतिशय भाव-प्रवणता के कारण ही इन कवियों ने जड़-चेतन में एक ही 'भाव-सत्ता' के स्पन्दन का अनुभव किया और प्रकृति को स्वानुभूति के रंग में रञ्जित कर उस पर चेतना का आरोप किया। इन कवियों की कुछ कविताओं में दर्शन के 'आत्म' की प्रतिष्ठा भले ही हो, इनके काव्य की भावभूमि वैयक्तिक भावानुभूतियों से ही रञ्जित है। स्वानुभूति को दार्शनिकता के आवरण में उपस्थित करने के कारण ही छायावादी कवियों के काव्य में अनुभूत और आरोपित सत्यों की द्विविध चेतना के दर्शन होते हैं। कविवर पन्त की अनेक कविताओं और प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति 'कामायनी' में यह वैशिष्ट्य अधिक स्पष्ट होकर सामने आया है। हिन्दी के ही नहीं, बँगला के आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के काव्य में भी सत्य के ये द्विविध स्तर एक साथ परिलक्षित होते हैं। उनका वैयक्तिक जीवन-दर्शन भी औपनिषदिक 'आत्मवाद' से बहुत दूर तक प्रभावित है। उन्होंने मनुष्य में असीम सत्ता (Inffinite being) और ससीम 'स्व' (Finite self)

दोनो की स्थिति स्वीकार की है उन्होंने दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को अनिवार्य और शाश्वत् माना है। मुण्डकोपनिषद् के निम्न-लिखित प्रसिद्ध मन्त्र —

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
>
> (तृ० मु० १ मंत्र)

को उद्धृत करते हुए वे कहते है कि मनुष्य मे ये दोनो ही पक्षी निवास करते है। आबजेक्टिव (Objective) जो संसार के प्रति आसक्त रहता है और सबजेक्टिव (Subjective) जो अनासक्ति के असीम आनन्द मे मग्न रहता है (The Religion of Man पृष्ठ, १३७)। तात्पर्य यह कि कवीन्द्र रवीन्द्र दर्शन की अनासक्तता और जीवन की सुख-दुखमयी अनुभूत्यात्मकता, दोनो को ही मानव का सहज धर्म स्वीकार करके दोनो की समानान्तर काव्यात्मक अभिव्यक्ति स्वाभाविक मानते है। जो भी हो, हिन्दी का छायावादी कवि जब ससीम से असीम तक लौकिक से अलौकिक तक, अनित्य से नित्य तक, पार्थिव से अपार्थिव तक, और प्रत्यक्ष से परोक्ष तक की यात्रा एक ही स्थल पर, एक ही साँस मे कर आता है तो उसकी अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति के प्रति सन्देह होने लगता है।

छायावादी काव्य की वह विशिष्ट प्रवृत्ति जिसमे ससीम, गोचर और व्यक्त के परे असीम, अगोचर और रहस्यमयी सत्ता के प्रति कुतूहल, जिज्ञासा, ललक, प्रणय-निवेदन या विरह-वेदना-प्रकाशन अधिक किया गया, रहस्यवादी काव्यधारा कही गयी। प्रायः सभी छायावादी कवियो मे यह प्रवृत्ति किसी-न-किसी रूप मे पायी गयी, अतः इन्ही कवियों को रहस्य-वादी भी कहा गया।

छायावादी और रहस्यवादी काव्य-धारा भी आधुनिक सामाजिक परि-स्थितियों की ही उपज है। बौद्धिक विकास एवं राष्ट्रीय चेतना से युक्त भारतीय नवयुवक कुछ कहना चाहता था। उसकी अपनी आशाएँ-आकां-

आएँ थीं। उसके अपने सपने थे। वह सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त होना चाहता था। वह ब्रिटिश-शासन को उखाड़ फेंकना चाहता था। किन्तु वह ऐसा कुछ नहीं कर सका। गाँधी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन कई बार विफल रहा। प्रथम महायुद्ध के बाद पूरे होने वाले हमारे अपने मन निराशा के अतिरिक्त और कुछ न दे सके। अतः असन्तोष, विद्रोह, पीड़ा और निराशा की यह प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो गयी। कवि को समाज और राष्ट्र की वर्तमान स्थिति में किसी प्रकार के उल्लास या प्रेरणा के दर्शन न हुए। उसने प्रकृति के अञ्चल में मुँह छिपाया या कल्पना-लोक में अनेक सुखद छाया-चित्रों की सृष्टि करने लगा। किन्तु इन सबके ऊपर व्याप्त व्यापक निराशा के धुँधले आवरण को भी वह न हटा सका। उसे इन वैयक्तिक अन्तर्मुखी अनुभूतियों को सूक्ष्म सांकेतिक अभिव्यक्ति के लिए नई नवीन काव्य-शैली की खोज करनी पड़ी। इस विशिष्ट काव्य-शैली के उपकरणों को सँजोने में उसे अथक श्रम करना पड़ा। उसने संस्कृत के कवियों से कोमलकान्त पदावली ली। ब्रजभाषा के रीतिमुक्त कवियों से मधुसिक्त विरल विशिष्ट प्रयोग लिये। बँगला के सर्वस्व, भारत के गौरव और विश्व के मान्य कविकुलगुरु रवीन्द्र से भाव-स्फीत चित्रमयी शब्द-योजना ली और अंग्रेजी के रोमैण्टिक कवियों से प्रभावसाम्याधारित शब्द-प्रतीकों की प्रेरणा ली। इस सबकी समन्वित योजना से उसने ऐसी काव्यशैली को जन्म दिया जो अपनी अद्भुत कलात्मकता के लिए हिन्दी-काव्य-परम्परा में सदैव स्मरणीय रहेगी।

छायावादी युग में राष्ट्रीय चेतना का भी प्रसार हुआ। यह भारतेन्दु-युगीन राष्ट्रीय प्रेम-भावना की काव्यभूमि का विकसित रूप था। 'प्रसाद' के नाटकों; माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान की अनेक ओजस्वी कविताओं; पन्त के भारत-माता के ग्राम्य रूप-चित्रों और निराला के जागरण और उद्बोधन-गीतों में व्यापक राष्ट्रीय चेतना के दर्शन होते हैं।

छायावादी युग में स्वच्छन्दतावादी (रोमैन्टिक) काव्यधारा के साथ ही विकसित राष्ट्रीय चेतना का काव्य-स्रोत भी समानान्तर प्रवाहित हुआ

है यह राष्ट्रीयता रोमैंटिक प्रवृत्ति से भिन्न या विरोधी नहीं थी। इसके मूल में भी जीवन के प्रति भावात्मक (Emotional) दृष्टिकोण ही कार्य कर रहा था। यहाँ समानान्तर शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि स्वर की ओजस्विता और विषय की स्पष्टता के कारण राष्ट्रीय भावधारा की कविताएँ छायावाद की प्रणयमूलक कविताओं की सूक्ष्मता और सांकेतिकता की सापेक्षिता में अधिक स्पष्ट और प्रेषणीय रही है।

वस्तुपरक यथार्थवादी काव्यधारा का प्रवाह छायावादी युग में न केवल मन्द पड़ गया वरन् उसका स्रोत क्षीण होकर सूखता-सा प्रतीत हुआ। केवल 'निराला' की कुछ कविताएँ अपवादरूप मे स्वीकार की जा सकती है। छायावादी कवियो की 'लघुता के प्रति' केवल मानसिक सहानुभूति थी, इसलिए इस ओर वे साहित्यिक दृष्टिपात न कर सके।

'कला' जिन्दगी से दूर जाकर निष्प्राण हो जाती है। वह आकाश मे वायु पीकर नहीं जी सकती, उसे धरती पर उतरकर रससिक्त होना पड़ता है। 'छायावाद' की सारी मोहकता 'नयन के अभिराम इन्द्रजाल' से अधिक और कुछ न थी। उसमें कल्पना का अपार वैभव था, उसमे सुकुमार भावनाओ की सलज्ज मुसकान थी; उसका कलेवर मधु सौरभ और पराग से रचा गया था, वह नवल-मधुराका-मन की साध के समान शीतल थी, किन्तु उसके चारो ओर अस्पष्टता का एक घना कुहरा था, जो उसे सामान्य जन के दृष्टिपथ से ओझल कर देता था। इसलिए छायावादोत्तर काल का तरुण कविवर्ग अभिव्यक्ति का नयापथ प्रशस्त करने लगा। उसे छायावादी काल की रूमानियत तो प्रिय थी, किन्तु इसे वह रहस्य बनाकर छायावादियों की रंगीनी मे या अध्यात्मवाद के परदे मे छिपाना नहीं चाहता था। उसे अपनी वैयक्तिक भावनाओ को समाज से छिपाने की आवश्यकता न जान पड़ी। इन कवियों मे बच्चन, नरेन्द्र, अञ्चल आदि प्रमुख है। इन्हे अपनी जवानी की रवानी के सामने वृद्ध जग की नैतिकता की परवाह न थी। छायावादोत्तर काल मे आनेवाले इन कवियो की भाव-भूमि तो वैयक्तिक ही रही, किन्तु इनकी अभिव्यक्ति में प्रसादात्मकता आ गयी। इन कवियों के साथ गाँधीवाद के सिद्धान्त-पक्ष को लेकर

श्री सियारामशरणजी ने काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया। उनमें रूमानियत के स्थान पर सत्य, अहिंसा और करुणा की आध्यात्मिक अनुभूति प्रबल है। उनके काव्य को आत्मपीड़न का काव्य कहा जा सकता है। उनकी करुणा का उत्स तो वैयक्तिक ही है, किन्तु अन्ततः वह उदात्त होकर सामाजिक और विश्वजनीन हो जाती है। गांधी के सिद्धान्त-पक्ष को काव्य की आत्मपरक भावभूमि मे प्रतिष्ठित करने वाले आप अकेले कवि हैं।

छायावादी काव्य मे अभिव्यक्ति की अस्पष्टता का ही एक बड़ा दोष नहीं था, जीवन के व्यावहारिक धरातल पर इसकी ठोस उपादेयता भी विवादास्पद थी। उधर गांधीवादी विचारधारा के अन्तर्गत ही नेताओं का एक ऐसा वर्ग सगठित होने लगा जो देश की समस्याओं का समाधान अन्ततः मार्क्सवाद के आधार पर ही सम्भव मानता था। भारतवर्ष में भी सन् १९२७ ई० मे कम्युनिस्ट दल का संगठन हो चुका था। मार्क्सवाद के प्रभावस्वरूप जीवन के राजनैतिक क्षेत्र में जो नयी चेतना आयी, काव्य के क्षेत्र मे भी उसका प्रभाव पड़ा। मार्क्सवाद ने हमे फिर से नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य किया। जगत् मे केवल पदार्थ की जड़-सत्ता ही सत्य है। संसार का नियमन करनेवाली कोई परोक्ष चेतन सत्ता नहीं है। पदार्थ मे परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इन विरोधी तत्त्वों के संघर्ष या द्वन्द्व से पदार्थ की जड़-सत्ता मे गति उत्पन्न होती है। इन्हीं द्वन्द्वों की सतत् गति से ही जड़ता से चेतना तत्व फूट पड़ा है। इस चेतन का सुन्दरतम एवं चरम विकास मानवस्वरूप में हुआ है। समाज की सारी व्यवस्थाओं, रीतियों, नियमों, विधि-निषेधों एवं मान्यताओं का पूर्ण दायित्व मानव पर ही है। सामाजिक विषमता के मूल मे मानव की स्वार्थ-भावना केंद्रित है। आज का ससार पूँजीवादीवर्ग और सर्वहारावर्ग में बँटा हुआ है। इस वर्गविभाजन का दायित्व ईश्वर जैसी किसी परोक्ष सत्ता पर नहीं लादा जा सकता। पूँजीवादीवर्ग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सर्वहारावर्ग का शोषण करता आया है। गरीबी पूर्वजन्म के कर्मों का अनिवार्य परिणाम नहीं, इसी पूँजीवादीवर्ग की स्वार्थनीति की सतत चेष्टा का सामाजिक परिणाम है। यदि सर्वहारावर्ग संगठित होकर अपने

अधिकारों की माँग दृढ़तापूर्वक करे तो पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो सकता है। सर्वहारावर्ग को संगठित करने के लिए उसे उसके अधिकारों से परिचित कराना होगा। उनमें असन्तोष की प्रवृत्ति जागृत करनी होगी। उनके प्रति सहानुभूति दिखानी होगी। यह कार्य मार्क्सवादी साहित्यकार को करना होगा। हिन्दी-साहित्य में इसी मार्क्सवाद की साहित्यिक परिणति 'प्रगतिवाद' के रूप में हुई। सन् १९३४ ई० में डॉ० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर की प्रेरणा से मुन्शी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की प्रथम बैठक हुई। इसके उपरान्त हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी रचनाओं की धूम मच गयी। सर्वहारावर्ग के अन्तर्गत किसान-मजदूर आते हैं। इनके दैन्य, गरीबी, श्रम और शोषण का वर्णन तो भारतेन्दु-युग से ही आरंभ हो गया था। अब उसके समर्थन में एक जीवन-दर्शन की उपलब्धि हो जाने से काव्य की यह धारा वेगवती हो उठी। प्रगतिवादी काव्य प्राचीन सामाजिक मर्यादा एवं नैतिकता का भी विरोधी था और पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद का भी। इसलिए प्रारम्भ में प्राचीन नैतिक बन्धनों को तोड़कर वैयक्तिक वासनापरक काव्य के स्रष्टाओं को भी प्रगतिवादी माना गया और किसानों-मजदूरों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करनेवालों को भी। जिसने भी किसानों-मजदूरों के साथ सहानुभूति दिखाई उसे प्रगतिवादी मान लिया गया। इसलिए प्रारम्भ में 'निराला', 'पन्त', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, 'दिनकर', 'अञ्चल', 'सुमन' सभी को प्रगतिवादी-काव्य-परम्परा का कवि होने का गौरव प्राप्त हुआ। लेकिन इन कवियों में से अनेकों को आगे चलकर इस गौरव से वंचित भी होना पड़ा। १९३६ ई० से लेकर १९४३ ई० के आस-पास तक 'प्रगतिवाद' ने अपना प्रकृत-पथ प्रशस्त नहीं किया था और इसलिए रूढ़ि-विरोधी व्यंग्यात्मक कविताएँ, यथार्थवादी कविताएँ, राष्ट्रीयता की व्यापक भावना युक्त कविताएँ तथा किसान-मजदूर जीवन-सम्बन्धी कविताएँ, सभी को प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा दी गयी। १९४३ ई० से प्रगतिवादी काव्यधारा के दो स्रोत हो गये। एक वर्ग 'अज्ञेय' के साथ प्रगतिवादी काव्य की संकीर्णता के विरोध में 'उदार मानवतावाद'

की सृष्टि करने लगा और दूसरे ने सामाजिक यथार्थवाद को प्रगतिवादी काव्य का आदर्श स्वीकार किया। आज प्रगतिवादी काव्य की सीमाओं मे नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', डॉ० रामविलास शर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, शील, मानसिंह राही, मार्कण्डेय आदि कवि आते हैं। प्रगतिवादियो ने साहित्य के क्षेत्र मे पहली बार संगठित कदम उठाया। इस काव्यधारा की सबसे बड़ी दुर्बलता इसकी अपनी सीमाएँ हैं। 'रस की मदिरा के स्थान पर केवल विचार के बल को ही आवश्यक मानकर चलना, 'शोषितों की रक्षा के लिए कविता का प्रयोग अस्त्र के रूप मे करना और उसे सर्वथा वर्तमान अर्थनीति की ही उपज मान लेना', कुछ ऐसी सीमाएँ है जिनमे बँधकर कोई भी कवि बराबर नही चल सकता। इन निश्चित नियमों को लक्ष्य में रखकर काव्य-सृजन करने का परिणाम यह हुआ कि इनकी भी एक रूढ़ि बन गयी। काव्य-सीमा के अन्तर्गत कुछ थोड़े से विषय आ सके। पूँजीवाद का विरोध, रूस और चीन की प्रशसा, विश्व-शान्ति का समर्थन, सर्वहारावर्ग का सहानुभूतिमय चित्रण, कांग्रेस सरकार और नेताओं पर व्यंग्य और आशामय भविष्य का स्वप्न, इन थोड़े से गिने-चुने विषयों मे ही सारी जिन्दगी को सीमित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सामाजिक दायित्व को महत्त्व देनेवाले और काव्य को बहुजनहिताय माननेवाले कुछ सशक्त कवि भी बराबर प्रगतिवादी नही रह सके। अभिव्यक्ति को अत्यधिक स्पष्ट बनाने के प्रयत्न मे प्रगतिवादी काव्य-शैली भी नीरस और शुष्क हो गयी। इस काव्यधारा ने सबसे बड़ा कार्य छायावादी कुहासे को दूर करने का किया। कुछ नये प्रतीक और उपमान भी सामने आये। व्यंग्य काव्य-रचना मे थोड़ी गति आयी। सौन्दर्य की नयी दृष्टि उपलब्ध हुयी। इस धारा के कवियों ने अपनी संकीर्णता स्वीकार की है और धीरे-धीरे अपनी काव्य-भूमि विस्तृत करने लगे हैं, जहाँ कहीं इन कवियों ने लोकजीवन की भावना को सच्चे लोक-गीतों के स्वर मे ग्रहण किया है, इनकी वाणी जीवन के सहज सौन्दर्य से ओत-प्रोत हो उठी है।

उदार मानवतावाद को अपनाकर अलग हो जाने वाली काव्य को 'प्रयोगवादी' काव्य की संज्ञा प्राप्त हुई। 'प्रयोगवाद' की प्रतिष्ठा 'प्रतीक' के प्रकाशन-काल से हुई। 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन से इसे बल मिला और इधर 'अज्ञेय' की ही प्रेरणा से इस काव्यधारा को 'नयी कविता' कहा जाने लगा है। 'नयी कविता' के कुछ अंक भी डॉ॰ जगदीश गुप्त के सम्पादन में प्रकाशित हुए हे। गत वर्ष इसका प्रतिनिधित्व करने वाला 'तीसरा सप्तक' भी सामने आया है। इस प्रयोगवादी या 'नयी कविता' पर कुछ आरोप लगाये गये है और स्वय प्रयोगवादी कवियो ने ही उनका उत्तर भी दिया है। इन आरोपो और उत्तरों के अध्ययन से इस काव्य-धारा की बहुत-सी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती है। बहुत बड़ा आक्षेप यह है कि इसमे कुण्ठा, निराशा, अवसाद, भावो के सकुलित उलझाव और अचेतन-उपचेतन मन की अर्द्धव्यक्त दमित प्रवृत्तियों एवं बौद्धिक चिन्ताओ की ही अभिव्यक्ति होती है। इसका धरातल वैयक्तिक है और कवि सामाजिक दायित्व के प्रति उदासीन है। इसमे रसनिष्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव और सम्प्रेषणीयता की कमी है। इसकी मूल चेतना, आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित मध्यवर्गीय कवि का अपने ही परिवेश के प्रति वैयक्तिक असन्तोष है। परिस्थिति के भीतर ही अपने लिए एक सन्तोष-जनक स्थिति गढने की चेष्टा एक प्रकार का समझौता है जो पराजय और पलायन का ही एक रूप है। इस काव्य-चेतना की मूल प्रेरणा भारतीय सामाजिक परिस्थितियो से उद्भूत न होकर अग्रेजी के प्रसिद्ध कवियो—इलियट, पाउण्ड आदि के अनुकरण का परिणाम है। इस धारा का कवि अनुभूति और चेतना से अधिक महत्व अभिव्यक्ति के स्वरूप या रूप-विधान को देता है। प्रयोगवादी कवि इन आरोपों का उत्तर देते हुए कहते है कि हमारा दृष्टिकोण अग्रेजी कवियो से भिन्न है। अंग्रेजी कवि 'आस्था' के प्रति विद्रोही थे, हम 'जड़ आस्था' के प्रति विद्रोही हैं। हम नयी आस्था और नयी मर्यादा मे विश्वास करते हैं। आज की विशृङ्खलता, विषमता, कुण्ठा आदि परिस्थितिजन्य है। हम सामाजिक दायित्व के प्रति उदासीन नहीं हैं। कवि सामाजिक परिस्थितियों का अनुवाद नहीं प्रस्तुत करता वरन् इन

परिस्थितियो की सवेदना व्यक्तित्व के माध्यम से उभर आती है। रह गयी रूप-विधान की बात, तो उस पर सभी कवियो ने अधिक बल नही दिया है, वैसे जब कभी नयी अनुभूति या नया जीवन-सत्य अपने लिए अभिव्यक्ति का माध्यम ढूंढता है तो रूप-विधान मे परिवर्तन हो ही जाता है।

इसमे सन्देह नही कि प्रयोगवादी कवियों पर लगाये जाने वाले सभी आरोप सभी कवियो पर लागू नहीं होते, फिर भी यह तो प्रकट ही है कि यह काव्यधारा अभी अपना प्रकृत पथ स्पष्ट नहीं कर सकी है। छायावादी रगीनी, काल्पनिकता, अस्पष्टता और प्रगतिवादी शुष्कता एवं विषय-संकीर्णता के बीच मे काव्य का एक नवीन स्पष्ट पथ प्रशस्त कर लेना आसान नहीं है। अनुभूति को बिना किसी लपेट के मर्मस्पर्शिनी बनाकर चित्रित करना, वर्ण और तुक-मैत्री मे कम दुरूह नहीं है। यह भी प्रश्न उठता है कि आखिर इस नयी कविता का जीवन-दर्शन क्या है? प्रत्येक दर्शन 'सत्य' की उपलब्धि करता है। परन्तु किसी भी युग-जीवन का सत्य चिरसत्य नही बन पाता। इसलिए प्रयोगवादी कवि चिर सत्यान्वेषी है। 'होने' की अनुभुति या अस्तित्व की चेतना ही सबसे बडा सत्य है। इस अनुभूति को हम क्षण-विशेष में ही ग्रहण करते है। इसलिए क्षणविशेष की सघन अनुभूति ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। अखण्ड काल प्रवाह की पूर्णता क्षणों में ही अनुभूत होती है। इसलिए प्रयोगवादी कवि—

'होने के सत्य का
सत्य के साक्षात् का
साक्षात् के क्षण का
क्षण के अखण्ड पारावार का, आचमन करता है।'

'अस्तित्व की चेतनता' जागृत होने पर नये कवि ने अनुभव किया कि 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' का अपहरण प्रगतिवादियो की अति सामाजिकता और पूंजीवादियों की स्वार्थमूलक प्रतिक्रियावादी वैयक्तिकता दोनो से ही हुआ है। इसलिए अब नयी कविता 'व्यक्ति के पूर्ण स्वातन्त्र्य' की मर्यादा स्थापित करने मे अपनी गति की सार्थकता मानती है। उसे 'स्वतन्त्र इकाई,' साँचे ढले समाज से' अच्छी लगती है। (अरी ओ करुणा प्रभामय,

अज्ञेय, पहली कविता) व्यक्ति की स्वतन्त्रता से बड़ा कोई मूल्य
और यदि है तो वह आरोपित है, सहज नहीं। नयी कविता सभी
पित मूल्यों को झूठा मानकर उसकी तुलना में 'अन्तर्दृष्टि से प्राप्त अनुभव
की भट्टी मे तपे हुए कण दो कण' को श्रेयस्कर समझती है।

प्रयोगवादी (नयी कविता) काव्यधारा के अन्तर्गत 'अज्ञेय,' गिरिजा-कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि कवि प्रसिद्ध हैं। इधर राष्ट्रीय-भावनाओं के सफल गायक एवं जनतान्त्रिक धारा के प्रतिनिधि कवि 'दिनकर' ने भी 'नीलकुसुम' में अपने को प्रयोगवाद का पिछलगुआ कवि कहा है। अपने अभिनव काव्य-संग्रह 'चक्रवाल' की भूमिका में भी अपना विचार प्रकट करते हुए आपने कहा है—'प्रयोगवाद हिन्दी कविता को जिस ओर जाने का संकेत दे रहा है, वह काव्यमात्र की सबसे श्रेष्ठ दिशा है।' 'प्रयोगवाद' (नयी कविता) काव्य की श्रेष्ठ दिशा हो या न हो, आज वह अनेक तरुण कवियों को अनायास आकर्षित करने वाली दिशा अवश्य है। अब तो 'पन्त' जी ने भी 'कला और बूढ़ा चाँद' में न केवल नयी कविता के रूप-विधान को स्वीकार कर लिया है वरन् उसके अन्तर्राष्ट्रीय स्वर का समर्थन करते हुए 'विश्व मानव' की प्रतिष्ठा भी की है। 'पन्त' जी का यह नूतन परिवर्तन नये कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत का कार्य करेगा।

'प्रगतिवादी' और 'प्रयोगवादी' काव्यधाराओं में बहुत दूर तक सैद्धान्तिक साम्य भी है। प्राचीन जर्जर संस्कारों एवं रूढ़ियों का विरोध दोनो करते हैं। दोनो ही कल्पनालोक के कुहासे से उतर कर जीवन के यथार्थ धरातल पर रहना चाहते है। प्राचीन रसवाद को काव्य का चरम उद्देश्य दोनों ही नहीं मानते। दोनो ही काव्य के अन्तर्गत विचारतत्व की महत्ता पर बल देते है। अभिव्यक्ति की स्पष्टता भी दोनों ही का लक्ष्य है। दोनो में अन्तर केवल यह है कि प्रगतिवादी मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में आधुनिक समस्याओं का समाधान प्राप्त कर लेता है, जब कि प्रयोगवादी किसी भी सत्य की चिर स्थिति को अस्वीकार करके सतत सत्यान्वेषण को ही अपना

लक्ष्य मान कर चलता है। प्रगतिवादी की सहानुभूति सर्वहारावर्ग से अधिक है, प्रयोगवादी मध्यमवर्ग की समस्याओं को अधिक महत्व देता है। इस समता के कारण ही बहुत दिनों तक दोनों काव्यधाराओं का स्पष्ट अन्तर समझ में नहीं आया था और आज भी अनेक कवि उभयनिष्ठ हैं।

प्रयोगवाद के वर्तमान स्वरूप को देखते हुए भय लगता है कि कहीं छायावादी कुहासे की अस्पष्टता के स्थान पर अतिशय वैयक्तिकता, बौद्धिक सूक्ष्मता और अनुभूति-वैविध्य की अभिव्यक्ति के प्रयत्न में आयी हुई प्रयोग-विचित्रता के कारण इसमें भी रेखा-संकेतों और बिम्बों की अस्पष्टता न आ जाय। यदि ऐसा हुआ तो फिर प्रतिक्रिया अनिवार्य हो जायगी। लगता है, भविष्य में अति सामाजिकता और अति वैयक्तिकता के बीच में मार्ग बनाती हुई नवीन काव्यधारा जीवन के सहज पथ पर प्रशस्त होगी, जिसमें न तो पूर्वनिश्चित मार्क्सवादी सत्य के प्रति आग्रह होगा और न सत्य के सतत अन्वेषण के आधार पर काव्यरूप के सतत परिवर्तन का दुराग्रह। आज तरुण कवियों का एक ऐसा वर्ग भी है जो मार्क्सवाद में बहुत दूर तक विश्वास करता है, किन्तु उसके सभी व्यावहारिक कार्यों से सहमत नहीं है। दूसरी ओर यह वर्ग प्रयोगवादियों के अवचेतन मन से उद्भूत उलझी हुई संवेदनाओं की कुण्ठित अभिव्यक्ति को भी काव्य के लिए अवाञ्छित और अस्वास्थ्यकर मानता है। यह वर्ग मनुष्य-सत्य पर विश्वास करता है और जनता को इसका मूल अधिष्ठान मानता है। वैयक्तिक अनुभूतियों और संवेदनाओं को ये लोग जन-विरोधी नहीं मानते बशर्ते कि ये अनुभूतियाँ जनता के बीच में रहकर उसके सुख-दुःखों की संवेदना से सम्बन्धित होकर व्यक्ति की सहज अनुभूति बन गयी हों। अभिव्यक्ति की स्पष्टता को भी ये लोग काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं।

इस प्रकार सम्प्रति हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत प्रगतिवादी, प्रयोगवादी (नयी कविता) और जनतान्त्रिक ये तीन काव्य-धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। गीतिकाव्य परम्परा भी अभी जीवित है। विशेषतः सभी प्रकार की कुण्ठाओं से मुक्त लोकगीतों की सरसता ने इधर अनेक जनपदीय कवियों को प्रकाश में ला दिया है। पन्तजी आज भी हिन्दी-काव्य की एक अन्यतम

विरल विशिष्ट धारा के एकमात्र प्रतिनिधि है। श्री अरविन्द के दिव्य भागवत जीवन की ऊर्ध्व मान्यताओं को काव्य में अवतरित करने का उनका प्रयास स्तुत्य है। पता नहीं भारत की अन्य भाषाओं के काव्य में इस दर्शन का कोई प्रभाव पड़ा है या नहीं ?

हिन्दी-काव्य के भविष्य के विषय में अभी से कुछ घोषित करना उचित नहीं जान पड़ता। वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रयोगों ने आज विश्व-मानव को एक-दूसरे के पर्याप्त निकट ला दिया है। आज राष्ट्र-विशेष में उठने वाला काव्य-आन्दोलन अन्य राष्ट्रों की काव्य-चेतना को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। हिन्दी कवि का मन भी अब अन्तर्राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित होने लगा है। साहित्य के सभी क्षेत्रों में मध्यवर्गीय चेतना उभरने लगी है। ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में हिन्दी-काव्य-धारा इन नवीन चेतनाओं की अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट, सांकेतिक, रमणीय, चित्रण-प्रधान किन्तु सूक्ष्म काव्य-रूप का माध्यम प्राप्त कर लेगी। यह विचार-प्रधान भले ही हो, किन्तु पाठक के मन को सहसा टोक कर क्षणभर को रुकने और सोचने के लिए बाध्य कर देगी। आज ऐसे अनेक तरुण कवि हैं जिनकी काव्य-शक्ति आशामय भविष्य की ओर संकेत कर रही है।

●

आधुनिक काव्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

श्रीमती शांता सिंह

मनोविज्ञान के प्रकाश मे साहित्य की आलोचना के विषय मे अभी भी थोड़ी भ्रान्ति और थोड़ा पूर्वाग्रह बना हुआ है। मनोविज्ञान को सामान्यतया मनोविश्लेषण और उसके कुछ विशिष्ट सिद्धान्तो तक ही सीमित समझ लिया जाता है। कुछ लोगों में यह पूर्वाग्रह इतना प्रबल है कि इस सदर्भ मे कुछ स्वीकार ही नही कर सकते। वास्तव मे निरावृत होकर अनेक वस्तुए अपनी मोहकता और सुषमा खो देती है। मानव भी अपने निरावृत मन को इसी लिए देखने मे सकुचता है—हिचकता है। लेकिन, इसीलिए क्या सत्य को अस्वीकार किया जा सकता है ?

गद्य लेखक के मस्तिष्क की प्रक्रिया का वाहक है और पद्य उसकी संवेदना का। व्यक्ति की संवेदना को समाज तक इस रूप मे पहुँचाना कि उसका ग्रहण तद्वत हो सके—उसका 'साधारणीकरण' हो सके, यह सदा ही साहित्य का लक्ष्य रहा है। समाज और व्यक्ति इन दो सीमाओं के बीच साहित्य कभी व्यष्टि और कभी समष्टि की ओर विशेष प्रवृत्त होता रहा है। आधुनिक युग व्यक्ति की प्रधानता का युग है। विज्ञान के अस्तित्ववाद, विकासवाद आदि द्वारा व्यक्ति की अपराजेयता और दुर्दमनीयता के प्रमाणित होने के साथ मनोविज्ञान के अध्ययन और प्रचार ने इस स्थापना मे विशेष योग दिया कि समाज मनुष्य के लिए है, मनुष्य समाज के लिए नही। मनोविज्ञान की इस देन के फलस्वरूप व्यक्ति मानव अपने अधिकार, अपने

प्राप्य, अपने महत्व और प्रतिष्ठा के लिए और भी सजग तथा सचेष्ट हो गया।

आधुनिक युग के पहले भी कवियों में व्यक्ति परकता के लक्षण दृष्टि गोचर होते है, लेकिन वह उतना निरावृत नही होता था। भक्त कवियों के विनय के पदो और घनानंद जैसे कुछ कवियों के काव्य को छोड़ दें तो आत्मानुभूति को हिन्दी साहित्य में कहा मुखरित किया गया ? कदाचित् इसलिए कि परम्परा, विशेष कर भारतीय परम्परा, व्यक्ति को समाज से अधिक महत्व नहीं देती। अतएव आधुनिक युग मे ही सबसे पहले कवि ने सीधे-स्पष्ट और खुले रूप मे 'अपनी बात' कहनी शुरू की।

शायद आज के कवि की व्यक्तिपरकता का यह कारण हो कि वह पुराने कवियो की अपेक्षा अधिक संवेदनशील हो, यह बात नहीं। थोडा विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि जो भावनाएँ आज के काव्य की प्रेरक शक्तियाँ है, वे उसी रूप मे पहिले भी काम करती रही हैं। एकाध प्रवृत्तियो को लेकर देखने से ही बात स्पष्ट हो जाएगी। काम-भावना यदि मानव की सर्व प्रमुख भावना न मानी जाय तो कम से कम प्रमुख भावनाओं मे से एक है, यह तो निर्विवाद है। चाहे भक्ति का जैसा भी भारी आवरण चढ़ाने का प्रयास किया गया हो, लेकिन जयदेव विद्यापति, सूर और इनकी परम्परा में आने वाले सभी कवियों का समस्त सृजन 'काम' की ही अभिव्यक्ति है, इसमे दो मत नही हो सकते। तुलसी के लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने उसके उन्नयन की चेष्टा की थी और इसमें सन्देह नही कि वह विकट चेष्टा 'कृपाण धारा' से कम प्रखर और दुखसाध्य नहीं थी। लेकिन तुलसी इसमे सफल हुए थे। वे स्त्री-रति को ईश्वरीय रति की ओर सम्पूर्ण सफलता से उन्मुख कर सके थे—औरो मे तो इस प्रकार के प्रयास का आभास भी नहीं मिलता है। 'रामचरित मानस' के अन्त मे तुलसी जीवन के स्वानुभूत सत्य के रूप मे काम-भाव की दुर्दमनीय प्रबलता को प्रमाणित करते है —

"कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"

आज का मानव चूंकि अधिक आत्म-प्रबुद्ध है, इसलिए उसके काव्य में उसकी सभी प्रकार की संवेदनाओं की उभरी हुई स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है। मनोविज्ञान के विभिन्न विशिष्ट विद्वानों ने काम, प्रभुत्व भावना, और जीवनेच्छा को अलग-अलग जीवन की प्रमुख वृत्तियाँ कहा है। यहाँ यह विवाद नहीं है कि उनमें से किसका मत अधिक समीचीन है, किसका नहीं। यहाँ इन सभी को स्वीकार करके चलने में भी कोई असुविधा नहीं है। छायवादी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण के प्रति विशेष आग्रह का भाव दिखाई पड़ता है। प्रेम के प्रधानतः दो रूप हैं—ज्ञात या लौकिक प्रियतम के प्रति और अज्ञात या अलौकिक प्रिय के प्रति। उसी प्रकार सौन्दर्य दर्शन भी दो क्षेत्रों का है। नारी सौन्दर्य और शेष मानवेतर सृष्टि प्रधानतया प्रकृति सौन्दर्य का वर्णन। इन सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों का उत्स एक ही है। अज्ञात प्रिय के प्रति प्रेषित गीतों के पीछे, नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य-चित्रण, जिसके द्वारा उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य की प्रधानता से युक्त अमांसल चित्रण के पीछे, उसके (नारी के) प्रति व्यक्त किए गये विस्मय और कौतूहल के भाव के पीछे—सर्वत्र काम भावना की ही प्रेरणा है। यह अवश्य स्वीकार किया जायगा कि छायावादी कवियों ने इस विषय में जिस सुरुचि, संस्कार, परिष्कार और संयम का परिचय दिया वह अद्वितीय है। इस सम्बन्ध में रीतिकाल की असफलता प्रमाणित है और आगे चल कर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियों से भी इस सुरुचि और संयम की सुरक्षा न हो सकी। छायावादी कवियों के प्रकृति प्रेम का भी इसी प्रसंग में विवेचन होना चाहिए। प्रकृति के विविध उपादानों को इन कवियों ने बड़े सूक्ष्म कौशल से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधना बनाया है। उनका वह कौशल प्रशंसनीय है। इनमें भी प्रसाद का नारी रूप और प्रेम के प्रति जैसा तीव्र आग्रह रहा है, वैसी ही संयमित उनकी अभिव्यक्ति है। एक ही प्रसंग का रीतिकालीन या प्रगतिवादी काव्य से उदाहरण लेकर प्रसाद के काव्य से तुलना करके देखने से अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। 'कामायनी' के विभिन्न-प्रेम प्रसंगों का जैसा अभिव्यंजक और संयमित वर्णन प्रसाद ने किया है, वैसा हिन्दी साहित्य

मे अन्यत्र दुर्लभ है। प्रश्न यह नही है कि कथ्य क्या है, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार प्रेरणा तो सर्वत्र वही है, प्रश्न तो यह है कि उस कथ्य का कथन कैसे किया गया है। कुछ प्रमुख कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियो मे अधिकांशतः विकृत और कुंठित शृंगार भावना की ही अभिव्यक्ति मिलती है, क्योंकि समाज मे भी मानसिक स्वास्थ्य की अपेक्षा 'न्यूरॉटिक्स' की ही संख्या अधिक है।

आधुनिक युग का सामान्य व्यक्ति भी परम्परा के मूल्यों को ठुकरा कर अपने अहं का पोषण करने वाला हो गया है। युग की परिस्थितियाँ भी इस भावना की पोषक रही है। एक ओर सारा ज्ञान-विज्ञान है, जो मानव के महत्त्व को प्रतिपादित करता जा रहा है, दूसरी ओर समाज व्यक्ति को अपने से बढ़कर महत्ता देने के लिए प्रस्तुत नही है। ऐसी विषम स्थिति मे पड़े कवि का पीड़ित और उपेक्षित 'अहं' उसके काव्य का प्रमुख स्वर होता जा रहा है। 'राम की शक्ति पूजा' मे अंकित राम का अपराजेय पौरुष कवि के अहं की छाया के अतिरिक्त और क्या है? इस प्रसंग मे कदाचित् सबसे तीव्र और अदम्य अहम् है अज्ञेय का। अज्ञेय के काव्य मे स्वरति और अहम् का जैसा तीखा स्वर है, वैसा कदाचित् हिन्दी के अन्य किसी कवि में नही है। कहीं-कहीं अहं का वह तीव्र रूप भी दिखाई पड़ता है, जहाँ वह अनास्था और निराशा तक कवि को ले जाता-सा प्रतीत होता है, फिर भी कवि ने उसका औचित्य ही सिद्ध किया है।

स्वरति तो मानव मन की सबसे पुरानी और प्रबल प्रवृत्ति है, इस रूप मे कि वह सद्यः जन्मे बालक की पहली वृत्ति है। स्वस्थ रूप मे इस स्वरति को धीरे-धीरे विकसित होकर पररति का रूप ले लेना चाहिए लेकिन समाज मे कितने व्यक्तियो का इतना क्रमागत और स्वस्थ मानसिक विकास होता है। महान् कवियो को छोड़कर सामान्य कवि इस अनुचित स्वरति की भावना से ग्रस्त दिखाई देता है। यों समस्त आत्म सुख-दुख की भावनाओं का अंकन ही इसका प्रमाण है। परिष्कार, उन्नयन और संस्कार से यह स्वरति ही पररति का रूप लेती जाती है, जो सामाजिकता का अनिवार्य लक्षण है। इस युग की देश-प्रेम और उससे भी आगे बढ़कर विश्वप्रेम की कविताएँ

इसी प्रेरणा की परिणति है देश प्रेम और भारत के गौरव-गान के जितने सुन्दर गीत इस युग मे लिखे गये उतने शायद और कभी नहीं।

सम्पूर्ण साहित्य रचना की चेष्टा ही जीवनेच्छा का परिणाम है। मनु के द्वारा—

"मैं हूं यह वरदान सदृश क्यों लगा गूंजने कानो मे।
मैं भी कहने लगा मै रहूं शाश्वत नभ के गानो मे॥"

इसी वैज्ञानिक सत्य का उद्घोष कराया जा रहा है। काव्य रचना द्वारा क्षण-प्रतिक्षण की अनुभूतियो को भाषाबद्ध करके अमरता की आराधना ही आत्म विज्ञापन और आत्म स्थापन का प्रयास है।

उपर्युक्त विवेचन छायावादी काव्य के मुक्तको के विषय मे किया गया है। प्रबंध-काव्यो के माध्यम से भी कवि के मन मे होने वाला आन्दोलन ही व्यक्त किया गया है—वह भी कवि के मानसिक संघर्ष का प्रतिफलन है। 'कामायनी' मे मनु के द्वारा मानो उसके स्रष्टा ने अपने ही अन्तर मे होने वाले बुद्धि और हृदय के संघर्ष को चित्रित किया है, जो आधुनिक युग का सबसे बड़ा अभिशाप है। आज के पीड़ित निराश और आस्थाहीन मानव के मन का श्रद्धा-विश्वास का सम्बल छूट चुका है—नये युग ने पुरानी मान्यताएं भग तो कर दी पर नयी मान्यता का सृजन नहीं कर सका। विज्ञान ने तो मानव को न तो इतना दुर्बल ही रहने दिया है कि वह किसी दूसरी शक्ति (ईश्वर) की महत्ता स्वीकार कर ले, न इतना सबल बनाया कि उसे किसी की अवलम्ब की आवश्यकता ही न रह जाय। एक ओर युगो के आस्तिक संस्कार है, तो दूसरी ओर आधुनिक विज्ञानवाद की बौद्धिकता। इन दोनो के बीच मानव की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। मनु को फिर भी थोड़े से कटु-अनुभवो के उपरान्त ही अपना उचित मार्ग मिल जाता है, लेकिन आज का मानव भी क्या उतनी ही सरलता से अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है?

छायावाद की अपेक्षा प्रगतिवाद में व्यक्तिपरकता तो कम हुई। वे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का नारा लेकर चले, लेकिन मनोवैज्ञानिकता की ओर उनका झुकाव बढ़ता गया। अर्थात् उस समय तक कवियो

ने काव्य के माध्यम से मानव मन की संवेदनाओं की और भी अकुंठ अभिव्यक्ति करनी आरम्भ कर दी। यद्यपि वे वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता को प्रमुखता देते हैं, लेकिन उनके काव्य में उनकी दमित वासनाएँ, कुंठाएँ उनका हीनभाव और अहं, आदि सभी कुछ अधिक मुखर और स्पष्ट है। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि मानसिक स्वास्थ्य का भी अपेक्षाकृत अधिक अभाव हो गया है। दिनकर जैसे एकाध कवियों को छोड़कर अधिकतर कवि अतिरेक और असंयम की प्रेरणा का ही परिचय देते हैं।

प्रयोगवाद या नयी कविता के नाम से प्रचलित काव्य-युग व्यक्तिपरकता को उस सीमा तक खींच ले जाता है, जहाँ जाकर वह 'समस्या' बन जाती है। स्वयं अज्ञेय के शब्दों मे "व्यक्ति के अनुभूत को समष्टि तक उसकी सम्पूर्णता मे पहुँचाना ही वह पहली समस्या है जो प्रयोगवाद को ललकारती है।" काव्य तो सदा ही व्यक्ति की सृष्टि रहा है, जिसे समष्टि तक पहुँचाना और सम्पूर्णता मे पहुँचाना ही उसकी सार्थकता थी, जिसे एक शब्द मे साधारणीकरण कहा गया था। लेकिन भारतीय परम्परा वैयक्तिक अनुभूति को सामाजिकता के माध्यम से ही स्वीकार करती रही है। प्रयोगवाद ने अपने 'अहं' प्रधान व्यक्तित्व की ऐसी व्यंजना की है जिसका साधारणीकरण सचमुच 'समस्या' बन जाता है अर्थात् या तो सिद्ध ही नही होता या होता भी है तो टूटा-टूटा और अधूरा। आज के मानव के टूटे व्यक्तित्व के निर्माता तत्व निराशा और अनास्था इस काल के प्रमुख स्वर हैं। मध्यवर्ग के मनोविज्ञान की इतनी सीधी अभिव्यक्ति कदाचित् और किसी युग मे नही हुई होगी। जीवन के विराट सतत् प्रवाह मे एक क्षण अपनी लघुता मे भी महत्वपूर्ण है, इसे सबसे पहले प्रयोगवादियो ने ही कहा। इस क्षणवाद के कारण कहीं-कही तो ऐसी-ऐसी अत्यंत उलझी हुई मन-स्थितियो के रूप मिलते हैं, जिन्हें किसी एक वर्ग के अन्दर समेटना भी कठिन हो जाएगा।

मनोविज्ञान मे अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति होने के कारण तथ्यों का विचार ही प्रमुख है। इसके अन्तर्गत वास्तविकता विचारणीय है। क्या

इसी प्रेरणा की परिणति है। देश प्रेम और भारत के गौरव-गान के जितने सुन्दर गीत इस युग में लिखे गये उतने शायद और कभी नहीं।

सम्पूर्ण साहित्य रचना की चेष्टा ही जीवनेच्छा का परिणाम है। मनु के द्वारा—

"मैं हूं यह वरदान सदृश क्यों लगा गूंजने कानों में।
मै भी कहने लगा मै रहूं शाश्वत नभ के गानों मे॥"

इसी वैज्ञानिक सत्य का उद्घोष कराया जा रहा है। काव्य रचना द्वारा क्षण-प्रतिक्षण की अनुभूतियों को भाषाबद्ध करके अमरता की आकांक्षा ही आत्म विज्ञापन और आत्म स्थापन का प्रयास है।

उपर्युक्त विवेचन छायावादी काव्य के मुक्तकों के विषय मे किया गया है। प्रबंध-काव्यों के माध्यम से भी कवि के मन में होने वाला आन्दोलन ही व्यक्त किया गया है,—वह भी कवि के मानसिक संघर्ष का प्रतिफलन है। 'कामायनी' मे मनु के द्वारा मानो उसके स्रष्टा ने अपने ही अन्तर मे होने वाले बुद्धि और हृदय के संघर्ष को चित्रित किया है, जो आधुनिक युग का सबसे बड़ा अभिशाप है। आज के पीड़ित निराश और आस्थाहीन मानव के मन का श्रद्धा-विश्वास का सम्बल छूट चुका है—नये युग ने पुरानी मान्यताएं भंग तो कर दी पर नयी मान्यता का सृजन नहीं कर सका। विज्ञान ने तो मानव को न तो इतना दुर्बल ही रहने दिया है कि वह किसी दूसरी शक्ति (ईश्वर) की महत्ता स्वीकार कर ले, न इतना सबल बनाया कि उसे किसी को अवलम्ब की आवश्यकता ही न रह जाय। एक ओर युगों के आस्तिक संस्कार हैं, तो दूसरी ओर आधुनिक विज्ञानवाद की बौद्धिकता। इन दोनों के बीच मानव की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। मनु को फिर भी थोड़े से कटु-अनुभवों के उपरान्त ही अपना उचित मार्ग मिल जाता है, लेकिन आज का मानव भी क्या उतनी ही सरलता से अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है?

छायावाद की अपेक्षा प्रगतिवाद में व्यक्तिपरकता तो कम हुई। वे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का नारा लेकर चले, लेकिन मनोवैज्ञानिकता की ओर उनका झुकाव बढ़ता गया। अर्थात् उस समय तक कवियों

ने काव्य के माध्यम से मानव मन की संवेदनाओं की ओर भी अकुंठ अभि-व्यक्ति करनी आरम्भ कर दी। यद्यपि वे वैयक्तिकता की अपेक्षा सामा-जिकता को प्रमुखता देते है, लेकिन उनके काव्य में उनकी दमित वासनाएँ, कुंठाएं उनका हीनभाव और अहं, आदि सभी कुछ अधिक मुखर और स्पष्ट है। साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि मानसिक स्वास्थ्य का भी अपेक्षाकृत अधिक अभाव हो गया है। दिनकर जैसे एकाध कवियों को छोड़कर अधिकतर कवि अतिरेक और असंयम की प्रेरणा का ही परिचय देते है।

प्रयोगवाद या नयी कविता के नाम से प्रचलित काव्य-युग व्यक्ति-परकता को उस सीमा तक खीच ले जाता है, जहाँ जाकर वह 'समस्या' बन जाती है। स्वयं अज्ञेय के शब्दों मे "व्यक्ति के अनुभूत को समष्टि तक उसकी सम्पूर्णता मे पहुँचाना ही वह पहली समस्या है जो प्रयोगवाद को ललकारती है।" काव्य तो सदा ही व्यक्ति की सृष्टि रहा है, जिसे समष्टि तक पहुँचाना और सम्पूर्णता मे पहुँचाना ही उसकी सार्थकता थी, जिसे एक शब्द मे साधारणीकरण कहा गया था। लेकिन भारतीय परम्परा वैयक्तिक अनुभूति को सामाजिकता के माध्यम से ही स्वीकार करती रही है। प्रयोग-वाद ने अपने 'अहं प्रधान व्यक्तित्व की ऐसी व्यंजना की है जिसका साधारणीकरण सचमुच 'समस्या' बन जाता है अर्थात् या तो सिद्ध ही नही होता या होता भी है तो टूटा-टूटा और अधूरा। आज के मानव के टूटे व्यक्तित्व के निर्माता तत्व निराशा और अनास्था इस काल के प्रमुख स्वर हैं। मध्यवर्ग के मनोविज्ञान की इतनी सीधी अभिव्यक्ति कदाचित् और किसी युग मे नहीं हुई होगी। जीवन के विराट सतत् प्रवाह मे एक क्षण अपनी लघुता मे भी महत्वपूर्ण है, इसे सबसे पहले प्रयोगवादियों ने ही कहा। इस क्षणवाद के कारण कही-कही तो ऐसी-ऐसी अत्यंत उलझी हुई मन-स्थितियो के रूप मिलते है, जिन्हे किसी एक वर्ग के अन्दर समेटना भी कठिन हो जाएगा।

मनोविज्ञान मे अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति होने के कारण तथ्यों का विचार ही प्रमुख है। इसके अन्तर्गत वास्तविकता विचारणीय है। क्या

श्रेयस्कर होगा, यह दूसरा प्रश्न है। पर इस संदर्भ को साहित्य विवेच्य विषय है, जिसका एक सामाजिक प्रभाव भी पड़ता है, इसलिए उसके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली भावनाओं का विचार उस दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। आज के इस वैज्ञानिकता के युग में साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन का रूप अत्यन्त उपयोगी होगा, ऐसा निस्संदेह कहा जा सकता है। साथ ही कवि ने जो विविध रूप रंगमयी, मधुर, मोहक सौन्दर्य-सृष्टि की है, वह उसके अगाध मानस में लगने वाले किस आघात से उद्वेलित हो कर अभिव्यक्त हुई थी, यह अध्ययन और विश्लेषण अत्यन्त रोचक कार्य होगा।

भारतेन्दु युगीन काव्य

डॉ० किशोरी लाल गुप्त

भारतेन्दु युग मे दो विभिन्न काव्य धारायें स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। एक तो पुरानी काव्य धारा जो परंपरा-युक्त है, दूसरी नवीन काव्यधारा जो परम्परा-मुक्त है और जिसके प्रारम्भ का श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी को है। पुरानी काव्यधारा का काल है, १८५० ई० से १६०० ई० तक और नवीन काव्यधारा का काल १८७० ई० से १९०० ई० तक।

प्राचीन काव्यधारा

भारतेन्दु ने निःसंदेह ब्रजभाषा काव्य मे नवयुग का प्रवर्तन किया, पर भारतेन्दु युगीन काव्य अपनी प्राचीन काव्य-परम्परा मे पूर्णरूपेण विच्छिन्न नहीं हो सकता था। भारतेन्दु के उदय के पहले हिन्दी साहित्य के तीन युग, वीरगाथा-काल, भक्तिकाल, रीतिकाल बीत चुके थे। इनका प्रभाव तत्कालीन काव्य पर न्यूनाधिक रूप मे बना रहना असंगत नहीं था।

अ—प्रशस्ति काव्य

जहाँ तक वीरगाथा प्रणाली का संबंध है, इस युग मे वैसा काव्य दुर्लभ है, क्योंकि यह युग शान्ति का था, राजा लोग न तो परस्पर लड़ते थे और न कोई बाह्य आक्रमण हुआ। अंग्रेजी-सत्ता यहाँ जम गयी थी। इस

युग के प्रारम्भ मे ही जब भारतेन्दु केवल ७ वर्ष के थे, १८५७ ई० में प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य समर हुआ पर वह बुरी तरह से दबा दिया गया और साहित्य में इसका उल्लेख भी बहुत कम किया गया। इस प्रसंग को लेकर अनेक वीर गाथाएँ लिखी जा सकती थी, पर अंग्रेजो का आतंक कुछ इतना प्रबल रूप से छाया हुआ था कि कोई भी मध्य वर्गीय साहित्यिक कवि चूँ न करता था। स्वयं भारतेन्दु ने इस प्रसग मे कहा है:—

कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी

अन्य कवियो ने तो विद्रोह करने वालों को दुष्ट, मूढ़ एवं कुटिल ही कहा है:—

१—'दुष्ट' समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हों
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निर्बल कीन्हो
प्रताप नारायण मिश्र (ब्रेडला स्वागत, १८८६ ई०)

२—देसी 'मूढ़' सिपाह कछुक ले 'कुटिल' प्रजा संग
कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढँग
प्रेमघन (हार्दिक हर्षादर्श, १९०० ई०)

हाँ, असाहित्यिक समझे जाने वाले जन-कवियों ने अवश्य अपने यहाँ के विद्रोहियों का गुणगान किया। छोटे-छोटे रजवाडे जहाँ-जहाँ अब भी थे, उनके दरबार मे कवि लोग रहा करते थे, और उनका गुणगान भी कभी-कभी कर दिया करते थे। पर यह गुणानुवाद वीर गाथा काल का प्रभाव नही माना जा सकता, यह रीतिकाल का ही प्रभावावशेष है। कवि जिसका खाता था, उसका गाता भी था। इस प्रशस्ति काव्य का कोई महत्व नही, क्योंकि इसमे न तो कोई ऐतिहासिकता थी और न कोई विशेष साहित्यिक सौंदर्य ही इसमे विकसित हो सका था।

इस प्रकार की प्रशस्ति रचना करने वाले कतिपय कवि हैं:—

१—बूँदी के महाराज रामसिंह के यहाँ रहने वाले कवि-राज गुलाब सिंह, गुलाब (१८३०-१९०१)।

२,३—द्विजदेव जी के अयोध्या दरबार में रहने वाले लछिराम, तथा पंडित प्रवीण थे। लछिराम तो देव के समान अनेक राजा नाम धारियों के यहाँ गये और उनके नाम पर छंदों के उलट-फेर से अनेक ग्रंथों का निर्माण उन्होंने किया।

३,४—द्विजबलदेव और द्विज गंग भी इसी प्रकार के प्रशस्तिवादी कवि थे।

५—काशी नरेश के दरबार में सरदार और उनके शिष्य नारायण रहा करते थे।

६—काशी के ही राजा नामधारी हरिशंकर सिंह के यहाँ सेवक रहा करते थे।

७—जोधपुर दरबार में रहने वाले कविराजा मुरारिदान, जिन्होंने 'जसवंत जसोभूषण' लिखा।

पर धीरे-धीरे यह युग राजाश्रय का नहीं रह गया और कवि इस चक्कर से बाहर निकल कर एक स्वतंत्र और स्वच्छंद जीव हुआ, जो साहित्य को समाज से जोड़ने में आगे चल कर पूर्ण समर्थ हो सका।

ब—भक्तिकाव्य

सगुण-निर्गुण नामक भक्तिकाल की धाराओं का प्रतिनिधित्व इस युग में भी मिलने के लिए मिल जायेगा, पर वस्तुत: यह युग भक्ति काव्य का कोई बहुत सुन्दर आदर्श नहीं प्रस्तुत करता। भक्त कवियों में राजा रघुराज सिंह एवं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ही उल्लेखनीय हैं, यों भक्ति एवं धर्म सम्बन्धी अनेक शुष्क और नीरस, रचनाएं, मिल जायेंगी। ज्ञानमार्गी निर्गुणियों का प्रतिनिधित्व लावनीबाज लोग करते थे और प्रेमाश्रयी निर्गुण काव्य का—कासिम। कासिम ने दोहा-चौपाइयों में 'हंस जवाहर' नामक काव्य इसी युग के प्रारम्भ में लिखा था। मिश्रबंधुओं ने इनका रचनाकाल १६०० विक्रमी दिया है। वैष्णव कवियों का प्रतिनिधित्व कृष्ण काव्य की दृष्टि से ललित किशोरी, ललित माधुरी (१६११-३० वि०), गिरिधरदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि तथा राम काव्य की दृष्टि से राजा

रघुराज सिंह, बाबा रघुनाथ दास, राम सनेही आदि करते हैं।

इस युग का भक्ति काव्य भक्तिकालीन भक्ति काव्य का हीन एवं शिथिल अनुकरण-सा प्रतीत होता है। वैष्णव और शैव संप्रदायों का प्राबल्य रहा साथ ही अनेक छोटे-मोटे देवी-देवताओं एवं तीर्थ-स्थानों के स्तवन रूप में पंचक, अष्टक, पचीसी, बतीसी और चालीसी जैसी रचनाएँ होती रही, पर इनमें हृदय की सच्ची अनुभूति के अभाव के कारण कोई रस नही मिलता। मंदिरों में प्रचलित कर्मकाण्ड के प्रभाव के कारण वस्तु-परिगणन प्रणाली का तिरस्कृत प्रयोग रघुराज सिंह एवं रघुनाथदास राम सनेही आदि की रचनाओं में मिलता है। इन पर काल प्रभाव भी बुरा पड़ा है। ये लोग काल दोष से अपने को नही बचा सके है। राजा रघुराज सिंह ने रुक्मिणी परिणय मे कालनेमि के सभासदों को मुसलमान रूप में चित्रित किया है। कृष्ण की हीन एवं काल्पनिक लीलाओं का वर्णन भक्त और शृंगारी दोनों ढंग के कवि समान रूप से एवं समान शैली तथा भाषा में करते हैं। इनकी भाषा में पूर्वी हिन्दी, अरबी फारसी के शब्द समान रूप से व्यवहृत हुए है। इस युग में राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना सन् १८६१ ई० में आगरा में हुई। यह निर्गुनियाँ सम्प्रदाय है। यहाँ के लोगों ने भी कुछ काव्य रचा है, पर वह काव्य-कोटि में नही रखा जा सकता। इस युग का भक्ति काव्य इसीलिए विशेष नीरस रहा, क्योंकि इसमें कवियों की सहज अनुभूति नहीं है। धीरे-धीरे आर्यसमाज ने भी इस भक्ति भावना को चोट पहुँचाई और कवि लोगों ने भी साहित्य और समाज के विस्मृत सनातन संबंध का पुनः स्मरण किया और कर्तव्य की पुकार पर वे पीछे न रह सके। फलतः इस युग के उत्तरकालीन कवि अब मात्र अपने लिए भगवान को नहीं पुकारते, वे देश का, समष्टि का, ध्यान सदा रखते है। साथ ही अब उनकी कट्टर साम्प्रदायिकता उदारता में बदलती प्रतीत होती है, जैसा कि भारतेन्दु के 'जैन कुतूहल' से स्पष्ट है।

(स) शृंगार काव्य—

राज दरबारों की अप्रगतिशीलता, साहित्यिक परंपरा का अनुकरण,

नवीन प्रभावों से बाहर बना रहना, काशी के कवि समाज और कानपुर के रसिक समाज जैसे साहित्य समाजों का स्थान-स्थान पर समस्यापूर्ति का साधन स्वरूप बनना आदि कतिपय बातें हैं, जिनके कारण भारतेन्दु युग में रीतिकाल की शृंगारी काव्य प्रणाली अप्रतिहत गति से निरंतर बहती रही, यद्यपि अब उसमें लगातार दो सौ वर्षों से एक ही विषय, एक ही छंद का पिष्ट पेषण होने के कारण वह माधुर्य नहीं रह गया था।

इस युग के शृंगारी कवियों ने राधाकृष्ण के नाम पर लौकिक काम-केलि, आलिंगन, परिरंभण, चुंबन, रंग रली, नखशिख, नायक-नायिका भेद, ऋतु वर्णन तथा अनेक लीलाओं-उपलीलाओं का वर्णन किया है। इस शृंगारी काव्य में पूर्ण लौकिकता का दर्शन होता है। साहित्यिक दृष्टि से इस युग में उच्च काव्य निर्माण अधिक नहीं हुआ। कवित्त-सवैया इस युग के प्रमुख छंद रहे, यद्यपि नवीनता के आगमन से कुछ नये छंदों का भी आविर्भाव हुआ, पर शृंगारी काव्य अपने पुराने छंदों के ढाँचों में ही ढलकर आना पसंद करता रहा। इसी पुराने क्षेत्र में कवियों को नवीनता प्रदर्शन का अवसर नहीं रह गया था। अतः अधिकांश रचनाएँ शिथिल हो रही थीं, चतुर्थ चरण में ही चमत्कार दिखाई देता था। एक कवि का वाक्यांश दूसरे कवि की रचना में ज्यों का त्यों मिल जाता है। यों तो अलंकारों के चक्कर से कवि छूटे नहीं थे, पर कभी-कभी वे उनमें बुरी तरह पड़ जाते थे और तब यमक के प्रदर्शन में भाव का उन्हें ध्यान ही नहीं रह जाता था, केवल चमत्कार हाथ लगता था, रस नहीं। अस्वाभाविकता और कृत्रिमता भाव को भद्दे ढंग से दबा लेती थी। इस युग के कवियों की भाषा पूर्वी हिन्दी के प्रयोगों से मुक्त नहीं है। उसमें अरबी-फारसी के प्रयोग भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं :—

'कवि 'सेवक' बूढ़े भए तो कहा, पै हनोज है मौज मनोज ही की।'
इस पंक्ति का 'हनोज' फारसी की इस कहावत का स्मरण कराता है :—
'हनोज दिल्ली दूर अस्त'। 'कलाम' से 'कलामिनियाँ' ऐसे शब्द इस युग के कवि सहज ही गढ़ लेने में समर्थ थे।

'इस काल में मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या अत्यंत न्यून है, पर खोजियों को निराश न होना पड़ेगा। इसी युग में द्विजदेव, भारतेंदु, प्रताप नरायण मिश्र, जगमोहन सिंह, प्रेमघन, हनुमान, सेवक, सरदार, भुवनेश ऐसे रस सिद्ध कवि हुए है, जिनके शृंगारी कवित्त-सवैयों में पुराने कवियों की रचनाओं से कम मार्मिकता नहीं है।

शास्त्रीय दृष्टि से भी इस युग ने काव्य शास्त्र को कुछ दिया है। भारतेंदु ने 'रस रत्नाकर' में स्वकीया, परकीया, गणिका में त्रिविध नायिका भेद को पाँच वर्गों में बाँटा। परकीया के अतर्गत आने वाली अनूढ़ा और कुलटा को उन्होंने अलग वर्गों में 'कन्यका' और 'कुलटा' नामों में स्थान दिया। निश्चय ही किसी अनूढा को परकीया के अंतर्गत परिगणित करना, सीता, पार्वती, रुक्मिणी सभी को परकीया बना देना है, क्योंकि इन सभी ने विवाह के पहले राम, शिव और कृष्ण से प्रेम किया था और उन्हे प्राप्त करने के लिये देवार्चना, साधना तथा साधन किये थे। इसी प्रकार परकीया के हढ़ानुराग को देखते हुए कुलटा को उसी के अंतर्गत स्वीकार करना परकीया के साथ व्यभिचार करने के सदृश है। अतः भारतेंदु का यह वर्गीकरण अभिनव है और नायिका भेद को एक और मनोवैज्ञानिक और मंजिल पर अग्रसर करता है।

इसी युग में अयोध्या नरेश प्रताप नरायण सिंह ने अपने 'रस कुसुमाकर' (१८९२ ई०) नामक रस ग्रंथ में संस्कृत आचार्यों का अनुसरण कर गद्य में विवेचन किया और उदाहरण स्वरूप अन्य कवियों की श्रेष्ठतम एवं मार्मिक रचनाएँ उद्धृत कीं। इसी प्रकार कन्हैयालाल पोद्दार ने १८९६ ई० में 'अलंकार प्रकाश' का आचार्य की दृष्टि से प्रणयन किया, जिसमे सारी व्याख्या गद्य में होने के नाते स्पष्ट है और उदाहरण चुन-चुन कर रखे गये है।

ब—काव्य-संग्रह

इस युग में शृंगार रस के अंतर्गत जो कुछ भी सर्व सुन्दर समझा गया, उसका मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया। यह मूल्यांकन आलो-

चना के रूप मे न होकर, संकलन के रूप में हुआ। विभिन्न कवियों ने जिन रचनाओं को सुन्दरतम समझा, उन्हें एक ग्रंथ मे संकलित कर दिया। इस कार्य का श्रीगणेश भारतेंदु से पहले हो गया था, भारतेंदु ने भी सुन्दरी तिलक के द्वारा इसमें योग दिया। ये संग्रह प्राचीन साहित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार के संग्रह भारतेंदु युग मे बहुत हुए, क्योंकि एक ही प्रकार की कविता पढ़ते-पढते लोग ऊब उठे थे और अब उसमे जो कुछ सुन्दर हो उसी को पढने की इच्छा उनमें रह गयी थी। इस इच्छा की पूर्ति के लिए इन संग्रहों का संकलन सुरुचि संपन्न कवियों ने किया। इस युग के कुछ संग्रह ये है :—

१—सरदार कवि-बनारसी

 १—शृंगार संग्रह—१८४८ ई०

 २—षटऋतु प्रकाश—१८६४ ई०

२—लाला गोकुल प्रसाद 'ब्रज' बलरामपुरी

 १—दिग्विजय भूषण—१९१९ विक्रमी (१८६२ ई०)

३—ठाकुर प्रसाद कवि किशुनदास पुरी

 १—रस चंद्रोदय—१९२० विक्रमी (१८६३ ई०)

४—भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र बनारसी

 १—सुन्दरी तिलक—१९२५ विक्रमी (१८६८ ई०)

 २—पावस कवित्त संग्रह

५—महेश दत्त शुक्ल

 १—काव्य संग्रह १९३२ विक्रमी (१८७५ ई०)

६—मातादीन मिश्र

 १—कवित्त रत्नाकर १९३३ विक्रमी (१८७६ ई०)

७—शिवसिंह सेंगर, कांथा जिला उन्नाव

 १—शिवसिंह सरोज—१९३४ विक्रमी (१८७८ ई०)

८—हफीजुल्ला खाँ, सांडी, जिला हरदोई

 १—नवीन संग्रह—१८८२ ई०

 २—सूक्ति सुधा या हजारा—१८८६ ई०

३ षट ऋतु काव्य संग्रह १८८६ ई०

४—प्रेम तरंगिणी १८९० ई०

९—द्विज कवि मन्नालाल वाराणसी

१—पंच शतक

२—शृंगार सुधाकर

३—प्रेम तरंग १८७७ ई०

४—शृंगार सरोज १८८० ई०

५—सुन्दरी सर्वस्व १८८५ ई०

१०—नकछेदी तिवारी, अजान, डुमरांव

१—मनोज मंजरी—४ भाग १८८६ ई०

२—भड़ौआ संग्रह—४ भाग

११—साहब प्रसाद सिंह

१—काव्य कला १८८५ ई०

१२—बंगाली लाल सुत परमानंद सुहाने

—पावस कवित्त रत्नाकर १८९३ ई०

घ—अनुवाद

इस युग के ब्रज भाषा काव्य की एक विशेषता अनुवाद काव्य भी है। यद्यपि इस प्रवृत्ति की परिगणना नवीनता के नाते नवीन काव्य धारा के साथ होनी चाहिए, ऐसा कुछ लोगों के मन मे उठ सकता है; पर विचार करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि प्राचीन काव्य धारा के साथ ही इनका विचार करना अधिक समीचीन है, क्योंकि ये अनुवाद एक तो पुराने संस्कृत काव्यों के है, दूसरे इनमें जीवन का कोई नवीन दृष्टिकोण नहीं परिलक्षित होता। हाँ, श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित ऊजड़ ग्राम का विवेचन यहाँ नही किया जा सकता, उसे तो नवीन काव्य धारा के ही साथ रखना समीचीन है। इस युग के पहले रीति काल मे या तो कतिपय नाटको के काव्यानुवाद जैसे प्रबोध चन्द्रोदय और हनुमन्नाटक के या श्रीहर्ष कृत नैषध चरित महाकाव्य के गुमान मिश्र द्वारा और गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव आदि

द्वारा किए गए महाभारत के काव्यानुवाद मिलते हैं। संस्कृत काव्यों के अनुवाद की प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। इस युग में अनेक ग्रंथो के अनुवाद हुए। इस साहित्यिक काव्यानुवाद प्रणाली का श्रीगणेश भारतेंदु बाबू ने जयदेव के गीत गोविंद का गीत गोविन्दानंद नाम से १८७८ ई० में अनुवाद करके किया। भारतेंदु के पहले राजा रघुराज सिंह जी ने आनंदाम्बुनिधि नाम से श्रीमद्‌भागवत का, छितिपाल जी ने भी भर्तृहरि शतकत्रय का विशेष नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया था, पर अनुवाद परम्परा भारतेन्दु ने ही स्थापित की, जो नीचे की सूची में स्पष्ट है।

१—राजा लक्ष्मण सिंह

१—मेघदूत पूर्वार्द्ध १८८२ ई०

२—मेघदूत उत्तरार्द्ध १८८४ ई०

३—शकुंतला के श्लोकों का पद्यानुवाद १८८९ ई०

२—लाला सीताराम 'भूप'

१—मेघदूत १८८३ ई०

२—कुमार सम्भव १८८४ ई०

३—रघुवंश १८८६ ई०

३—तोता राम वर्मा

१—राम रामायण—वाल्मीक कृत रामायण, बालकांड १८८८ ई०

२— ,, ,, ,, अयोध्या कांड १८९८ ई०

४—जगमोहन सिंह (१८५७–१८९९ ई०)

१—ऋतु संहार २—कुमार संभव

३—मेघदूत ४—हंसदूत

५—प्रताप नारायण मिश्र (१८५८–१८९४ ई०)

१—अभिज्ञान शाकुंतल का संगीत शाकुंतल नाम से स्वच्छन्द अनुवाद

६—अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

१—कुसुमदेव कृत दृष्टांत कलिका इसी नाम से अनुवाद (यह ग्रंथ काव्योपवन के अंतर्गत संकलित है।)

७—महावीर प्रसाद द्विवेदी

१—बिहार वाटिका—जयदेव कृत —१८९० ई०

२—ऋतु तरंगिणी—कालिदास कृत ऋतु संहार—१८९१ ई०

३—गंगालहरी—पंडित राज जगन्नाथ कृत—१८९१ ई०

भारतेंदु द्वारा चलाई गयी काव्यानुवाद की यह प्रणाली निरंतर विकसित होती रही। आगे चलकर श्रीधर पाठक ने ऋतुसंहार का अत्यन्त सरस अनुवाद किया। रायदेवी प्रसाद पूर्ण ने भी मेघदूत का अनुवाद 'धाराधर धावन' नाम से प्रस्तुत किया। खड़ी बोली के पद्य में भी व्यवहृत होने के अनंतर अनुवाद खड़ी बोली गद्य-पद्य दोनों मे होने लगे। यही नहीं, संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी, बंगला आदि के काव्यों के भी अनुवाद बाद में, अधिकतर खड़ी बोली में हुए।

फ—कुंडलीकरण

सबसे पहले बिहारी के दोहों पर चंद ने पठान सुलतान के नाम से कुंडलियाँ लगायी थी, पर वह कोई परम्परा नहीं स्थापित कर सका था। इस युग में अनुवाद परम्परा के साथ-साथ भारतेंदु बाबू ने कुंडलीकरण परम्परा की भी स्थापना की। उन्होंने सर्व प्रथम बिहारी के ८५ दोहो पर 'सतसई शृंगार' (१८७८ ई०) नाम मे कुंडलियाँ लगायी। संभवतः वे सभी दोहो पर यह कार्य करना चाहते थे, पर इसकी व्यर्थता को समझकर उन्होंने इसे परित्याग कर देना ही उचित समझा। पर जो परम्परा वे स्थापित कर गये, उनके युग मे उसका पालन होता रहा। उन्हीं की देखा-देखी जोखू राम पंडा 'नागर' ने भी बिहारी के दोहों पर कुछ प्रयास किया था। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने कबीर के २३ दोहों पर, १८७९ ई० मे कबीर कुंडल नाम से कुंडलियाँ लगायी थी, जो १८९९ ई० मे 'रसिक रहस्य' नाम से प्रकाशित हुई थीं। यह ग्रंथ अब काव्योपवन में संकलित है। पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने 'बिहारी बिहार' (१८९८ ई०) नाम से बिहारी सतसई का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया था। इसमे बिहारी सतसई के प्रत्येक दोहे पर कुण्डलियाँ लगायी गयी हैं। सुधाकर द्विवेदी ने तुलसी सुधाकर नाम से १८९९ ई० में तुलसी सतसई पर

कुण्डलियाँ लगायी। १६०० के आस-पास बाबा सुमेर सिंह साहबजादे ने 'बिहारी सुमेर' नाम से बिहारी सतसई पर कुण्डलियाँ जोड़ी। इसी समय के लगभग राधाकृष्ण दास जी ने भी रहीम के उस समय तक उपलब्ध ११३ दोहों पर 'रहिमन विलास' नाम से कुडलियाँ लगायी। रहिमन विलास राधाकृष्ण दास ग्रंथावली में संकलित है। नवनीत लाल चतुर्वेदी ने भी रहिमन शतक पर कुण्डलियाँ लगायी थी।

नवीन काव्य धारा

नवयुग का प्रारम्भ

"१८६१ मे भारतेन्दु ने स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अंतर्लापिका शीर्षक नये विषय की कविता लिखी। अतः इस कविता को हम हिन्दी काव्य के नवीन रूप अग्रगामिनी और १८६१ को आधुनिक हिन्दी काव्य का सपन काल मान सकते हैं।"

—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य।

वार्ष्णेय जी के अनुसार १८६१ ई० से हम आधुनिक हिन्दी काव्य का प्रारम्भ मान सकते हैं। शुक्ल जी अपने इतिहास में नयी धारा के प्रथम उत्थान का काल सं० १९२५ से १९५० विक्रमी तक मानते हैं। इस प्रकार वे नयी धारा का प्रारम्भ १८६८ ई० से मानते है। क्यो मानते हैं, इसका उल्लेख शुक्ल जी ने नहीं किया है।

१४ दिसम्बर सन् १८६१ ई० को नवीन विक्टोरिया के पति प्रिंस एलबर्ट की मृत्यु हुई थी। उक्त शोक के अवसर पर भारतेन्दु बाबू ने ११ वर्ष की वय मे स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अंतर्लापिका नामक बाल सुलभ काव्य क्रीड़ा की थी, जिसका प्रभाव हिन्दी जगत पर कुछ भी नही पड़ा। यदि यह भारतेन्दु ग्रन्थावली द्वितीय भाग मे संकलित न हुई होती, तो इसे कोई जानता भी नही और न जानने का कष्ट ही करता। अतः १८६१ ई० को आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रारम्भ-तिथि नहीं माना जा सकता। जहाँ तक शुक्ल जी की दी हुई तिथि का सम्बन्ध है, उन्होंने विक्रम

संवत का प्रयोग किया है और एक गोल संख्या १९२५ दे दी है। निश्चय ही यदि शुक्ल जी ने ईसवी सन् का प्रयोग किया होता, तो उन्होंने १८६८ ई० से न प्रारम्भ करके १८७० ई० नयी धारा के प्रथम उत्थान का प्रारम्भ काल माना होता। १८७० से लेकर १९०० ई० तक को हम हिन्दी की नयी काव्य धारा का प्रथम उत्थान काल मानते हैं; भारतेन्दु ने नये ढंग की राज भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का सचेत निर्माण १८६९ ई० के अंत में, संभवतः दिसम्बर में, ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत शुभागमन के अवसर पर प्रारम्भ किया था।

भारतेन्दु का महत्व

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी काव्य साहित्य के प्राचीन और नवीन की एक सुनहरी कड़ी हैं। उनके गद्य में जहाँ पूर्ण रूपेण नवीनता है, वहा उनके पद्य का अधिकांश प्राचीन काव्य धारा से ही परिपूर्ण है। उसमें कबीर संत का काव्य, राम काव्य, पदों में लिखित भक्तों का-सा कृष्ण काव्य, कवित्त-सवैयों में लिखित शृंगार काव्य, संस्कृत काव्यों का पद्यानुवाद, बिहारी के दोहों का कुडलीकरण, भक्तमाल का-सा छप्पयों में नवीन भक्तमाल उत्तरार्द्ध, स्तोत्र और लीलाएं तथा पक्के गाने आदि सभी प्रचुर परिमाण में हैं। नवीनता का सूत्रपात करने वाली रचनाएँ कम हैं, जिनका अधिकांश नाटकों में बिखरा हुआ है। फिर भी भारतेन्दु को इस बात का बहुत श्रेय है कि उन्होंने हिन्दी काव्य-धारा को, जो जीवन से पिछले दो सौ वर्षों से विछिन्न हो गयी थी, पुनः संलग्न कर दिया, काव्य और जीवन के बीच उन्होंने फिर से सेतु का निर्माण कर दिया।

भारतेन्दु के इस नवीन काव्य में राष्ट्रीयता का स्वर सबसे प्रबल है। उनकी राजभक्ति, देश-भक्ति, धार्मिकता, समाज-सुधार-प्रियता, हिन्दी-प्रेम स्वदेशी-प्रेम आदि सभी राष्ट्रीयता के ही पोषक हैं। आज हमें राजभक्ति और देश-भक्ति दो विरोधी भावनाएं प्रतीत हों, पर भारतेन्दु युग में ऐसा नहीं था। नवीन काव्य की विभिन्न धाराओं में सबसे पहले राज-भक्ति का प्रवेश हुआ; अतः उसी से नवीन काव्य धारा का आगे परिचय प्रारम्भ किया जा रहा है।

(म) राजभक्ति

एक तो भारतेन्दु का परिवार पहले से ही राज-भक्त था, दूसरे १८५७ ई० के भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम को अंग्रेजों ने इतना कुचल दिया था और उनके सैन्य बल का आतंक कुछ इतना अधिक छा गया था कि राष्ट्रीयता के अग्रदूत भारतेंदु में भी पहले राज-भक्ति का ही प्रस्फुटन हुआ। एलबर्ट की मृत्यु के समय १८६१ ई० में जो राजभक्ति बालक्रीडा के रूप में दिखाई पडी थी, वह १८६९ ई० के अन्त में ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत आने पर पूर्ण प्रस्फुटित हुई और भारतेन्दु जी ने 'श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र' नामक रचना प्रस्तुत की। २० जनवरी १८७० ई० को भारतेन्दु जी ने अपने घर पर काशी के संभ्रांत व्यक्तियों एवं विद्वानो की एक सभा की, जिसमें विद्वानो एव कवियो ने अपनी राजकीय प्रशस्तियाँ संस्कृत एव हिन्दी मे पढ़ी। इन्ही को संकलित कर १० मार्च १८७० को 'सुमनोऽञ्जलिः' नाम से उन्होने प्रकाशित कराया। वस्तुतः 'सुमनोऽञ्जलिः' के प्रकाशन काल से हिन्दी मे नयी काव्य-धारा का प्रारम्भ मानना चाहिए। इसके पश्चात् राज परिवार मे जब जब हर्ष और शोक के अवसर आये, भारतेन्दु ने बराबर काव्य रचना की। तत्कालीन अंग्रेजो के द्वारा वे 'पोएट लारिएट' कहे गये हैं। भारतेन्दु की राजभक्ति सबधी रचनाओं की तालिका नीचे दी जा रही है।

१—स्वर्गवासी श्री अलबरत वर्णन अंतर्लापिका, १८६१ ई०।

२—श्री राजकुमारी सुस्वागत पत्र, १८६९ दिसम्बर।

३—सुमनोऽञ्जलिः, मार्च १८७० ई०।

४—काशी मे ग्रहण के हित महाराज कुमार के आने के हेतु (एक कविता)

५—सन् १८७१ मे श्रीमान प्रिंस आफ वेल्स के पीड़ित होने पर कविता नवम्बर १८७१ ई०।

६—मुँह-दिखावनी—राज कुमार श्री ड्यूक आफ एडिनबरा की नववधू की—१५ फरवरी सन् १८७४ ई० की हरिश्चन्द्र मैगजीन मे प्रकाशित।

७—श्री राजकुमार शुभागमन वर्णन—सन् १८७५ ई० मे तत्कालीन प्रिंस आफ वेल्स (बाद मे सम्राट् एडवर्ड सप्तम) के भारत आगमन पर लिखित और आषाढ़ १९३३ की बाला बोधिनी मे प्रकाशित।

८—भारत भिक्षा १८७५ ई०।

९—मानसोपायन—यह भी सुमनोऽञ्जलिः के समान एक संग्रह ग्रंथ है, जो राजकुमार के आने पर उन्हे भेट किया गया। इसमे प्रेमघन जी की भी कविता है। सन् १८७६ ई० मे प्रिंस आफ वेल्स ने काशी मे अस्पताल को नींव डाली थी। उक्त अवसर पर यह आयोजन हुआ था। इसमे संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, गुजराती, तेलगू आदि अनेक भाषाओ की रचनाएँ हैं।

०—मनोमुकुलमाला।

१—राजराजेश्वरी स्तुति—(संस्कृत में)

२—गजल—मादये तारीख-विक्टोरिया शाहेशाहान हिन्दोस्तान—ये तीनो कविताएँ, १८७६ ई० मे विक्टोरिया के राजराजेश्वरी (Empress) पदवी धारण करने पर लिखी गयी।

३—भारतवीरत्व—हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के १८७८ ई० के अक्टूबर अंक मे प्रकाशित। यह कविता अफगान युद्ध छिड़ने पर लिखी गयी थी। इसकी घोषणा २१ नवम्बर, १८७८ को लार्डलिटन ने की थी।

४—विजयवल्लरी। अफगान युद्ध की समाप्ति पर १८८१ ई० मे लिखित।

५—विजयिनी-विजय-पताका या वैजयती—भारतीय सेना द्वारा अंग्रेजों की मिश्र विजय पर २२ सितम्बर १८८२ ई० की टाउन हाल की सभा मे पठित।

६—जातीय संगीत प्रभु रच्छहु दयाल महरानी, रूप में १८८४ ई० मे अनुवाद।

७—रिपनाष्टक—१८८४ ई०।

इनके अतिरिक्त और भी कुछ रचनाएँ यत्रतत्र है। भारतेन्दु अपने युग में राज भक्ति के लिए ही प्रसिद्ध थे और उनकी सम्पूर्ण राजभक्ति सम्बन्धी इन रचनाओं का संकलन खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर, पटना से अलग पुस्तक रूप में, (हरिश्चन्द्र कला, द्वितीय खंड) उनके देहावसान के अनंतर प्रकाशित हुआ था। जैसा कहा गया है—यह राजभक्ति भी तत्कालीन राष्ट्रीयता का एक अंग है, विरोधी नहीं।

भारतेन्दु की इस राजभक्ति परम्परा का पालन तत्कालीन प्रायः सभी कवियों ने किया है। प्रेमघन जी की राजभक्ति सम्बन्धी रचनाओं की तालिका यह है:—

१—मंगलाशा अथवा हार्दिक धन्यवाद—दादाभाई नौरोजी के पार्लियामेण्ट के सदस्य होने पर, १८९२ ई०।

२—हार्दिक हर्षादर्श—महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबिली के अवसर पर १९०० ई० में लिखित।

३—भारत बधाई—सम्राट् श्री सप्तम एडवर्ड के भारत साम्राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर, १९०३ ई०।

४—आर्याभिनन्दन—श्रीमान् युवराज जार्ज फ्रेडरिक अर्नेस्ट अलबर्ट प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत शुभागमन पर स्वागतार्थ विरचित—१९०६ ई०।

५—सौभाग्य समागम अथवा भारत सम्राट सम्मेलन—श्री पंचम जार्ज के दिल्ली में साम्राज्याभिषेक पर बधाई और स्वागत सम्बन्धी कविता, १९१२ ई०।

राधाकृष्ण दास जी की राजभक्ति सम्बन्धी रचनाएँ ये हैं:—

१—मैकडानेल पुष्पांजलि—१८९७ ई०।

२—जुबिली—विक्टोरिया की जुबिली पर, १८९७ ई०।

३—विजयिनी विलाप—विक्टोरिया की मृत्यु पर १९०३ ई० में लिखित।

प्रताप नारायण मिश्र की ब्रेडला स्वागत (१८८९ ई०) रचना अत्यन्त प्रसिद्ध है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भी काव्योपवन में विक्टोरिया

की मृत्यु पर शोक काव्य लिखा है। इनकी भी राजभक्ति सम्बन्धी रचनाओं का एक संकलन उपहार बहुत बाद मे १९३० ई० के आस-पास प्रकाशित हुआ था। प्रसाद जी ने भी १९१० ई० मे सम्राट् सप्तम एडवर्ड के निधन पर 'शोकोच्छ्वास' नामक लघु पुस्तिका लिखी थी। राजभक्ति सम्बन्धी रचनाओं की इस परम्परा का श्रेय भारतेंदु को ही प्राप्त है।

सक्षेप मे इस राजभक्ति के कारण निम्नांकित है।

१—अंग्रेजी सैन्य का प्रबल आतंक।

२—राजा मे ईश्वर के विशिष्ट अंश की भावना—'सर्वदेव-मयोनृपः', 'नाराणां च नराधिपः', 'राजा कृष्ण समान'—मनोमुकुलमाला।

३—महारानी विक्टोरिया की घोषणा का सुप्रभाव।

४—अंग्रेजी राज्य की शांति और सुव्यवस्था तथा अनेक सुख के साधनों रेल, तार, डाक, प्रेस आदि का प्रादुर्भाव।

५—अंग्रेजों की धर्म-निरपेक्षता, मुसलमानों के समान जबरदस्ती हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन न करना अथवा धार्मिक स्वतन्त्रता।

६—मुसलमानी राज्य के प्रति हिन्दुओ की धार्मिक असहिष्णु भावना जो मुसलमानो की धार्मिक कट्टरता और अत्याचार की प्रतिक्रिया स्वरूप उनमे उत्पन्न हो गयी थी। प्रत्येक हिन्दू अंग्रेजी राज्य को मुसलमानी राज्य से अच्छा समझता था।

ख—देश-भक्ति

राजभक्ति का पुरस्कार भारतेंदु को आनरेरी मजिस्ट्रेट बना कर दिया गया था। वे बीस वर्ष की अल्प वय से ही १८७० ई० में इस प्रकार सरकार की ओर से सम्मानित हुए थे। सन् १८७४ ई० मे ही इन्होंने अनेक कारणों से इस पद से त्याग पत्र दे दिया। इनमें से एक कारण देश-भक्ति का उदय भी है। वे राजभक्त तो अंत तक बने रहे, पर अंग्रेज भक्त नही रह सके, फलतः कविवचन सुधा हरिश्चन्द्र चंद्रिका और बाला-बोधिनी की जो सैकड़ों प्रतियाँ सरकार लेती थी, उनकी खरीद बन्द कर दी गयी। राजा

शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने सरकार का कान भारतेंदु के विरुद्ध उन दिनों भरा था, यद्यपि उस पर बहुत लीपा-पोती की गयी है, फिर भी उसमे कुछ असलियत है। १८७४ ई० मे देश-भक्ति की जो भावना भारतेन्दु में अंकुरित हुई, वह १८८० मे पूर्ण प्रस्फुटित हो गयी। १८८० ई० मे उन्होंने भारत-दुर्दशा और १८८१ ई० मे नीलदेवी नामक प्रसिद्ध देश-प्रेम पूर्ण नाटक लिखे। निम्नांकित राजभक्ति संबंधी कविताओं मे भी राष्ट्रीयता का पुट है :—(१) भारत भिक्षा १८७५, (२) भारत वीरत्व १८७८, (३) विजय बल्लरी १८८१, (४) विजयनी विजय वैजयंती १८८२। पर इसका पूर्ण विकास तो अंतिम दो कविताओं में ही हुआ है। बाबू श्याम सुन्दर दास जी के अनुसार जिस दिन भारतेंदु ने भारतीयों को एक साथ मिलकर रोने के लिए आवाहन किया था, वह दिन हिन्दी-साहित्य का परम शुभ दिन है, उसी दिन हिन्दी-काव्य ने नवीन पथ पकड़ा। वह कविता है :—

रोअहु सब मिलि के आवहु भारत भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई,

—भारत दुर्दशा १८८० ई०।

भारतेंदु मे देशभक्ति, राजभक्ति और ईश-भक्ति का अपूर्व मिश्रण है। विजयनी विजय वैजयंती मे देश-भक्ति राज-भक्ति का अपूर्व मेल हुआ है, उसी प्रकार 'प्रबोधिनी' में देश-भक्ति और ईश-भक्ति का। वे भगवान को भारत को प्रबुद्ध करने के लिये जगा रहे है :—

डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो,
आलस-दव यहि दहन हेतु चहुँ दिसि सो लागो
महा मूढ़ता वायु बढावत तेहि अनुरागो,
कृपा-दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो,
अपुनो अपुनायो जानि कै, करहु कृपा गिरिवरधरन
जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन। १७

भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता थी। वह आज की हिन्-मुसलिम मेल वाली राष्ट्रीयता नहीं थी। इसीलिए भारतेंदु ने उक्त छंद

कहा है—'देहु दीन हिंदुन सरन।' आगे वे अपनी हिन्दू राष्ट्रीयता को और भी स्पष्ट करते है :—

पृथीराज-जयचंद कलह करि जवन बुलायो
तिमिरलंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो
विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो
तब लों सोए बहु नाथ तुम, जागे नहि कोऊ जतन
अब तो जागो बलि बेर भई, हे मेरे भारत रतन। २३

भारतेन्दु तथा अन्य तत्कालीन देशभक्त कवियों को अपने विगत वैभव एवं गौरव पूर्ण अतीत का बड़ा गर्व था। इसका उल्लेख उन्होंने बराबर किया है। उन्हे उसके चले जाने का बड़ा दुख था।

कहँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर
चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि के थिर
कहँ क्षत्री सब मरे जरे सब गये किते गिर
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत हे चिर
कहँ दुर्ग-सैन-धनबल गयो, धूरहि धूर दिखात जग
जागो अब तौ खल बल दलन, रक्षहु अपुनो आर्य मग। १६

वर्तमान दुर्दशा का भी उन्होंने अत्यंत करुणाजनक वर्णन किया है—

जहां बिसेसर सोमनाथ माधव के मंदिर
तहँ महजिद बन गयी, होत अब अल्ला-अकबर
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नोज रहे वर
तहँ अब रोवत सिवा, चहूँ दिसि लखियत खँडहर
जहँ धन विद्या बरसत रही सदा अबै वाही ठहर
बरसत सबही विधि बेबसी अब तौ जागौ चक्रधर। २०

परन्तु इन कवियों को साथ ही मंगलमय भविष्य की भी आशा है। वे निराशावादी नहीं है। अतः वे मंगल कामना अवश्य करते है :—

सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै
कर राजा नहि लेइ, प्रजन पै वह बढ़ावै

गाय दूध बहु देहि, तिनहि कोई न नसावै
द्विजगन आस्तिक होइँ, मेघ शुभ जल बरसावै
तजि छुद्र कामना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं
कहि कृष्ण-राधिका नाथ जय हमहूँ जिय आनंद भरहिं। २५

प्रेमघन जी की देश भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ है :—

१—कलि काल तर्पण, १८८३ ई०

२—पितर प्रलाप, १८८५ ई०

३—मंगलाशा अथवा हार्दिक धन्यवाद—दादा भाई नौरोजी के पालिआमेंट के मेम्बर होने पर, १८९२ ई०

प्रतापनारायण मिश्र की ब्रेडला स्वागत (१८८९ ई०) देश की वर्तमान दुर्दशा का अच्छा चित्र है—लोकोक्ति शतक भी देश भक्ति से पूर्ण रचना है। राधाकृष्ण दास की पृथ्वीराज प्रयाण, प्रताप विसर्जन ऐतिहासिक राष्ट्रीयता से एवं भारत बारह मासा, देश दशा, छप्पन की विदाई, नए वर्ष की बधाई, तत्कालीन राष्ट्रीयता से परिपूर्ण रचनाएँ हैं। उस युग के प्राय. सभी कवियों ने वर्तमान दैन्य को अपने काव्य का विषय बनाया है।

ग—समाज सुधार

भारतेन्दु-युगीन कवि भारतोन्नति के लिए जहाँ सरकार के सामने अपनी माँग रखते थे, वहीं वे समाज को भी भली-भाँति परख चुके थे और उसमे सुधार करने के लिए प्रयत्नशील थे। भारतेंदु ने सामाजिक सुधार के लिए साहित्य एवं काव्य विरचन को उत्तेजित करने के लिए मई १८७९ ई० की कवि-बचन-सुधा मे जातीय संगीत शीर्षक से एक विज्ञप्ति प्रकाशित कराई थी, जिससे इस विषय मे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। श्री शिवनंदन सहाय जी ने इस विज्ञप्ति को हरिश्चन्द्र मे (पृष्ठ २३९-२४२) उद्धृत किया है। इसमे बाल विवाह, जन्मपत्री की विधि, बालकों की शिक्षा, बालको से बर्ताव, अंग्रेजी फैशन, स्वधर्म चिंता, भ्रूण हत्या और शिशु हत्या, मैत्री और ऐक्य, बहुजातित्व और बहु भक्तित्व, योग्यता, पूर्वज

आर्यों की स्तुति, जन्मभूमि, आलस्य और संतोष, व्यापार की उ
नशा, अदालत, हिन्दुस्तान की वस्तु, हिंदोस्तानियों को व्यवहार
भारतवर्ष के दुर्भाग्य का वर्णन आदि विषयों की व्याख्या सहित ता
भी दी गयी है।

भारतेन्दु युग मे समाज दोरगा था। या तो लोग कट्टर रूढिवा
या एक दम बिगड़े दिल। भारतेन्दु मध्यम मार्गी थे :—

भारत मे एहि समय भई है सब कुछ बिनहि प्रमान हो दुइरंगी,
आधे पुराने पुरानहि माने, आधे भए किरिस्तान हो दुइरंगी
या तो गदहा को चना चढावें कि होइ दयानंद जायं हो दुइरंगी
क्या तो पढें कैथी कोठिवलिये कि होइ वरिस्टर धाय हो दुइरंगी
एही से भारत नाश भया सब, जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइरंगी
होइ एक मत भाई सबै अब छोड़हु चाल कुचाल हो दुइरंगी।

भारतेंदु युगीन कवि एक रंग चाहते थे, एकता चाहते थे :—

प्रीत परस्पर राखेहु मीत
जइहै सब दुख सहजहि बीत
नहिं एकता सरिस हल कोय
एक एक मिल ग्यारह होय,

—प्रताप नारायण मिश्र

समाज मे घुस आयी बुराइयों का उल्लेख भारतेंदु ने भारत-दुर्द
पूर्णरूपेण किया है। धर्म के कुकृत्यों का उल्लेख वे इस प्रकार करते

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन भाँति घुसाए
सैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो
खान-पान संबंध सबन सौं बरजि छुडायो
जन्म पत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब
बालकपन मे ब्याहि प्रीत बल नास कियो सब
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो

राखि विलायत गमन कूप-मंडूक बनायो
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई
ईश्वर सों सब विमुख किये हिन्दू घबराई
अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय
किए तीन तेरह सबै चौका चौका लाय

मद्य-पान पर भी भारत दुर्दशा में अनेक व्यंग्योक्तियाँ हैं :—
होटल में मदिरा पिये, चोट लगे नहिं लाज
लोट लये ठाढ़े रहत, टोटल देबे काल
विष्णु वारुणी, पोर्ट पुरुषोत्तम मद्य मुरारि
शंपन शिव, गौड़ी गिरिश, ब्राँडी ब्रह्म विचारि
सोक हरन, आनंद करन, उमगावन सब गात
हरि में बिनु तप लय करनि केवल मद्य लखात,

इस प्रकार की समाज-सुधार सम्बन्धी रचनाएँ नवीन धारा के सभी कवियों में समान रूप से मिलती हैं। ये समाज-सुधार संबंधी रचनाएँ कट्टर पन्थी और उदार दोनों प्रकार के लोगों की लिखी हुई हैं। इनमें कवित्व कम है, जीवन अधिक।

(घ) अर्थनीति

भारतेन्दु बाबू ने कहा है :—
अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई

भारतीय धन के निरंतर विदेश जाते रहने, अकाल तथा नाना प्रकार के टैक्सों से लोग श्रम, हीन होते जा रहे थे। न किसी प्रकार का रोजी-

रोजगार था, न खेती ही फायद सिद्ध हो रही थी। टैक्स और आफत का उल्लेख भारतेंदु ने बीसों स्थानों पर किया है, यहाँ तक कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सरल वाक्य में भी वे 'कर दुःख बहे' लिखना नहीं भूलते। प्रेमघन जी ने १८८५ ई० में 'होली की नकल या मोहर्रम की नकल' नामक कविता इन्कम टैक्स लगने पर लिखी थी। यह भारतेंदु के 'उर्दू का स्यापा' के ढंग पर लिखी गयी है।

रोओ सब मुँह बाय बाय
हाय हाय टिक्कस हाय हाय

अमला सब हरखाय हाय
दूना टिकस बताय हाय
स्वान सरिस मुँह बाय बाय
घूस भली विधि खाय हाय
पीछे धता बताय हाय
टिक्कस ले धरि धाय धाय
रोओ सब...............

भारतेन्दु जी का ध्यान इस ओर सर्व प्रथम गया और उन्होंने इसकी दवा ढूँढ़ निकाली। यह दवा स्वदेशी थी। इस दवा का आविष्कार उन्होंने कांग्रेस के जन्म के पूर्व कर लिया था। ध्यान देने की बात है कि जिस साल भारतेन्दु मरे, उसी साल उनकी मृत्यु के अनंतर प्रायः एक साल बाद कांग्रेस का जन्म हुआ। भारतेंदु आमरण स्वदेशी का प्रयोग करते रहे। उन्होंने जून १८७७ में हिन्दी वर्द्धिनी सभा प्रयाग में हिन्दी की उन्नति पर छंदोबद्ध व्याख्यान पढ़ा था। इसमें उन्होंने स्वदेशी पर पूर्ण बल दिया है। वे लिखते हैं :—

कल के कलबल छलन सों, छले इते के लोग
नित नित धन्न सों घटत है, बाढ़त है दुख सोग। ५७
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम
परदेशी जुलहान के मानहु भए गुलाम। ५८
कपड़ो तौ वैतम मे गयो कुछक राज कर माँहि

बाकी सब व्यौहार मे गयो रह्यो कुछ नाहि । ६२
निरधन दिन दिन होत है भारत भव सब भाँति
ताहि बचाइ न कोई सकत निज भुज बुधि बल कांति । ६२
परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस
परबस ह्वै कब लौं कहौं रहिहो तुम ह्वै दास । ६३

प्रबोधिनी मे भी अर्थनीति सम्बन्धी यह छप्पय ध्यान देने योग्य है :—

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल
पसु समान सब अन्न खात पीअत गंगा जल
धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल
जड समान ह्वै रहत अकिल हत रचि न सकल कल
जीवत विदेश की वस्तु लै ताबिनु कुछ नहिं करि सकत ।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत । २२

इस युग के कवियों ने भारत के संपन्न होने के लिए उद्योग धंधों के विकास का सपना देखा था, जो अभी तक पूर्ण नहीं हो सका है । वे चाहते थे टैक्स हटा दिये जायँ । यदि वे आज तक किसी तरह जीवित रह जाते तो निश्चय ही करो की भरमार से पिस कर मर जाते । ये कवि जानते थे :—

"मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अँग्रेजी राज्य क्षयी का । इनकी शासन प्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है ।"

—भारतेंदु हरिश्चन्द्र, 'बादशाह दर्पण' की भूमिका ।

(ङ) भाषा-प्रेम

भारतेंदु युग के नवीन धारा के कवियों मे अनुपम भाषा प्रेम था । वे हिन्दी के प्रचार के लिए तन-मन-धन से बराबर प्रयत्नशील रहे । भारतेंदु तो हिन्दी के लिए घर फूँक तमाशा देखने वाले फक्कडों में से थे । इन कवियों ने भाषा-प्रेम प्रदर्शन के लिए काव्य का भी सहारा लिया । १८७४ ई० मे अलीगढ इंस्टिट्यूट गजट और बनारस अखबार मे परम अहिंसानिष्ठ राजा शिव प्रसाद के हिन्दी प्रेम के कारण उन पर यह दोषारोपण किया

कि उनके द्वारा बीबी उर्दू मारी गयी। भारतेंदु बाबू एक मजाक पसंद थे। उन्होंने 'उर्दू का स्यापा' नामक एक गद्य-पद्य बद्ध रचना हरिश्चन्द्र चंद्रिका जून १८७४ ई० मे प्रकाशित कर दी। इसमे उर्दू की सहेली भाषाएँ अरबी फारसी, पश्तो, पंजाबी इत्यादि खड़ी होकर अपना सीना पीट कर स्यापा करती दिखाई गयी हैं :—

है है उर्दू हाय हाय—कहाँ सिधारी हाय हाय
मेरी प्यारी हाय हाय—मुंशी मुल्ला हाय हाय।

जून १८७७ मे भारतेंदु ने हिन्दी वर्द्धिनी सभा, प्रयाग मे हिन्दी संबंधी अपना जो प्रसिद्ध पद्यबद्ध व्याख्यान पढ़ा था, उसमे उन्होंने कहा है :—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल। ५

वे चाहते थे घर का घर पढ़ा-लिखा हो, क्योंकि—

खसम जो पूजै देहरा, भूत-पूजनी जोय
एकै घर मे दो मता, कुसल कहाँ से होय। २६

भारतेंदु हिन्दी भारती भाडार की वृद्धि के लिए अँग्रेजों की अनुवाद पद्धति पर अत्यन्त बल देते थे। उनका मत था कि संस्कृत, फारसी, अँग्रेजी सब जगहो से उपयोगी ग्रथो के अनुवाद होने चाहिए।

आल्हा बिरहहु को भयो अँगरेजी अनुवाद
यह लखि लाज न आवई तुमहिं न होत विखाद। ७७
अँग्रेजी अरु फारसी अरबी संस्कृत ढेर
खुले खजाने तिनहिं क्यो लूटत लावहु देर। ७८
सबको सार निकाल के पुस्तक रचहु बनाई
छोटी बड़ी अनेक विधि विविध विषय की लाई। ७६

१८ अप्रैल १६०० को हिन्दी के कचहरी प्रवेश से प्रसन्न होकर प्रेमघन जी ने ६१८ चरणों की एक लम्बी कविता आनंद बधाई नाम की लिखी थी। इसमे फारसी लिपि की बुराइयों का भी विवाद् विवेचन उन्होंने किया है।

लिख्यो हकीम औषधा मे आलू बोखारा
उल्लू बनो मोलवी पढे 'उल्लू बेचारा'
साहिब 'किस्ती' चही पठाई मुनसी 'कसवी
'नमक' पठायो भई 'तमस्सुक' की जब तलबी
पढत 'मुनार' 'सितार' 'किताब' 'कबाब' बनावत
'दुआ' देतहूँ 'दगा' देन को दोस लगावत

इसी प्रकार राधा कृष्ण दास जी ने 'मेकडानेल पुष्पांजलि' मे १८९७ ई० मे हिन्दी के कचहरी प्रवेश कराने पर तत्कालीन उत्तर प्रदेशीय लाट मेकडानेल साहब को धन्यवाद दिया है। बालमुकुंद गुप्त ने भी १९०० ई० मे किसी उर्दू शायर की कविता के उत्तर मे 'बी उर्दू को उत्तर' नाम से एक सुंदर कविता लिखी थी। प्रश्न और उत्तर दोनो के दर्शन कविता कौमुदी द्वितीय भाग मे किये जा सकते है। इस संबन्ध मे प्रताप नारायण मिश्र की 'तृप्यताम' (१८९१ ई०) महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'नागरी तेरी यह दशा!' (१८९८), आशा (१८९८), प्रार्थना (१८९८), नागरी का विनय पत्र (१८९९) तथा कृतज्ञता प्रकाश (१९००) मिश्रबधुओं की 'हिन्दी अपील' (१९००) अन्य उल्लेखनीय रचनाएं है। भारतेन्दु युग मे हिन्दी की दशा क्या थी, भारतेन्दु के ही शब्दो मे सुनिए——

भोज मरे अरू विक्रमहू किनको अब रोई के काव्य सुनाइए
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रथन नीर डुबाइए।
राजा भये सब स्वारथ पीन, अमीरहू हीन जिन्हे दरसाइए
नाहक देवी समस्या अबै यह 'ओष मै प्यारे हिम्मत बनाइए।'

हिन्दी के ये प्रेमी और कवि वस्तुतः उर्दू के विरोधी न थे। स्वयं भारतेन्दु 'रसा' नाम से, प्रेमघन 'अब्र' नाम से एवं प्रताप नारायण जी 'बरहमन' नाम से उर्दू मे कविताएँ कहा करते थे। हिन्दी बहुसंख्यको की भाषा होते हुए भी अपदस्थ कर दी गयी थी, इसी का उन्हे दुख था। अतः जब वे हिन्दी के कचहरी प्रवेश के लिये प्रयत्नशील थे, तब वे उर्दू के साथ कोई अन्याय नहीं करने जा रहे थे, बल्कि अपने अधिकार के लिये लड़ रहे थे।

च—धार्मिक काव्य

यद्यपि धार्मिक काव्य अभी तक एकांत-भक्ति का सूचक था और उसमे संप्रदायगत कट्टरता थी, पर इन युग मे धार्मिक कट्टरता उदारता मे बदली, जैसा कि भारतेन्दु के 'जैन कुतूहल' से स्पष्ट है :—

> खगावौ देखहु हौ भगवान कौ
>
> कहाँ कहाँ भटकत डोलत है, सुधि न ताहि कछु प्रान की
>
> तीन ताग मे कहुँ अटक्यौ, कहुँ वेदन मे यह डोले
>
> कहुँ पानी मे, कहुँ उपवासन, कहुँ स्वाहा मे बोलै
>
> कहुँ पथरा बनि बनि बैठो, कहुँ बिना सरूप कहायो
>
> मंदिर महजिद गिरजा देहरन डोलत धायो
>
> बादन मे पोथिन मे बैठ्यो वचन बनि आय
>
> 'हरीचद' ऐसे को खोजे केहि तल देहु बताय

सत्य ही अब भक्त केवल अपने लिए प्रार्थना न कर सम्पूर्ण भारत के लिये एक साथ प्रार्थना करता है, जैसा कि हमने पीछे 'प्रबोधिनी मे देखा था। नील देवी मे भी कवि कहता है :—

> कहाँ करुणानिधि केसव सोए
>
> जागत नेकन यदपि बहुत विधि भारतवासी रोये
>
> हाय सुनत नहि, निठुर भए क्यो, परम दयाल कहाई
>
> सब विधि बूडत लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई।

छ– प्रकृति

भारतेन्दु के पूर्व प्रकृति शृंगार रस के उद्दीपन विभाग की दृष्टि से ही हिन्दी काव्य मे प्रयुक्त हुई है। भारतेन्दु ने यद्यपि प्रकृति का अपने काव्य मे संश्लिष्ट चित्रण नहीं किया और वे मानव प्रकृति के ही कवि है तथा प्रकृति के कवि की सज्ञा उन्हे नहीं दी जा सकती, फिर भी उन्होंने 'गंगा वर्णन' 'यमुना वर्णन' और 'प्रात समीरन' नामक लंबी कविताएँ लिखकर प्रकृति को काव्य का आलंबन बनाया और हिन्दी काव्य में प्रकृति वर्णन को एक सोपान और आगे बढ़ाया। उन ऐसे नागर के लिए यही श्रेय क्या कम है ?

प्रकृति वर्णन को प्रकृत रूप मे अनुपस्थित करने का श्रेय श्रीधर पाठक को है। वे अंग्रेजी कविता से पूर्ण परिचित थे। कतिपय अनुवाद भी उन्होंने प्रस्तुत किए थे। अत. प्रकृति का उन्होंने अपने काव्य मे अच्छा वर्णन किया। वसंतागमन (१८८१), वसंत राज्य (१८८१), वसंत (१८८३), हिमालय (१८८४), मेघागमन (१८८५), सरस वसंत (१८५), घनाष्टक (१८८६), हेमन्त (१८८७), शरद्समागत स्वागत (१-९९), धन विनय (१८९९), गुणवंत हेमन्त (१९००), नववसंत (१९००), आदि कविताओ मे उन्होंने अभिनव प्राकृतिक दृश्य विधान किया है। आगे चल कर तो उन्होंने 'काश्मीर सुषमा' नामक प्रकृति वर्णन सम्बन्धी अनूठा काव्य ग्रंथ ही लिखा। पाठक जी का प्रकृति वर्णन यथार्थवादी है। बालमुकुंद गुप्त ने भी सुन्दर प्रकृति विधान किया है। प्रकृति वर्णन का संस्कृत कवियो का-सा रूप ठाकुर जगमोहन सिंह की कविताओ मे मिलता है।

ज– हास्य

इस संबंध मे शुक्ल जी अपने इतिहास मे लिखते है :—

"हास्य और विनोद के नये विषय भी इस काल मे कविता को प्राप्त हुए। रीतिकाल के कवियो की रूढ़ि मे हास्य-रस के आलंबन कंजूस ही चले आते थे। पर साहित्य के इस नये युग के आरम्भ से ही कई प्रकार के नये आलम्बन सामने आने लगे, जैसे पुरानी लकीर के फकीर, नये फैशन के गुलाम, नोच खसोट करने वाले अदालती अमले, मूर्ख और खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देश भक्त इत्यादि।"

स्वयं भारतेन्दु बाबू बहुत ही जिन्दादिल जीव थे—वैसे ही उनके अनुयायी प्रेमघन और प्रताप नारायण जी थे। तीनो व्यक्तियो ने हास्य रस की अनुपम सृष्टि की है। भारतेन्दु पहले व्यक्ति है, जिन्होंने हिन्दी मे पैरोडी लिखी, वे इसे 'आभास काव्य' कहते है। उन्होंने अमानत लिखित उर्दू के प्रथम नाटक 'इंदर सभा' की पैरोडी 'ख़ुदानत' के नाम से 'बंदर सभा' लिख कर की है। पर हास्य रस की ये सभी रचनाएँ ब्रजभाषा ही

मे नही है। अधिकाश उर्दू बहरो मे लिखित होने के कारण खड़ी बोली मे है, यथा—

जरदीन है, कुरआन है, ईमॉ है, नबी है
जर ही मेरा अल्लाह है, जर राम हमारा ।

हास्य रस की रचनाओं में अग्रेजी शब्दो का मिश्रण भारतेन्दु के द्वारा ही शुरू किया गया था।

होटल मे मदिरा पियें, चोट लगे नहि लाज
लौट गये ठाढ़े रहत, टोटल दैबे काज ।

ङ— अनुवाद

इस युग मे सस्कृत के अनेक काव्यों का अनुवाद व्रजभाषा काव्य मे हुआ, जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है। साथ ही कतिपय अनुवाद अग्रेजी से भी हुए। अग्रेजी काव्य ग्रथों के अनुवाद नवीनता का सूत्रपात करते है। १८८९ ई० मे श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'डिजर्टेड विलेज' का 'ऊजड ग्राम' नाम से ब्रजभाषा मे पद्यानुवाद किया। उन्ही के 'हरमिट' का 'एकान्तवासी योगी' के नाम से १८८६ मे एव 'ट्रैवेलर' का 'श्रात पथिक' नाम से अनुवाद पाठक जी ने खड़ी बोली मे किया है। कुछ और अन्य छोटी कविताओ का भी अनुवाद इन्होने किया। इसी समय ठाकुर जगमोहन सिह ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि लार्ड बाइरन क प्रसिद्ध काव्य 'प्रिजनर आफ शिलन' का पद्यानुवाद ब्रजभाषा मे किया। रत्नाकर जी ने १८९७ ई० मे पोप के 'ए से आन क्रिटिसिज़्म का अनुवाद समालोचनादर्श नाम से किया। और भी आगे चल कर सत्यनारायण कविरत्न ने मेकाले की एक कविता होरेशियम का अनुवाद किया। इन अनुवादो ने इसी ढंग की मौलिक रचनाओं के लिए भूमि तैयार की। प्रसाद का प्रेम पथिक (पहले व्रजभाषा मे ही लिखा गया था), शुक्ल जी का शिशिर पथिक आदि ऐसी ही सुन्दर मौलिक रचनाएँ है, जो गोल्डस्मिथ के हरमिट से निश्चय ही प्रभावित है। प्रेमघन जी का जीर्ण जनपद (१९०९ ई०) तो स्पष्ट ही डिजर्टेड विलेज से प्रेरित है। अंग्रेजी काव्य के प्रभाव से ही, विशेषकर 'ग्रे' की 'एलेजी' के

प्रभाव स्वरूप, हिन्दी में भी अनेक शोक काव्य लिखे गये हे। भारतेन्दु की मृत्यु पर (१८८५ ई०) श्रीधर पाठक एवं प्रेमधन, प्रताप नारायण मिश्र की मृत्यु पर (१८९४ ई०) अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध. और अम्बिकादत्त व्यास की मृत्यु पर (१९०० ई०) बाल मुकुंद गुप्त ने अत्यन्त प्रभावपूर्ण शोक काव्य लिखे हैं। ग्रे की उक्त एलेजी का भी अनुवाद १८९७ ई० मे आबू के विद्यारसिक ने 'ग्रामस्थ-लवागार-लिखित-शोकोक्ति' नाम से किया था।

ञ— लोकगीत

भारतेन्दु युगीन कवियो ने लोकगीतों की रचना की ओर भी विशेष ध्यान दिया। इस युग के पहले साहित्यिक कवि उच्चस्तर से नीचे उतरने के लिये तत्पर नहीं थे। कजली, होली, लावनी, बिरहा, चैता आदि लोक कवियों के लिये छोड़ दिये गये थे। इस युग में इस ओर सबसे पहले ध्यान भारतेन्दु के पिता गोपाल दास उपनाम 'गिरिधर दास' ने दिया। फिर भारतेन्दु ने इस प्रकार का प्रचुर साहित्य रचा। भारतेन्दु की होलियाँ, प्रेमघन की कजलियाँ, और प्रताप नारायण मिश्र की लावनियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भाषा और रूप विधान :

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है इस नवीन धारा की ब्रजभाषा विषयानुकूल है। वह बहुत साफ है। उसमे ग्रामीण शब्दो को ग्रहण किया गया है, जिससे अर्थ आसानी से समझ मे आ जाय और काव्य जन-काव्य हो सके, केवल कतिपय पढे-लिखे लोगों की कोठरियो या गोष्ठियो तक सीमित न रह जाय। ये नवीन कवि अरबी, फारसी, अंग्रेजी सभी शब्दो को सादर स्वीकार करते है। पुराने कवियों के समान इनमे न तो अप्रचलित शब्दों का प्रयोग ही मिलता है और न शब्दो की तोड-मरोड ही।

नवीन प्रणाली के कवियो ने नये विषयो के लिए कविता-सवैयों का प्रयोग नही किया। रोला, दोहा या कजली, लावनी आदि लोक-छंदों का प्रयोग इन्होंने बहुतायत से किया। ये सभी छंद मात्रिक थे, साथ ही तुकांत

भी। अम्बिकादत्त व्यास ने किसी मात्रिक छंद को अतुकान्त रूप देने का असफल प्रयास अवश्य किया था। कभी-कभी समस्या पूर्ति के रूप मे नवीन भावो को कवित्त-सवैया रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है।

इस युग मे काव्य के एक नये रूप का विकास हुआ। इसे निबंध काव्य कह सकते है। अभी तक किसी कथा के वर्णन के लिए प्रबंध काव्य थे। अब किसी विषय पर जम कर निबंध रूप मे भी काव्य लिखा जाने लगा है। इस नवीन रूप के भी प्रारम्भ का श्रेय भारतेन्दु को है। प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त एवं राधाकृष्ण दास सभी ने निबंध काव्य लिखे है।

इन नवीन रचनाओ की परम्परा से चले आते नवरसों मे से किसके भीतर रखा जाय—यह एक समस्या है ? रस इनमें हो या न हो, इनमे जीवन का प्रतिबिंब पूरा है। इन कविताओं को नये दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता है।

द्विवेदी-युगीन हिन्दी-काव्य

प्रो० राजनारायण मिश्र

भारतेन्दु युगीन अनिश्चितता के कर्दम से निकाल कर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-काव्य-साहित्य को एक नवीन आलोक दिया है। द्विवेदी-युगीन काव्य-साहित्य खड़ी बोली-कविता के विकास का मध्यकाल है तथा उसके परिवर्तन का दूसरा और तीसरा चरण है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पूरे 'द्विवेदी-युग' को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है--पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध के प्रतिनिधि कवि हैं—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध,' राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, ठा० गोपालशरण सिंह, पं० राम नरेश त्रिपाठी, प० रामचरित उपाध्याय, पं० सत्य-नारायण 'कविरत्न,' पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री सियारामशरण गुप्त और प० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि और उत्तरार्द्ध के प्रतिनिधि कवि श्री जयशंकर प्रसाद, निराला और पन्त आदि है। आचार्य शुक्ल ने सं० १९६० से सं० १९७५ तक के काल को खड़ी बोली-काव्य का मध्य-काल माना है और इसे ही 'द्विवेदी-युग' कहा है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' मे डा० श्याम सुन्दर दास और रायकृष्ण दास ने सन् १९३३ ई० तक के साहित्य को द्विवेदी-युग स्वीकार किया है। ठा० श्रीनाथ सिंह ने सन् १८९६ ई० से सन् १९३८ ई० तक द्विवेदी-युग माना है। सचमुच द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा का काल (सन् १९०१ से १९२० ई० तक) माना जा सकता है क्योकि इन्ही

के आसपास से परिवर्तन के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं।

दृष्टिकोण-परिवर्तन :—द्विवेदी-युग मे काव्य के वर्ण्य-विषय, छन्द-विधान, अभिव्यंजना-शैली और काव्य-भाषा के स्वरूप मे पर्याप्त मात्रा मे परिवर्तन हुआ है। इस युग की कविता मे विद्वान आलोचकों को 'इति वृत्तवाद' की स्पष्ट झलक मिली है। यह सत्य है कि खड़ी-बोली-काव्य के निर्माण-काल मे उच्चकोटि का कवित्व नही था, उसके पद्य-निबंधो मे वर्णनात्मकता की प्रधानता थी, किन्तु सभी कविताओं को इतिवृत्तात्मक मानना युक्ति संगत नही है क्योंकि उनके अन्तस्तल मे विभिन्न भाव-धाराएँ तरंगित होती रहती है। इस युग की हिन्दी-कविता नायक नायिका के शृंगार-वर्णन और समस्या-पूर्ति के संकुचित क्षेत्र से निकल कर विस्तृत भाव-भूमि पर विचरण करती है। नवीन विषयों पर कवियो ने रचनाएँ की तथा परम्परागत मानव, प्रकृति आदि को नवीन दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। बीसवी शती के विज्ञान-युग मे मानवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, जड में भी चेतन का आरोप हुआ, 'यही कारण है कि यह स्वाभाविक विकास की एक दिशा का ही सूचक है—विद्रोह या परिवर्तन का नहीं। विभिन्न अवतारों को मनुष्य रूप मे ग्रहण किया गया। असाधारण मानवत्व या देवत्व से आगे बढ़कर सामान्य मानव समाज को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया गया। पीड़ित तथा उपेक्षित के प्रति सहानुभूति, सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन, सन्मार्ग पर चलने का उपदेश आदि प्रवृत्तियाँ कविता के माध्यम से व्यक्त हुई। सहानुभूति के प्रधान पात्र—किसान, मजदूर, भिक्षुक, अछूत, विधवा और अशिक्षित नारियाँ बनी। आर्य-समाजी और सनातन धर्मी आन्दोलनों का प्रभाव काव्य के वर्ण्य-विषय पर भी पड़ा। गुप्त जी ने 'भारत भारती' मे उपदेशात्मक और उद्‌बोधनात्मक शैली को अपनाया। कही-कही व्यंग्यात्मक उपहास के रूप मे दम्भियो और पाखण्डियों पर भी छीटे डाले-गए। गुप्त जी ने 'किसान,' पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने 'कृषक-क्रन्दन,' श्री सियाराम शरण गुप्त ने 'अनाथ' जैसे विषयों पर कविताएँ की। वर्तमान के दुःखमय और अतीत के सुखमय चित्र अंकित कर कवियों की स्वतंत्र आकाक्षा ने राजनैतिक भावों की अभिव्यक्ति

की, भारत के प्रेम-पुरस्कार गौरव-गान द्वारा आस्था और विश्वास का भाव पैदा किया। अपने पूर्ववर्ती युग से द्विवेदी-युगीन कविता कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, निराशा तथा अविश्वास से आशा तथा विश्वास, दीनता-पूर्ण नम्रता से क्रान्ति-पूर्ण उद्‌गारों की ओर उन्मुख हुई। पूर्वार्द्ध मे प० श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्त, पं० राम नरेश त्रिपाठी, पं० रूप नारायण पाण्डेय, प० राम चरित उपाध्याय, कविरत्न आदि का स्वर नम्रता-पूर्ण रहा, उत्तरार्द्ध मे प० माखन लाल चतुर्वेदी, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, प्रसाद, पन्त और निराला आदि का स्वर क्रान्तिकारी उद्‌गारों से भर गया।

भारतेन्दु युग मे खड़ी बोली गद्य की भाषा का माध्यम तो स्वीकार की जा चुकी थी, किन्तु उसकी निश्चित, पुष्ट और व्याकरण-सम्मत शैली न बन पायी थी—काव्य-भाषा के रूप मे उसकी प्रतिष्ठा शेष थी। इसी पृष्ठ-भूमि मे आचार्य द्विवेदी ने सन् १९०३ ई० मे 'सरस्वती का संपादन अपने हाथ मे लिया और उन्होंने साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया। यह घटना हिन्दी खडी बोली के इतिहास मे युगान्तरकारी है। द्विवेदी जी के आगमन से तत्का-लीन साहित्यिक जीवन मे नवीन स्फूर्ति आयी—नव-चेतना का विकास हुआ और हिन्दी-साहित्य के 'रेनॉसा' युग का सूत्रपात हुआ। बिना इसके अध्य-यन के हिन्दी-साहित्य के विकास का अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी जी ने खडी बोली को पद्य-क्षेत्र मे आगे बढाया। वे स्वयं बड़े कवि न थे, किन्तु महान् कवियों के उत्प्रेरक अवश्य थे। अपने युग के महान् आचार्य, भाषा-शिल्पी, निबन्धकार, आलोचक, कुशल संपादक और लेखक के रूप मे उनकी महान् उपलब्धियाँ है।

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को व्यापक जन-भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित किया। इसका अर्थ यह नही कि उस समय ब्रज भाषा-काव्य की रचना नही हो रही थी। एक ओर द्विवेदी-युग के विभिन्न रुचि के वैष्णव और उदार मानवतावादी कवियों द्वारा खड़ी बोली का काव्य-सदन सजाया, संवारा जा रहा था, दूसरी ओर श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' जैसे निर्भीक कलाकार ब्रजभाषा की स्वाभाविक सरसता और मधुरता से अपने भावों को

अभिव्यक्त कर जनता के हृदय को जीत रहे थे। रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' और पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' के प्रयास इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है। यह ब्रज-भाषा प्रेम आधुनिक युग तक के हिन्दी-कवियो मे पाया जाता है। खड़ी बोली को काव्योचित भाषा का रूप देकर द्विवेदी जी ने उसके स्वर्णिम भविष्य का मार्ग खोला। बीसवी शती के प्रथम बीस-पच्चीस वर्षों मे महा-काव्य, खण्ड काव्य, आख्यानक-काव्य, प्रेमाख्यानक-काव्य, गीति-काव्य और नीति-काव्यो की रचना हुई। हिन्दी-काव्य-साहित्य उस समय की अवस्था और जीवन की विभिन्न मार्मिक अनुभूतियो के साथ पल्लवित और पुष्पित हुआ। परम्परागत प्रेम और सौन्दर्य के प्रति कवियो के दृष्टिकोण बदले, व्य-क्तिगत प्रेम, देश-प्रेम के रूप में और सौदर्य-भावना 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के रूप मे संघटित हुई। काव्य का वर्ण्य-विषय प्राचीन कथानकों के आधार पर नवीन का सन्देशवाहक बना; अवतारवादी भावना की लौकिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठा हुई। राम और कृष्ण लोकनायक के रूप मे चित्रित किए गए, राधा और सीता को लोक-सेविका का स्थान मिला। सदियो से उपेक्षित पात्रों का समानुभूतिपूर्ण चरित्रांकन हुआ यह खड़ी बोली काव्य के उत्तरोत्तर विकास के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी।

द्विवेदी-युग और प्रकृति—

प्रकृति में दृश्य-चित्रण की परम्परागत प्रणाली के आधार पर बिंब-विधान का भी संयोजन हुआ। नाम परिगणनात्मक शैली के आधार पर भी उसका चित्रण पूर्ववत् होता रहा तथा उससे नीति और सदाचार मूलक प्रेरणाएँ भी प्राप्त की जाती रहीं। भारतीय कलाकार सदा से भारतीय प्रकृति से सम्बद्ध रहे हैं। काव्य-क्षेत्र मे प्रकृति ने सौन्दर्य-बोध कराया है जिससे कला की सृष्टि हुई है तथा जिससे सत्य और आनन्द के भावो का परिस्फुरण भी हुआ है। प्रकृति हमारे मानसिक स्वास्थ्य का शुभ लक्षण बनी है। उद्दीपन-रूप मे षट्ऋतु वर्णन की परम्परा का पालन किया गया है और कहीं-कहीं प्रकृति का यथातथ्य चित्रण भी प्रस्तुत हुआ है। पं० श्रीधर पाठक से प्रकृति-चित्रण की दिशा में नवीनता के युग का आरम्भ हुआ है और उसमे

आलंबनत्व का भी विधान किया गया है। प्रकृतिपरक कविताओं में भाव की दृष्टि से भाव और रूप-चित्रण दोनों किया गया है। भाव-चित्रण में कवि एक दार्शनिक की भाँति प्रकृति का रहस्योद्‌घाटन करता है और रूप-चित्रण में कलात्मक भावों की अभिव्यक्ति होती है। कलाकार प्रकृति के ऐन्द्रिक दृश्यांकन द्वारा उसका बिंब-ग्रहण कराने का प्रयास करता है। सौन्दर्य की दृष्टि से वह प्रकृति के दोनों रूपों—मधुर और कठोर—का चित्रण करता है। इसकी भिन्नता का आधार स्थायी भावों की भिन्नता है। विभाव की दृष्टि से कवि उद्दीपन और आँलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण करता है। उद्दीपन के द्वारा वह भूमिका, वातावरण या पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है और आलम्बनत्व में वह प्रकृति को तटस्थ रूप से देखता है। कहीं वह निरूपित और निरूपीयता की दृष्टि से दृश्य-दर्शक तथा तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ता है और कहीं बिंब-विधान की दृष्टि से प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूपों में उसका चित्रण करता है। एक में उसका सुनिश्चित उद्देश्य होता है तथा दूसरे में प्रकृति-चित्रण, व्यंजक और उपस्थित मुख्य विषय, व्यग्य होता है। द्विवेदी युगीन हिन्दी-काव्य का सारा प्रकृति-चित्रण इन्हीं सिद्धान्तों पर हुआ है जो इस क्षेत्र में भावी विकास की दिशा का सूचक है।

प्रेम-भावना :—भक्ति-काल की प्रतिक्रिया में रीतिकालीन शृंगार-भावना का विकास ऐहिकतापरक था। यह क्रम भारतेन्दु युग तक यत्किंचित रूप में चलता रहा। द्विवेदी जी कठोर अनुशासन, उनके नैतिकतापरक दृष्टिकोण तथा तत्कालीन लोक-रुचि ने इसे नया मोड़ दिया। शृंगार या प्रेम-भावना जीवन की एक प्रधान और स्वाभाविक प्रवृत्ति है। घोर शृंगारिकता, असंयम, व्यक्तिगतत्व और कुंठाओं के कुत्सित विस्फोट के स्थान पर शिष्टता, संयम, व्यापकत्व और लोक पावनत्व आदि का समावेश हुआ। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला इसके उदाहरण-स्वरूप हैं। आलंबन की दृष्टि से प्रेम-निरूपण लौकिक (यथा, पन्त की ग्रन्थि में), आलौकिक (यथा, निराला की तुम और मैं कविता में), और मिश्र। (यथा, प्रसाद के आँसू में) रूपों में हुआ है। आश्रय की दृष्टि से वस्तु वर्णनात्मक और आत्माभिव्यंजक रूपों में भावाभिव्यक्ति होती है। प्रेम-पथिक (१९१४

ई०) और मिलन (१६१७ ई०) में रति के आश्रय, कवि के अतिरिक्त व्यक्ति है। अतः ये काव्य वस्तु वर्णनात्मक है। आँसू (स० १६८२) और ग्रन्थि (स० १६८३) मे रति के आश्रय स्वयं कवि है। अतः ये काव्य आत्माभिव्यंजक है। स्वरूप की दृष्टि से विवाहित और अविवाहित प्रेम के आधार पर उसका निरूपण होता है। विवाहित प्रेमादर्श धार्मिक और समाजानुमोदित होता है—यथा 'पथिक' और 'मिलन' मे अविवाहित प्रेम में—प्रथम दर्शन में ही—आत्मसमर्पण के भाव की प्रधानता होती है—यथा, 'आँसू' और 'ग्रन्थि' में। काव्य-विधान की दृष्टि से प्रेम-भावना का चित्रण प्रबन्ध, मुक्तक और प्रबन्धक मुक्तक—तीनो मे होता है। प्रबन्ध काव्य में किसी कथानक के सहारे प्रेमाभिव्यंजन होता है, मुक्तक मे बिना आख्यान के ही प्रेम-भाव के चित्र अंकित होते हैं और प्रबन्ध-मुक्तकों की रचना का उदाहरण 'आँसू' है। द्विवेदी युग की नैतिकता मूलक विचार-धारा ने नीति और सदाचार मूलक रचनाओं की सृष्टि की, लोक-रुचि को परिमार्जित कर स्वस्थ और दृढ़ मानसिक चिंतन की दिशा दी। जहाँ एक ओर वह सदाचार, संयम और नैतिकता की दृष्टि से मध्ययुगीन काव्य-साधना के निकट है, वहाँ दूसरी ओर वह अपने युग की सृष्टि भी है।

छंद योजना :—द्विवेदी-युग मे अधिकांशतया छन्दोबद्ध रचनाएँ ही अधिक हुई। किन्तु अतुकान्त कविताओं और गद्य-काव्य की प्रवृत्ति के स्पष्ट लक्षण भी दिखाई पड़े। संस्कृत रचनाओं के पद्यानुवाद से संस्कृत वर्ण वृत्तों का व्यापक प्रयोग—'प्रिय प्रवास' मे हुआ। श्री गुप्त जी ने गीतिका, हरिगीतिका और रूपमाला जैसे छन्दों का प्रयोग किया; उन्होंने बहुत से उद्बोधन गीत लिखे। बँगला के 'पयार' और अंग्रेजी के 'सानेट' का भी प्रयोग किया गया। प्रसाद जी ने 'चतुर्दशपदी' गीत लिखे। द्विवेदी जी ने उर्दू के 'बहरो' के प्रयोग का आदेश दिया। लाला भगवान दीन और 'हरिऔध' जी ने चौपदे, छःपदे आदि मे रचनाएँ की। इस युग मे बहुत अच्छे 'लावनी' कार भी हुए। ठा० गोपाल शरण सिंह ने खड़ी बोली मे घनाक्षरी और सवैया जैसे छन्दो का व्यापक और सफल प्रयोग अपनी रचनाओं मे किया। अतुकान्त-कविताओं को भी पर्याप्त मात्रा मे प्रोत्साहन

मिला और इसका सफल प्रयोग श्री 'निराला' जी की कविताओं मे हुआ। छन्द-योजना की दृष्टि से इस काल मे नए-पुराने प्रयोग बराबर चलते रहे जिसका चरम विकास 'छायावाद युग' मे सभव हो सका।

भाषा :—आलोच्य-युग मे खडी बोली की काव्य-भाषा के रूप में—प्रतिष्ठा एक महत्वपूर्ण घटना है। खडी बोली की प्रारम्भिक कर्कशता दूर हुई, भाषा की अभिव्यंजना शक्ति मे वृद्धि हुई, वह व्यापक और प्रवाह-पूर्ण बनी। श्रुति-मधुर कोमल कान्त पदावली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। व्याकरण-सम्मत सुष्ठु प्रयोग के साथ ही विषयानुकूल शब्द-स्थापना, अक्षर मैत्री, क्रमानुसार पद-योजना आदि का भी अनुरोध किया गया। गद्य और पद्य की भाषा का माध्यम—खड़ी बोली बनी। प्रारम्भ के कवियो मे प्रसाद, ओज और माधुर्य गुणों की कमी थी, किन्तु उत्तरार्द्ध मे प्रसाद गुण की व्यापक प्रतिष्ठा हुई। प्रसादत्व के कारण ही 'भारत-भारती' हिन्दी-जनता का हृदय हार बनी। 'प्रिय प्रवास' खड़ी बोली हिन्दी-काव्य का प्रथम महा-काव्य घोषित किया गया। प० नाथू राम शंकर शर्मा, पं० माखन लाल चतुर्वेदी और श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान मे ओज गुण का चमत्कार फूटा। इस प्रकार का परिवर्तन राजनैतिक और धार्मिक हलचलों से हुआ। अपने मूल रूप मे बनी रहने वाली व्यापक वीर-भावना—जापान की रूस पर विजय (सन् १९०४ ई०), बंग-भंग आन्दोलन, होम-रूल आन्दोलन, महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन से राष्ट्रीय विचार-धारा के रूप में परिणत होकर देश-प्रेम का गौरव गान करने लगी। इस प्रकार राष्ट्रीय-संघर्ष का अनुसरण करने वाली भाव-धारा निरंतर प्रवाहित होती रही। समय समय पर पाश्चात्य विचार-धाराओं का भी प्रभाव पड़ा जिससे भविष्य मे खड़ी बोली कविता सर्वांग पूर्ण हो सकी।

रहस्य-भावना :—

द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में रहस्य-भावना कभी उपनिषदों की दार्शनिक भावना के आधार पर अपने आराध्य के सर्वव्यापी चित्रण की ओर उन्मुख हुई, कभी भक्ति-भावना की भूमिका मे कवियों के रहस्य मूलक उद्‌गार

प्रकट हुए और कभी बौद्ध तत्ववाद में विश्वास करने वाले कवियों ने निराशा और दु.ख के भाव व्यक्त किए। यथा :—

'अरे अशेष ! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा।
आ मेरे आराध्य ! खिलाऊँ मैं भी तुझे खिलौना-सा॥
—माखन लाल चतुर्वेदी

+ + +

'सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार।
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार !!
प्रसाद : झरना, पृ० ७।

महत्त्व :—द्विवेदी-युग का आदर्शोन्मुखी दृष्टिकोण हिन्दी-काव्य के उत्थान में थोड़े ही समय तक सहायक रहा। कारण, इस युग के कवियों को नवीन और अनगढ़ भाषा का परिष्करण करना पड़ा, उसे परिस्थिति और वातावरण-सापेक्ष्य बनाना पड़ा और पूर्वार्द्ध की कर्ण कटुता, नीरसता और गाद्यिकता (Prosic) के स्थान पर रसानुगुण भाषा का प्रयोग करना पड़ा। परम्परागत शृंगार-प्रधान काव्य-धारा और राष्ट्रीय तथा जातीय काव्य-धारा का पुरस्सरण उसके अभिनवीकृत विभिन्न काव्य-रूपों में हुआ। द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध में ठोस साहित्य-निर्माण की अपेक्षा साहित्यकार-निर्माण का कार्य अधिक हुआ। 'प्रिय-प्रवास' के प्रकाशन (सं० १९७१) से द्विवेदी-युग उत्तरार्द्ध आरम्भ हुआ 'साकेत' का अधिकांश। (स० १९८२) तक लिखा जा चुका था। ये प्रबन्धात्मक रचनाएँ हैं। इस युग में खड़ी बोली के अधिकाश सुन्दर खण्ड-काव्य लिखे गए। गुप्त जी का जयद्रथ-वध (१९०१ ई०) किसान (सं० १९७४), पंचवटी (सं० १९८२), पं रामनरेश त्रिपाठी का पथिक (१९२० ई०), प्रसाद का प्रेम-पथिक (१९१४), सियारामाशरण गुप्त का मौर्य-विजय (सं० १९७१), श्री सुमित्रानन्दन पन्त कृत ग्रन्थि (स०१९८३) आदि उल्लेखनीय खण्ड-काव्य हैं। द्विवेदी-युगीन मुक्तक काव्य- रचना कई रूपों में हुई है'। कभी उसके मूल में सौन्दर्य-भावना की प्रवृत्ति है, कभी

समस्यापूर्ति की उपदेशात्मकता की, कभी गीतों की तथा कभी गद्य-काव्य की। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के अन्त तक साहित्यिक-परिवर्तन तो हुआ, दार्शनिक तथा कलात्मक परिवर्तन युद्धेतर काल में सम्भव हो सके। द्विवेदी-युगीन काव्य की प्रधान विशेषताएँ—विश्व-चेतना का उदय, सृष्टि के रहस्यों का उद्‌घाटन, एकान्त वेदना, अनन्त निराशा, सर्वचेतनवाद, प्रेम-भावना और प्रकृति पर चेतन का आरोप आदि है। इस युग की कविता नीरस और शुष्क इतिवृत्तात्मकता की ओर से भाव-पूर्ण सरस अभिव्यक्ति के प्रति; अलंकार, रस गुण आदि की ओर से मानव जीवन की उच्चतम वृत्तियो के प्रति; प्रकृति-वर्णन मे उद्दीपन की ओर से आलंबनत्व के प्रति, और परम्परागत रूढ़ियो के विरोध के प्रति उन्मुख हुई है। पराधीनता के अभिशाप से जिस समय सारा राष्ट्र रक्त के आँसुओं से रो रहा था, जिस समय प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बलिदान समझा जाता था, उस समय यदि हिन्दी-काव्य की गति-विधि बहिर्मुखता से हटकर अन्तर्मुखता की ओर झुकी तो यह स्वाभाविक ही था। अपने अस्तित्व के लिए छटपटाने वाली मान-वता का यदि एक ओर करुण-क्रन्दन है तो दूसरी ओर ओज पूर्ण आक्रोश मूलक उद्‌गार भी व्यक्त किए गए है। संघर्ष युगीन कविता का स्वर यदि कहीं-कहीं कठोर और कर्कश भी हो गया है तो यह उसकी विशेषता ही है।

निष्कर्ष :—द्विवेदी-युगीन हिन्दी-काव्य का इतिहास आधुनिक हिन्दी-कविता के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी है। यह कविता वर्णनात्मकता से कलात्मक ध्वन्यात्मकता तक पहुँची है। इसमे परम्परागत 'रति' के स्वरूप में स्वाभाविक परिवर्तन हुआ है। 'उत्साह' के आलम्बन के स्थान पर ऐति-हासिक महापुरुषों और वीरों की प्रतिष्ठा हुई है। हास्य-रस की रचनाएँ प्राय: अपरिष्कृत रुचि के पाठको का ही मनोरंजन करती रही किन्तु कही-कही व्यंग्य के अत्यन्त ही मार्मिक उद्‌गार व्यक्त किए गए है। करुण रस की व्यंजना विभिन्न रूपो में हुई है—कहीं मृत्युजन्य शोक के रूप मे, कहीं विप्रलम्भ शृंगार के रूप मे, कही दलित और पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के रूप मे और कही बौद्ध मत के प्रभाव से विश्व-व्यापी-वेदना

के रूप में। इतना निश्चित रूप से सत्य है कि इन उद्गारों में तो कहीं-कहीं कलाकार के अन्तर्जगत का हाहाकार ही ध्वनित हो उठा है। किन्तु इन स्वरों को हम पलायन का स्वर नहीं कह सकते वरन् अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील भारतीय जनता के पौरुष का स्वर है। इस युग की कविता में चमत्कार-विधान का भी समुचित समावेश है। चमत्कार-प्रतिपादन—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, मधुमती कल्पना, चित्रात्मकता, वचन-विदग्धता, और अलंकार-योजना के द्वारा सम्पन्न किया गया है। उत्तरार्द्ध में लिखी गई कविताओं में काव्य-कला का अत्यन्त ही रमणीय रूप प्रस्तुत हुआ है। गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला और चतुर्वेदी जी आदि की कविताओं में अप्रस्तुत-विधान, मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजना, संगीतात्मकता आदि का चरम विकास हुआ है। द्विवेदी युगीन हिन्दी-काव्य के विकास का महत्त्व इसी में है कि विषय, भाषा, छन्द-योजना और अर्थ की व्यापकता के आधार पर ही आधुनिकतम हिन्दी-काव्य की प्रधान प्रवृत्तियों का विकास सम्भव हो सका है।

छायावादी हिन्दी कविता : एक विवेचन

श्रीपाल सिंह क्षेम

छायावाद 'द्विवेदीयुग' की जड श्रृंखलाओं को तोड़, व्यक्ति और कला की स्वतंत्रता का समर्थन करने वाली वह मानववादी काव्य-धारा है जिसने युग की स्थूल वस्तुवत्ता मे झलकने वाली सूक्ष्म मर्म छाया को व्यक्ति के माध्यम से ग्रहण कर, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौदर्यमय प्रतीक विधान और उपचारवक्रता के सहारे उसे मूर्तिमान करना अपना लक्ष्य बनाया है। वह वाद की दृष्टि से जितना ही उलझा है, जीवन की दृष्टि से उतना ही सुलझा। मनोविश्लेषण के पक्ष से जितना ही पलायनशील और वायवी है, सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही साधना-शील और जीवनमय। साहित्य में 'व्यक्तित्व' की प्रतिष्ठा उसका प्रसार है तो 'व्यक्तिवादिता' उसकी सीमा है; वस्तु का अंतः सौंदर्य यदि उसका वरदान है तो अतिकाल्पनिकता उसका अभिशाप।

'प्रसाद' जी 'छायावाद' के अन्तर्गत आने वाली हिंदी खडी बोली में नवीन 'काव्य धारा' के वास्तविक प्रवर्तक थे। 'निराला', पंत, एवं 'झंकार' के गुप्त 'प्रसाद' के वाद के है।

छायावादी कविता में भाव तत्व एवं विषय-गत प्रवृत्तियाँ :—

भारतीय 'रस-शास्त्र' मे 'भवन्तीति भावा' मानकर मन मे होने वाले विकारों को 'भाव माना गया है। पाश्चात्य विचारणा के अनुसार तो 'भाव' का स्थान भी 'Mind' (मस्तिष्क) ही है—परन्तु भारतीय

परम्परा मे 'बुद्धि' से अलग करते हुए उसका स्थान 'हृदय' कहा जाता है। साहित्य मे भी भावो का बडा महत्त्व माना गया है। रस सम्प्रदाय के अनुसार तो 'भाव' ही काव्य का मूलाधार है। 'स्थायी' एवं 'संचारी' भावों के रूप मे उनके विभेद भी किये गए है और 'अनुभाव' एवं 'सात्विक भावों' मे उनके वाह्याभिव्यजको एवं लक्षणो को समाविष्ट कर लिया गया है। भाव विहीन काव्य कभी भी उच्चकोटि के काव्यो मे परिगणित नहीं हो सकता। साहित्य के अन्य रूपो मे जहाँ अन्तःकरण की अन्य वृत्तियाँ प्रधान होती है वहाँ कविता मे भाव ही प्रधान माने गये है। इन्हीं भावो की प्रधानता के कारण काव्य का प्रभाव सार्वभौम एव सार्वजनीन माना गया है। अनुभूति (भावो एवं विचारो के ज्ञान की सुप्तावस्था) काव्य के लिए आवश्यक एव प्राथमिक उपादान है क्योंकि बिना अनुभूति के कल्पना द्वारा पुनरानयन होगा किसका ?

छायावादी रचनायें अनुभूति प्रधान कही जाती है। 'छायावाद' के प्रस्थापक कवि श्री 'प्रसाद' जी ने 'छायावाद' की विशेषताओ मे 'स्वानुभूति की विवृत्ति' का भी एक स्थान माना है। वे काव्य की 'अनुभूति' को 'मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था' मानते है। उनका कथन है कि 'कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्यवर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति की अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी मे उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया। 'स्वानुभूति' मे कवि का तात्पर्य 'निजी अनुभूति' या 'व्यक्तिगत अनुभूति' से है, जो 'जन-सामान्य अनुभूति' या लोकभूमि पर लायी गयी अनुभूति के साथ विभेद का वाचक है। छायावादी कवि एक 'स्थायी भाव के भीतर जितनी भी भावनाओ का अनुभव करेगा, वह उन्हे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देगा। वह सोचता है कि भावो के तारो से प्राणि-समष्टि परस्पर आबद्ध है। छायावादी कवि अपनी स्फुट कविताओ एव गीतो मे 'स्वय' 'आश्रय' ही है। 'आश्रय' की अनुभूतियो का चित्रण ही छायावादी काव्य मे प्रमुख है, 'आलम्बन' का चित्रण अपेक्षाकृत न्यून। छायावादी कवि अपनी निजी अनुभूतियो का ही चित्रण सीधे अपने गीतों एवं कविताओं मे

करता है, अपने से पूर्ववर्ती कवियों की भाँति वह अपने व्यक्तित्व को परोक्ष मे नही रखता। भावसंवेदन एवं प्रभाव-सृष्टि के लिये वह मात्र 'प्रख्यात' अथवा 'उच्चकुलोद्भव' नायक के ग्रहण करने का समर्थक नहीं। गीति-प्रधानता होने से इस काव्य मे 'शृङ्गार,' 'करुण,' 'वीर' एवं 'रौद्र' रसो का प्राचुर्य है।

छायावादी काव्य मे 'वेदना,' 'पीडा,' 'व्यथा,' एव टीस आदि का पर्याप्त वर्णन हुआ है। 'प्रसाद' के 'आँसू' की कथा व्यथा से गीली है, तर-बतर है। पंत की 'ग्रंथि' भी व्यथा से उद्भूत हुई है। महादेवी वर्मा का तो सम्पूर्ण कृतित्व ही वेदना का वरदान है। ये छायावादी कवि बडे ही भावुक तथा सवेदनशील रहे है। इस वेदना विवृत्ति के मूल के कई कारण है—

(१) व्यक्तिगत जीवन का असंतोष।

(२) समाज में फैले व्यापक उत्पीडन के प्रति असतोष।

(३) दुःखवादी जीवन- सिद्धान्तो की मान्यता मे विश्वास (बौद्ध-दर्शन का आकर्षण)

छायावादी कवियो ने वेदना को वरदान स्वरूप ग्रहण किया है। महादेवी जी का कथन है कि "दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र मे बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमे चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सके, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाये बिना नही गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख को सब को बाँटकर—विश्व जीवन मे अपने जीवन को, विश्व-वेदना मे अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिंदु समुद्र मे मिल जाता है—कवि का मोक्ष है।" जीवन को विरह का जलजात बना देने वाली महादेवी जी की निम्न पंक्तियाँ उनकी भावना की प्रतीक है—

"विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना मे जन्म करुणा मे मिला आवास॥
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात।"
('नीरजा')

पंत ज्योत्स्ना में भी दुःख की छाया का दर्शन करते हैं। 'छाया' के आरम्भिक कवियों मे 'बुद्ध-दर्शन' के प्रति एक आकर्षण दिखाई पडता है।

सौंदर्याकर्षण एवं प्रेमाभिव्यक्ति भी 'छायावादी' कवियो की एक प्रधान प्रवृत्ति है। छायावादी कवियो ने अपनी प्रेमगत कुण्ठाओ को परिष्कृत भावना एवं श्रेयमय चिंतन का उदात्त स्तर प्रदान किया है। यह प्रेम संयोग एवं वियोग अपने दोनो पक्षों मे प्राप्त है। लौकिक होते हुये भी इन वर्णनो की विशेषता यही है कि इनमें शारीरिक पुकार नही, उच्च आत्मिक सोपानो का तृप्तिकारी प्रकाश है। 'प्रसाद' का 'प्रेम-पथिक' एव 'पंत' की 'ग्रंथि', प्रेमपीड़ा एव उदात्त अनुभूतियो की मणि-मंजूषा है। 'प्रेम-पथिक' की प्रेम-सात्विकता अत्यंत उच्च श्रेणी की है।

संयोग-पक्ष की शुद्ध श्रेणी मे आने वाला अंश 'छायावादी' काव्य मे अपेक्षाकृत कम है। रूप एवं सौंदर्य चित्रण सम्बन्धी उक्तियाँ भी या तो विरह काल में स्मृति के रूप में उपस्थित हुई है अथवा 'पुर्वानुराग' के रूप मे। शुद्ध-संयोगपक्ष का रूप कामायनी मे उस स्थल पर बडे ही सुन्दर ढंग से उपस्थित हुआ है, जब 'मनु' और 'श्रद्धा' सहसा एक दूसरे को देखते हैं। 'झरना' की अधिकांश कवितायें प्रेम मूलक हैं। प्रसाद जी—प्रेम के प्रसार एवं उसकी शक्ति के कायल थे। इसी से उनका प्रेम न तो वायवीय ही है और न मात्र शारीरिक। प्रसाद जी के प्रेम-वृक्ष का मूल जीवन के ठोस धरातल मे फैला हुआ है और उसकी चोटी आध्यात्मिकता के दिव्य आकार मे लहरा उठी है। कवि की कल्पना सदैव रूप-सौंदर्य के व्यापक चित्र उपस्थित करने मे समर्थ होती है और उनके अंकन का चित्रपट विशाल होता है। लज्जानत किन्तु गर्वीले सौंदर्य का चित्र कितना उदात्त, रसमय, साथ ही सटीक है। इसमे रूप की सीमा नहीं, उसकी असीमता का आनन्द है—

> "तुम कनक किरण के अंतराल मे,
> लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
> नत-मस्तक गर्व वहन करते,

यौवन के घन रस-कन ढरते,
हे लाज-भरे सौंदर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?''

(चन्द्रगुप्त नाटक)

निराला जी की शृङ्गार-क्षेत्र की तटस्थता अपूर्व है। 'सरोज के प्रति' कविता इसका उच्च प्रमाण है। पंत का प्रेमी अपनी कल्पना में ही संतुष्ट हो जाता है, पर निराला का प्रेमी उसे जीवन की भूमि पर सतेज बनाता है। कामायनी के पूर्व प्रसाद का प्रेमी अपने अतीत विलास की स्मृति मे व्यथित है, और निराला का प्रेम-भाव सदैव सामाजिक मर्यादा की भूमि पर भास्वर हुआ है। प्रसाद, पंत, निराला आदि छायावादी कवियो के सौंदर्य में ऐन्द्रियता का वर्णन भी इतनी निस्संग कल्पना से किया गया है कि वह अतीन्द्रिय हो उठा है।

वियोग पक्ष छायावादी प्रेरक कविता मे संयोग की अपेक्षा अधिक सबल है। 'प्रसाद' का आँसू कवि की निगूढ़ विरहानुभूतियों की ही अनुपम देन है। छायावादी काव्य मे 'कामायनी' के बाद 'आँसू' ही सर्वाधिक विश्रुत रचना है। 'आँसू' प्रेम के मांसल पक्ष की उद्भूति नहीं, वरन् सौंदर्य एवं प्रेम के कवि की आध्यात्मिक स्थिति का प्रतीक है। जीवन की लौकिक भूमि पर उत्पन्न प्रेम की यह लता धरती से ही रस लेकर आकाश मे लहलहा उठी है। छायावादी कविता मे मानवीय प्रेम का विरह-पक्ष जितना उदात्त, व्यापक एवं मानवता के त्याग एवं बलिदान की भावनाओ से उज्ज्वल हो उठा है, उतना अन्य किसी भी युग मे नही। भक्तिकाल का प्रेम अलौकिक है और रीतिकाल का दैहिक। छायावादी विरह कायिक नहीं मानसिक है। 'ग्रन्थि' से पंत की ये उक्तियाँ कितनी निराशा, विवशता, उदासी एवं असंतोष से कसमसा रही हैं—

'शैवालिनि ! जाओ मिलो तुम सिंधु से,
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का।
चन्द्रिके ! चूमो तरंगो के अधर,

उडुगणों ! गावो पवन-वीणा बजा।
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,...।'

'प्रसाद' का विरह आवेग-मय, 'पंत' का कलामय, किंतु महादेवी का विरह साधनामय है। छायावादी कवियो का विरह एक प्रकार की मस्ती मे भरा है। 'प्रसाद' की मस्ती मे एक आवेगमय विस्मरण है, तो पंत की मस्ती मे सुषमा की प्यास है और महादेवी के मतवालेपन मे संयम की दीप्ति। 'निराला' की मस्ती मे एक निर्द्वन्दता एवं दार्शनिक तटस्थता है।

वेदना एव प्रेम-सौंदर्यात्मिक रुचि के अतिरिक्त तीसरी प्रवृत्ति के प्रकृति के प्रति सामान्य आकर्षण है। छायावाद मे आए हुए प्रकृति के रूपो एवं उनके स्थान का विस्तृत विवेचन पुस्तक के एक स्वतंत्र अध्याय का विषय है किंतु संक्षेप में इतना ही जान लेना अलम् होगा कि छायावादी कविता मे साध्य औरसाधन दोनो ही रूपोमे प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सारूप्य, साधर्म्य, एवं प्रभाव सृष्टि, तीनो ही उद्देश्यो से प्रकृति का सुषमा संभार छायावादी काव्य मे भरा हुआ है। परम्परागत उपमानो एव उपकरणो के अतिरिक्त अपने निजी निरीक्षण एवं प्रभाव के बल पर इन कवियो ने पुरानी एवं नवीन दोनो ही सामग्रियों को नये ढग मे सजाया है। छायावाद एवं प्रकृति के इसी घनिष्ट सम्बन्ध क आधार पर कई विद्वानों ने छायावाद को ही एक प्रकृतिपरक दर्शन मान लिया है। प्रकृति के निजी सौंदर्य के स्थान पर कवियो ने उनके प्रति अपने व्यक्तिगत प्रभाव एव निजी अनुभूतियो को ही प्रधानता दी है। आलम्बन रूप मे भी जहाँ प्रकृति आई, कवि की अपनी कल्पनाएँ, प्रेरणा के फलस्वरूप उद्भूत निजी भावधारायें या विचार स्रोत ही प्रधान हो उठे है। कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया है और उन पर निराकार भावना का आरोप कर उनसे मानवोचित व्यापार कराये है। प्रकृति के ऐसे सुन्दर भावमय चित्र सम्पूर्ण हिंदी साहित्य में विरल हैं। पंत की लहरों मे किसी के 'मौननिमंत्रण' सुनने मे लेकर नक्षत्रों एवं प्रकृति के दैवीकरण तथा अज्ञात के प्रति जिज्ञासा तक के विविध रूप विविध-स्थलो पर प्राप्त होते हैं। 'निराला' मे अद्वैतवादी वर स्वामी रामतीर्थ एवं विवेकानन्द की विचारावली का प्रभाव, आत्मा-परमात्मा के बीच चलने

वाली प्रणय-क्रीड़ा के मधुर भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते है। प्रसाद जी ने सृष्टि के विस्तार की मूल की ओर रहस्यात्मक संकेत किया है, और विमल इन्दु की विशाल किरणों, में 'उसी' का 'प्रकाश' देखा है।

नारी के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण भी छायावादी कवियों की एक विशेषता है। वीरगाथा काल मे नारी, अधिकार मे कर लेने की एक सचल सम्पत्ति से अधिक कुछ भी न थी। भक्ति-युग के पूर्व काल मे वह माया की प्रतीक रही। उत्तर काल मे कृष्ण-शाखा मे राधा एव गोपियों के रूप मे पूज्य अवश्य बनी, पर वह भी नारी का अबला रूप ही है, जो बिरह मे केवल आँसू ही बहाती रहती है। राम भक्ति-शाखा मे सीता, कौशिल्या आदि के रूप मे यदि उसका उदात्त रूप व्यक्त हुआ है तो कैकेई एवं मंथरा के रूप मे उसका दुष्ट पक्ष भी। यद्यपि यह भी ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा प्रकट नही किया जा सकता कि काव्य भक्ति मे आए ये रूप तत्कालीन समाज के ही स्त्री के रूप है। रीतिकालीन काव्य मे व्यक्त नारी का रूप तो वासना-पुत्तली से अधिक कुछ भी नही, यही नही, राधिका का उज्जवल भक्तिकालीन रूप भी राज सभाओं की विकास-भूमि मे आकर साधारण नायिका के स्तर पर आसीन हो गया। द्विवेदी युग ने अवश्य ही उसके शक्ति एवं मातृरूपों के साथ आदर्श पत्नी-राम को भी प्रतिष्ठित किया है पर वहाँ भी वह तथाकथित उच्चादर्श एवं जड़ नैतिकता की लक्ष्मण-रेखा से घिरी रही, उसका सहज मानवी-रूप प्रतिष्ठा न पा सका छायावादी युग में आकर स्त्री के जिस रूप का चित्रण हुआ, वह पुरुषों से बहुत दूर पर भी सीमा मे बन्द, देवी का रूप नही, वरन् सच्चे अर्थ मे मानवी का रूप है। उसकी एक स्वतंत्र सत्ता है, वह खैर पैर की जूती नही है वरन् वह मानव की चिरसंगिनी, प्रेम-प्रणय एवं दया स्नेह के दास से मानव को संघर्ष पथ पर अग्रसर करने वाली एक शक्ति है। वह निराशा मे आशा, अधकार मे ज्योति एव पराजय मे धैर्य का संदेश है। वह मनुष्य के डगमगाते पगों में गति की दृढता एवं जीवन की बिखरी हुई शक्तियों में सन्तुलन का सम्प्रदान करती है।

छायावादी काव्य में 'मानववाद' की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है।

मानव अपने मानव रूप में ही महान है वह देवत्व और किसी मानवोत्तर पद के द्वार का भिखारी नहीं। महापुरुषों, देवताओं और महाराजाओं के स्थान पर जहाँ आधुनिक युग ने जनसाधारण एवं मानवता को अपनाया वहाँ धीरे-धीरे मानव महिमा का स्वर भी ऊँचा हुआ। मनुष्य अपनी सहज सशक्तता एवं दुर्बलता के रहते हुए भी उसी में महान् है। मानवता का जय-गान करते हुए कहते है—

'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे है हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त
विजयनी मानवता हो जाय॥'

'पंत' जी कहते है कि विहग भी सुदर है और सुमन भी सुंदर है किंतु मानव सबसे सुन्दरतम है। देवी जी कहती हैं—

'अमरो का क्या लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव अरे, यह
मेरा मिटने का अधिकार।'

इस छायावादी काव्य-प्रयास के विकास मे एक सास्कृतिक दृष्टि एवं राष्ट्र-प्रेम की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। सौंदर्य के सूक्ष्म रूपों के प्रति आकर्षण, प्रेम की उपयोगिता एवं उसकी शक्ति का आकलन, करुणा की महत्ता, दुख की स्वीकृति, दुखियों के प्रति संवेदना-सहानुभूति आदि तत्व जहाँ एक ओर मानव के पशुत्व के परिस्कार एवं स्वार्थ के संस्कार की दिशा मे संकेत करते है, वहीं बौद्धधर्म का प्रभाव, शैवदर्शन, दुख-वाद, अद्वैत-वाद एवं स्वामी रामतीर्थ और विवेकानंद के दार्शनिक विचार, महर्षि रमन की चिंतधारा तथा मानववाद एवं रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पुकार और जनसाधारण तथा युगसंस्कृति के निर्मायिक तत्वों के संकेत, एक उदार एवं मानववादी संस्कृति की दिशा मे उसके पद-चिन्हों के परिचायक है। 'प्रसाद' जी पहले बौद्धों की करुणा से प्रभावित हुए थे

परन्तु धीरे-धीरे शैवो के 'आनन्दवाद' की ओर अग्रसर होते गए। कामायनी, मे समरसता के आधार पर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की गई है। हृदय और बुद्धि के संतुलन मे ज्ञान, इच्छा और कर्म का सामंजस्य ही आनन्द का पथ है। पंत की प्रतिभा बडी समन्वयशीला एवं सामयिक प्रश्नो के प्रति प्रगतिचेता रही है। प्रारम्भ में प्राकृतिक दर्शन एवं सौंदर्यवादी प्रवृत्ति से लेकर जनवादी विचार धारा, गाँधीवाद, साम्यवाद एवं महर्षि रमन के दर्शन तक कवि को प्रतिभा-यात्रा के सभी पाषाण चिन्ह, आधुनिक समाज के सामने एक स्वस्थ एवं उपादेय सांस्कृतिक समाधान रखने के उनके प्रयत्न के ही द्योतक हे। कवि ससार की वेदना मे तपकर जीवन की पूर्णतम मूर्ति रचना चाहता है।

छायावादी काव्य मे संस्कृति के प्रति एक सजग चेतना की अर्न्तधारा वर्तमान रही है। इस दिशा मे प्रसाद, निराला, महादेवी आदि ने नवीनता को मनोनिविष्ट करते हुए भी, अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि मे भारतीयता को इस प्रकार ग्रहण किया है कि वह उसकी ही एक कड़ी और आधुनिक परिस्थिति मे उसका अग्र विकास सा ज्ञात होता है। छायावादी काव्य की यही सांस्कृतिक चेतना यह सिद्ध करती है कि वह मात्र एक कलात्मक प्रयास ही नही था वरन् वह तत्कालीन जीवन की एक स्वस्थ प्रतिक्रिया के रूप मे व्यक्त हुआ था। तत्कालीन जीवन के प्रति असतोष की भावना देश के राजनीतिक द्वार मे भी टकराई और कवियो ने राष्ट्रगीत एव देश-भक्ति सम्बन्धी गीत भी लिखे। इन राष्ट्र प्रेम सम्बन्धी रचनाओ मे अंग्रेजी के स्वदेश सम्बन्धी रचनाओ की सी साम्राज्यवादी एव अपने ही राष्ट्र को जन्मजात शासक सिद्ध करने की संकुचित भावना नही आई।

यह देश-प्रेम मानव हृदय की उदात्त वृत्तियो, क्षमा, दया, उदारता, त्याग एवं बलिदान पर पल्लवित हुआ है। 'चन्द्र गुप्त नाटक' मे भारती की गरिमा पर रीझी ग्रीस-निवासिनी 'कार्नेलिया' के स्वरो मे देश-प्रेम का जो परिष्कृत, उदात्त, एवं व्यापक रूप प्रकट हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार निम्न प्रयाण-गीत भी अपनी उदारता, उच्चता में कितना ओजमय है।

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती !

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो ।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो !!'

(चन्द्र गुप्त)

'भारति जय विजय करे' जैसी पंक्तियों के अमर गायक महाप्राण निराला जी ने छायावाद की वीणा से एक विशाल मानव-मूलक राष्ट्रीयता का मन्द्र निर्घोष निकाला है । 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता में कवि ने भारत-वासियों की निद्रावस्था एवं अतीत काल के शौर्य की झाँकी उपस्थित कर, देश के लिए भविष्य एवं कर्त्तव्य कर्म का बडा ही मार्मिक संकेत दिया है । 'शिवा जी का पत्र' शीर्षक कविता मे, यवनों के आघातो के विरुद्ध शिवा जी द्वारा दिए गए एक सांस्कृतिक प्रयास एवं जातीय रक्षा का प्रयत्न संकेतित है । प० माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय कविताओं मे तत्कालीन भारतीय समाज की दुरवस्था के चीत्कार कविता बनकर फूट पड़े हैं । इनमे आकुलता नही, मुक्ति की एक स्वस्थ शीतल साधना है, जो शील से उज्ज्वल है । 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता मे उन्होंने इस समय की मुक्ति-कामी तरुणाई की चाह को वाणी दे दी है । इस कविता का एक ऐतिहासिक महत्व भी है । किसी समय इसका पाठ एवं स्मरण कर देश के लिए सर पर कफ़न बाँधकर चलने वाले नौनिहाल राष्ट्र सिपाही हँसते-हंसते जेलो के भीतर अपनी जवानी की समाधि देते थे—

"मुझे तोड़ लेना बनमाली ! उस पथ पर देना तुम फेंक;
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने जिससे जायें वीर अनेक ।"

पंत जी को भावुक कल्पना ने भी महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय व्यक्तित्व का महत्व समझा था । वे राष्ट्रीयता के भी बहुत आगे 'साम्यवाद' तक पहुँच गए, 'ग्रामवासिनी' भारतमाता को वे भी न भूल सके—

'भारत माता ग्राम-वासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आंचल
गंगा-यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा 'उदासिनी।'

छायावादी काव्य प्रधानतः गीतात्मक है। प्रारम्भ के कवियों ने स्फुट प्रगीतों में ही रचनाएँ प्रारम्भ की। गीत एवं प्रगीत में अंतर स्पष्ट है। 'गीत' संगीत के स्वर-ताल-लय पर बँधी रचना होती है और 'प्रगीत' में संगीत का ऐसा कठोर बंधन नहीं होता। उसमे स्वर-मैत्री एवं नादार्थ व्यंजना का प्राधान्य होता है जिसे आन्तरिक संगीत और शब्द-जन्य संगीत कहा जा सकता है। भाव तत्व की तन्मयता, कल्पना का सुखद स्पर्श एवं भाषा के स्वर-सामंजस्य को गीति-तत्व में सम्मिलित कर सकते हैं। भावों की यही आध्यात्मिकता, चित्रात्मक अभिव्यक्ति एवं स्वर-मैत्री 'छायावादी युग' के प्रगीतों की विशेषताएँ है।

कल्पना—काव्य-गत अनुभूति, कल्पना के सहारे भाषा में अभिव्यक्त होकर ही सामने आती है, अतएव अनुभूति एवं कल्पना का विभाजन बड़ा कठिन होता है, पर सुविधा के लिए, साहित्य-मनीषियों ने कविता पर विचार करते हुए कल्पना, भाव अथवा राग, बुद्धि एवं शैली अथवा अभिव्यक्ति-नाम से उसके चार तत्व माने हैं रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से कल्पना को हमने इसीलिए सर्वप्रथम-ग्रहण किया है कि यद्यपि भाव-अथवा राग ही कविता का मूल है किन्तु भावावस्था मे कलात्मक सर्जन की चेष्टा जब तक नहीं आती जब तक उसमें कल्पना का मिश्रण नहीं हो जाता अथवा कल्पना भाव-विशेष के संस्कारो को पुनः अंतश्चक्षुओं के सामने नहीं उपस्थित कर देती। कल्पना मन की शक्ति है। कल्पना के सहारे ही कवि अथवा कलाकार जीवन-जगत में दृष्ट अथवा अनुभूत अथवा वस्तुओ को अपने अन्तर्जगत् मे पुनः प्रस्तुत करता है। कल्पना के द्वारा 'बिम्ब-ग्रहण' के पश्चात् ही कविता की सृष्टि संभव है। भाव दशा में तो भोक्ता उसमें इस प्रकार आसक्त होता है कि उसकी कल्पना उस समय सुप्त रहती है।

कविता-रचना के लिए जिस तटस्थता की आवश्यकता होती है, वह कल्पना के मिश्रण के पश्चात् ही संभव होती है।

छायावादी काव्य के मूल भाव अथवा प्रेरक अनुभूति पर ही शंका उत्पन्न होने के दो कारण थे—एक अभिव्यक्ति में कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान, दूसरे भावों एवं अनुभूतियों के विविध एवं परिवर्तित-परिष्कृत रूपों का उद्घाटन। अभिव्यक्ति में कल्पना का—महत्त्वपूर्ण स्थान—इसके उदाहरण स्वरूप' कामायापनी' में 'श्रद्धा' के रूप वर्णन एवं पंत के 'परिवर्तन' की पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती है। 'श्रद्धा' के रूप का वर्णन दर्शनीय है—

'कुसुम कानन-अंचल में मन्द, पवन प्रेरित सौरभ साकार।
रचित परमाणु-पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो इस पर शुभ्र, नवल मधु राका मन की साध।
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब, मधुरिमा खेला सदृश अबाध।'

कविवर पंत की कविता का कल्पना-विकास हिन्दी के आधुनिक साहित्य अपना विशेष स्थान रखता है। यदि 'नक्षत्र' जैसी कवितायें अपवाद स्वरूप मानी जायँ, जहाँ कल्पना ने उसे 'निद्रा के रहस्य कानन', 'सूर-सिंधु तुलसी के मानस', एवं 'स्वप्नों के नीरव चुम्बन' में अध्यवसित कर दिया है, तो यह मानना पड़ेगा कि सुमित्रानंदनपंत के भाव एवं रूपाभिव्यक्ति में भी कल्पना का बड़ा कुशल प्रयोग हुआ है। 'परिवर्तन' एक सूक्ष्म भावात्मक संज्ञा है, जिसका लक्ष्य तो होता चलता है, पर जिसकी कोई स्थूल सत्ता नहीं निर्दिष्ट की जा सकती। अपनी विराट् विधायक कल्पना के सहारे कवि ने समय, ऋतु, आयु, युग, भाव स्थिति आदि के परिवर्तित रूपों का ऐसा सचित्र वर्णन किया है कि उसकी समस्त भीषणता, पृथक आंदोलन शक्ति एवं गतिमान की प्रत्यक्षता नेत्रों के सामने मूर्त-सी हो उठती है। प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' के 'अधखुले अंग' की प्रभावानुभूति के लिए कल्पना की जिस सुनहली तूलिका का सहारा लिया है, वह कितनी कमनीय है। मेघों का वन चाहे भले ही न होता हो और बिजली का फूल भी किसी ने भले ही न देखा हो, किंतु 'श्रद्धा' के नील परिधान से झाँकते

अधखुले गौरारुण अंग का कमनीयता का दर्शन तो वही कर सकता है जो कवि की कल्पना के साथ रूप के मधुर आलोक मे, इस काव्यात्मक उक्ति के साथ ही मेघों के वन मे बिजली के गुलाबी कंचन पुष्प की सहजानुभूति कर सके—

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग। (कामायनी)

प्रसाद की कल्पना भाव नीति है, निराला की दर्शन बोझिल, एवं महादेवी जी की चिंतन—दीप्त। पंत कल्पना की गुदगुदी से नाच उठते हैं। प्रसाद के भाव अपनी अभिव्यक्ति के लिए कल्पना से मैत्री करते है, और महादेवी कल्पना की शीतल ज्योत्सना में अपनी अनुभूतियों का स्वरूप संवारती हैं। पंत का बच्चों का सा भोलापन एवं शिशु की सी अज्ञानता का आकर्षण उनकी कल्पना प्रियता का ही रूप है। अनुभूतिक सघनता के कारण 'प्रसाद' जी कल्पना पार्श्वस्थ, आकार की अभिनव झिलमिलाहट के कारण पंत जी की कल्पना दूरस्थ एवं सीमा के अपरिवद्ध विस्तार के कारण महादेवी जी की कल्पना कांत किन्तु असीम है।

ध्वन्यात्मकता का संकेत आनन्दवर्धन के 'प्रतीयमान अर्थ' मे है। शास्त्रानुसार 'वाच्यार्थ' एवं 'लक्ष्यार्थ' पर 'व्यंग्यार्थ' की प्रधानता ही 'ध्वनि' की स्थिति है। शास्त्रों मे इसकी उपमा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होनेवाली घण्टाध्वनि से दी गई है। 'वस्तुध्वनि' 'अलंकार ध्वनि', एवं 'रसादि ध्वनि' के तीन रूप माने गए है। इनमें 'वस्तु ध्वनि' का बड़ा ही सुन्दर विस्तार छायावादी काव्य में हुआ है। 'निराला' की 'सन्ध्या-सुंदरी' में 'वस्तु ध्वनि' का बहुत ही सुन्दर रूप उपस्थित हुआ है—

सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह-छाँह सी अम्बर
पथ से चली वह सन्ध्या सुंदरी 'परी सी धीरे-धीरे !'

लाक्षणिकता—छायावाद की दूसरी विशेषता है। मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्ध अन्य

द्योतित अर्थ को लक्ष्यार्थ, उस शब्द को लाक्षणिक एवं उस शक्ति को लक्षणा कहते है। इस प्रकार मुख्यार्थ की बाधा, मुख्यार्थ से योग एवं रूढि अथवा प्रयोजन—इन तीन कारणो से लक्ष्यार्थ सिद्ध होता है। रूढ़ि की अपेक्षा प्रयोजनवती लक्षणा ही छायावाद की केन्द्र बिंदु है। 'प्रयोजनवती' मे भी 'गौड़ी' की अपेक्षा 'शुद्धा' का चमत्कार मात्रा मे अधिक है। 'प्रस्तुत पक्ष के अधिकांशतः परोक्ष मे होने के कारण, इसमें भी 'सारोपा की अपेक्षा 'साध्यवसाना'—रूप की ही अधिकता है। 'गूढा'—'अगूढा' के अवान्तर भेदों मे 'गूढा' की ओर ही छायावाद अधिक प्रवण है। 'गौडी साध्यवसाना' का एक उदाहरण 'आँसू' से उद्धृत है—

> "बाँधा है शशि को किसने इन काली जंजीरों से।
> मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥"

मूर्त के लिए अमूर्त एवं अमूर्त के लिए मूर्त विधान मे भी प्रयोजनवती लक्षणा ही समाविष्ट है।

प्रतीक विधान की शैली भी छायावाद की विशेषताओ मे से है। अपने यहाँ इससे मिलता जुलता एक शब्द है 'उपलक्षण'। छायावादी काव्य में ऐसे अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है जिसमे पूर्ण रूप से गुण साम्य न रहने पर भी प्रतीकता पाई जाती है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग किया जाता है। फूल, शूल ऊषा, तम, तारे, तार, वीणा आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। इन प्रतीको मे लाक्षणिकता का पूरा प्रयोग किया गया है। किन्तु ये जितने ही भावात्मक एवं उद्बोधक है, उतने ही अधिक सुन्दर और प्रभावशाली। इनमें कुछ अपनी संस्कृति पर भी आहृत हैं और कुछ विदेशी भी। उपमानों और प्रतीको मे यही अन्तर होता है कि उपमान की भाँति प्रतीक में गुण-साम्य का उतना ठोस आधार अनिवार्य नही होता।

> उषा का था उर मे आवास,......'
>
> चाँदनी में स्वभाव का वास, विचारों में बच्चों की साँस।' पंत

प्रतीकों का सर्वाधिक प्रयोग पंत जी ने ही किया है। प्रसाद की प्रतीक विधान भी उद्धार्थ है—

'विकसित सरसिज वन वैभव, मधु ऊषा के अंचल में ।
उपहास करावे अपना, जो हँसी देख ले पल में ।' (आँसू)

उपचार वक्रता भी प्रसाद जी के मत में छायावाद की एक विशेषता है । 'चेतन' में 'अचेतन,' 'द्रव' में 'ठोस' के गुण का अध्यारोप 'उपचार कहा जायगा । इसके भीतर तो 'ध्वनि' का, सम्पूर्ण प्रसार 'अन्तर्युक्त हो जाता है । छायावादी काव्यधारा के रोमानी विकास को मुखरित करने वाले श्री शंभूनाथ सिंह जी के 'समय की शिला' कविता की निम्न पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

'सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा,
उड़ी अर्चना की जगी सुप्त आशा ।'

पवन द्वारा वितरित होती सुगंधि को 'मौन भाषा' कहना कितना व्यंजक है ।

स्वानुभूति की विवृति या आत्मव्यंजकता इस युग की सर्व प्रथम विशेषता है । छायावादी युग का साहित्यकार हर बात को उत्तम पुरुष 'मैं' के माध्यम से व्यक्त करता है । कथा कहानी की आड़ लेना उसे पसंद नहीं । इसी को प्रसाद जी ने 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति' कहा है ।

छायावादी अभिव्यक्ति पर पाश्चात्य प्रभाव की गहरी छाप घोषित की जाती रही है क्योंकि उसने अंग्रेजी से 'मानवीकरण', 'नादार्थ-व्यंजना' एवं 'विशेषण-विपर्यय' जैसे अलंकार ग्रहण किए हैं । 'मानवी करण' एवं 'विशेषण विपर्यय' में प्रायः 'साध्यवसाना लक्षणा' क्रियाशील होती है । निराला की उक्ति है—

'चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दाधाम' ।
(यमुना के प्रति)

अंग्रेजी के अनुसार 'व्याकुल पनघट' का अर्थ 'ब्रजबालाओं की व्याकुलता' होने से यह 'विशेषण-विपर्यय' का उदाहरण है । भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार यह लक्षण-लक्षणा है ।

छायावादी कविताओं में 'चित्र-व्यंजना' या 'चित्रात्मक व्यंजना' का भी नाम लिया जाता है । छायावाद में चित्रों के द्वारा व्यंजना करने की

शैली ग्रहण हुई है। ऐसे स्थलों पर वह चित्र प्रधान नहीं होता, वरन् वह स्वय 'अप्रस्तुत' रूप मे आता है और उसकी समष्टि संवेदना किसी सूक्ष्म तथ्य की व्यजना करती है। प्रसाद की उक्ति है—

'और उस मुख पर वह मुस्कान, रक्त किशलय पर के विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम।'

(कामायनी)

छायावाद की छंद और रूप चेतना—

'छंद' का अर्थ 'बन्धन' या 'आच्छादन,' किया जा सकता है, किंतु यह बधन या नियत्रण परवशता-विवशता के लिए नही, मुक्ति के लिए ही होता है। इस बंधन को स्वीकार कर भावना, कल्पना, अनुभूति एव विचार अधिक प्रभविष्णु, अधिक लयवान्, अधिक तीव्र एवं संवेदनीय हो जाते है। भाषा लयवती होती है। प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी लय-विशिष्टता होती है। लय तो प्रत्येक वर्ण और शब्द मे होती है। 'वर्ण' 'शब्द' मे और 'शब्द' वाक्य मे अपने लय की निजता को सीमित कर बृहत्तर सामंजस्य की प्राप्ति करते है। यह लय निश्चित छंद का आश्रय पाकर अधिक प्राणमय और प्रभावशाली हो जाना है। लय व्यक्ति की विभिन्न मनोदशाओ के अनुसार बदलता भी है। 'लय' विद्वानों के अनुसार एक प्रकार का कम्पन अथवा गति प्रवाह है। जिस प्रकार वर्ण, शब्द मे, और शब्द वाक्य मे अपने को तिरोभूत कर एक व्यापक सामंजस्य प्राप्त करते हैं उसी प्रकार वाक्य भी छंदों मे अपने को लयमान कर उच्चतर सामंजस्य और तीव्रतर संगीत की उपलब्धि करते हैं। लय छन्द का प्राण है, उसकी आत्मा है। बिना लय के छद 'छन्दत्व' को नही प्राप्त हो सकता। छाया-वादी वाक्य में संगीत को काफी महत्व प्राप्त हुआ है। इन कवियो ने शब्द सगीत से अधिक भाव और विचारो के संगीत को ग्रहण किया है। इस स्वच्छन्द-संगीत की छटा छायावाद के 'मुक्तवृत्तों' से लेकर गीतो मे, सर्वत्र झलमला रही है। छद, लय और भाव की एकात्मकता की जैसी परख इस युग में दिखाई पड़ती है, वैसी अन्यत्र बहुत कम। छायावादी

कवियो ने बगला के 'पयार' और लोक-गीत के 'कजली', 'आल्हा' आदि छंदों को भी अपनाया और लय, सगीत, तथा नाद से उन्हे संवार कर नवीन छद परम्परा को विकसित और पुष्ट किया है। 'प्रसाद' की कामायनी का प्रथम छंद 'आल्हा' छंद है—

'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पथिक भीगे नयनो से देख रहा था प्रलय प्रवाह ।।'
'सावन बरसिग, भादो गरजिग पापिन तीज गई नकचाइ।
कंत विदेशी ना घर लौटे, नाहक चुनरी धरेउं रगाइ ।।'

छायावादी कवियो ने वर्ण-वृत्तो को त्यागकर, मात्रिक छन्दो को अपनाया। पत जी ने अपनी पल्लव पुस्तक के 'प्रवेश' मे संस्कृत के वर्णवृत्तो को स्पष्ट रूप से हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध घोषित किया। प्रसाद जी की प्रारम्भिक कविताओ के छन्द-विधान पर उर्दू-छन्दो और विशेषतः गजलो की लहर का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पडता है। उर्दू मे एक छन्द 'रुबाई' होता है, हिन्दी मे इसे चतुष्पदी पर चौपदा कहते है। इसमे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पदो के तुक समान होते है और तृतीय पद का तुक इससे भिन्न अथवा विषम होता है। 'प्रसाद जी की कामायनी में यह विधान प्रयुक्त हुआ है। पंत जी की कविताओ मे 'रुबाई' का तुकात कम दिखलाई पड़ता है—

'तुम्हारे छूने मे था प्राण,
सग मे पावन गंगा स्नान
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि
त्रिवेणी की लहरो का गान।'

कामायनी के भीतर शास्त्रीय छंदो के अतिरिक्त ऐसे भी छद आये है जो प्रसाद जी की मौलिकता का पूर्ण परिचय देते हैं। कामायनी के सभी छंद उसके गुरु गभीर वातावरण के अनुकूल हैं। ताटंक छंद की प्रमुखता है इसके अत मे एक गुरु वर्ण होता है। इसी को लावनी की लय में भी पढ़ सकते है। 'आल्हा' अथवा वीर छंद की लय भी लगभग यही है। 'बिरहा' का भी इससे साम्य है।

कामायनी मे शास्त्रीय छदों मे भी ताटंग, ककुभ, पादा, कुलक शृङ्गार, रूपमाला, रोला, सार और इसके मिश्रित रूप प्रयुक्त हुये है। इडा, और आनद आदि सर्गो की छन्द रचना मे प्रसाद जी ने अपनी मौलिकता दिखाई है। इडा सर्ग में गीत का भी प्रयोग हुआ है। 'हिमालय के आगन मे उसे प्रथम किरणो का दे उपहार' पंक्ति वाला नाटक गीत 'मराल' छंद मे है जो ३२ मात्राओ का होता है। राष्ट्रीयता के भावावेग मे प्रयाण अथवा अभियान गीत (मार्चिङ्ग साग) भी लिखे गये हैं। इनमें उमंग और ओज से भरे सिपाहियों अथवा स्वयंसेवकों की मनोदशा एवं उनकी गति की लय का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य हुआ है। ऐसी कविताओं मे नाच, पंच-चामर, अथवा नागराज नामक वर्णिक वृत्त की गति पायी जाती है। 'प्रसाद' जी का 'हिमाद्रि तुंग शृंग' वाला गीत एक सुन्दर उदाहरण है।

छायावादी कविता मे और विशेषकर निराला की कविता में 'स्वच्छंद छंद' की जो छटा निखरी है, हिंदी मे वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी निराला जी इस दिशा मे बेजोड़ है। सच पूछा जाय तो स्वच्छन्द छंद का विकास अभी इन रचनाओं के आगे नहीं बढ पाया है। जो गुम्फित पदा-वली और भावानुकूल लय योजना यहाँ मिलती है, उमे आज भी चुनौती नही मिल सकी। भाषा और भाव के सामजस्य की अपूर्व शक्ति 'जागो फिर एक बार' कविता मे देखी जा सकती है, जहाँ कोमल और ओजोमय भावों के साथ भाषा का कलेवर बदलता चलता है।

छायावाद और भाषा संस्कार

पंत और निराला ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' 'गीतिका', की भूमिका और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' के निबन्धों में भाषा की प्रकृति, भाषा-भाव सम्बन्ध, शब्द-भाव सगीत तथा भाषा सम्बन्धी अपनी नवीन समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'पंत' जी ने भाषा को भावानुरूप मोड देने के लिए उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा उनके पर्यायों के साहचर्य-जन्य परस्पर भेद-प्रभेद पर भी विचार किया है। 'लहर' और 'वायु' के पर्यायवाची शब्दो द्वारा उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है। अपनी 'प्रबन्ध-प्रतिमा' मे

निराला जी ने कहा है कि ब्रजभाषा मे भाषा अन्य जातीय जीवन था और इसीलिए जब ब्रजभाषा के बाद खड़ी बोली का उत्थान हुआ, तो उसमे भी ब्रजभाषा के कुछ नवीन चिह्न का होना आवश्यक है। यहाँ उनका मतलब संस्कृत के तत्सम शब्द-रूपों के तद्भव रूपों को ग्रहण करने से है। निराला जी ने तत्सम शब्द-रूपो को ग्रहण करते समय उनके माधुर्य, म्यीत आदि का ध्यान रखा है। कहीं-कहीं 'बाण' की जगह 'बान', कण की जगह 'कन' और किरण की जगह 'किरन' का प्रयोग मिलता है। शास्त्रीय परम्परा मे उन्होने रीति वृत्तियो का पालन नही किया है। कोमल भावो के स्थल पर भी संयुक्त वर्ण और परुष अक्षरो का प्रयोग किया है। स्वय निराला जी ने, पंत जी ने वर्ण प्रयोग पर टिप्पणी की है। उन्होंने 'रीति' और 'वृत्ति' के अलग-अलग निर्वाह के स्थान पर एक ही कविता या पद मे भावानुकूल कोमल और परुष दोनो ही वर्णो का प्रयोग कर दिया है। पंत की 'परिवर्तन' कविता और निराला की 'अनामिका' की कविताओ मे यह देखा जा सकता है। पत की 'परिवर्तन' कविता मे बासुकि, हाथी, और मेघ के रूपको के स्थल पर नाद-व्यंजना का चरम रूप दिखलाई पडता है। निराला की 'जागो फिर एक बार', 'जुही की कली', 'राम की शक्ति-पूजा' में नाद-सृष्टि का अनुपम सौंदर्य प्रदर्शित हुआ है। प्रसाद जी की भाषा में उपचार-वक्रता (स्थूल साम्य से छोड़कर सूक्ष्म विधान) का तत्व प्रारम्भ से पाया जाता है। आभ्यंतर भावों की अभिव्यक्ति के लिए वे उन्होने नवीन शब्दो की भंगिमा का प्रयोग किया। इस प्रकार छायावादी कवियो की दृष्टि वस्तु के बाह्य रूपाकार की अपेक्षा अपनी अनुभूति मे आने वाली सूक्ष्म-व्यजनाओं की ओर रही। इसलिए उन लोगों ने वक्रताओ और 'लक्षणा-व्यंजना' पर आश्रित सूक्ष्म-अभिव्यजनाओं को आधार बनाया। इससे एक ओर तो भाषा मे चित्रात्मकता आई और दूसरी ओर सूक्ष्म अनुभूतियो की व्यंजना हुई। पंत जी की भाषा मे लाक्षणिक वैचित्र्य सबसे अधिक मात्रा मे पाया जाता है। उनके यहाँ 'विचारों मे बच्चों की साँस' और 'अधरों मे ऊषा' होती है। 'वेदना के सुरीले हाथ' होते हैं। महादेवी के भी आँखो के आँसू उजले होते है, और सबके सपनों से सत्य पलता है।

छायावादी कवि अंत: प्रेरित और कल्पना-प्रवण है। भावों के अनुकूल छंद, लय एवं शब्द चयन में भी वे कल्पना से पर्याप्त रूप में प्रेरित हैं। छायावादी कवियों ने संस्कृत के नवीन और स्वल्प-प्रयुक्त शब्दों को जो जाँच-चुना तो उसी सौंदर्य चेतना को मूल मानकर जो अब तक उनकी दृष्टि में अपेक्षाकृत स्थूल, कायिक और वस्तुवादी भले ही रही हो, पर विजातीय नहीं रही। इसी से हमें प्रसाद में कालिदासीय उज्ज्वल शृङ्गार दृष्टि और भवभूति सी अनुभूति-सान्द्रता भी मिल जाती है। निराला में भारवि सा अर्थ गौरव और पंत में जयदेव सा भाषा-मार्दव। इन कवियों की मर्म-स्पर्शिनी कल्पना-दृष्टि ने वस्तुओं के अंतर को छूकर, उनसे प्रेरित मानस-प्रत्यक्षों के अन्तः संगीत की लय में ही उनके शब्द चित्रांकन का प्रयास किया है। इन कवियों के शब्दों में रूप, गुण, एवं ध्वनि को सचित्र कर देने की प्रवृत्ति ने ही इन्हें अप्रस्तुत विधान, रूप योजना, चित्र-सृष्टि एवं विच्छित्ति प्रकाशकी ओर प्रवाहमान किया है। 'प्रसाद' के 'श्रद्धा' रूप वर्णन में आकार एवं गुणों की सचित्रता छायावादी भाषा-शैली का उच्च-बिंदु है। अप्रस्तुतों का चयन और गुणों की व्यंजना उनकी कल्पना के दिग्विजय की प्रतीक है—

'नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग॥'

पंत और महादेवी ने खड़ी बोली के काव्य-कलेवर को व्यंजना की कांति से समुज्ज्वल किया है। 'नौका विहार' कविता में कविवर पंत द्वारा प्रस्तुत 'तन्वंगी, ग्रीष्म विरल गंगा' का शब्द-चित्र अपनी रूपकता में दर्श-नीय है। कांपती थरथराती नौका का स्पन्दन देखिये—

'मृदु मंद-मंद, मंथर-मंथर, लघु तरणि हंसिनी सी सुंदर,
तिर रही खोल पालों के पर।'

नवीन और कोमल-मसृण प्रतीकों तथा अप्रस्तुतों से महादेवी जी की

कविता-मजूषा 'छवि गृह दीप शिखा' की भाँति जगमगा उठी है। पीडा को भी सुदर एव मधुर बना देने की शक्ति मीरा के बाद महादेवी मे ही दिखलाई पडती है। अंतर यही है कि मीरा मे अपनी लगन का उन्माद है अतः भाषा के झीने आवरण मे वह स्पष्ट पछाड़ खाती दिखलाई पडती है, किन्तु महादेवी मे वह सयम से मार्जित है अत भाषा का कलात्मक रूप उसे बाँधे चलता है। भाषा मे महादेवी का वर्ण योजना नितांत रमणीय और आकर्षक होती है, नील, पाटल, रजत और स्वर्ण उनकी कल्पना सृष्टि के अभिप्रेम है। पत जी के अनुसार स्वर ही काव्य संगीत के मूल तन्तु है। उन्हीं पर भावना का स्वरूप निर्भर करता है। नाद व्यंजना को छोडकर जिसमे व्यंजनो का प्राधान्य होता है, स्वर ही भावाभिव्यक्ति मे सहायक होते हैं। अपनी बादल कविता के उद्धरण से उन्होने भावाभिव्यक्ति मे स्वरो के योग को स्पष्ट कहते हुए कहा कि 'इन्द्र धनु सा आशा का छोर' मे 'सा,' 'आ', 'शा', 'का',मे 'आ' का स्वर आशा का फैलाव व्यक्त करता है और 'दल बल जुन घुस बातुल चोर' में लघु व्यंजन-वर्ण चोर के घुस आने और उड़ा ले जाने का व्यापार व्यजित होता है। इस प्रकार पंत जी ने शब्द सगीत के साथ वर्ण संगीत की भी परख की। छायावादी काव्य मे कुछ विशेषण भी अति के साथ प्रयुक्त हुए है, जैसे चिर, मधुर, रजत, स्वर्ण, नव, र, अज्ञान, तार, वीन, झंकार, अनंत, असीम, आकुल आदि ऐसे ही शब्द हैं। नादात्मक दृष्टि मे इन कवियो को शब्द-चयन मे अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। संज्ञाओ के साथ विशेषण दे देना, इस युग की सामान्य प्रवृत्ति है, चकित पुकार, करुणार्द्र कथा, हिम अधर आलोक मधुर शोभा शोभन रूप, मधुर मरोर, सजग पीर, अलस हास, तरल गान, दीवानी चोटें, कनक प्रभात आदि कभी-कभी तो सारी बात विशेषणों मे ही कह दी जाती है—

'प्रिय गया है लौट रात !
सजल धवल अलस चरण,
मूक मदिर मधुर करुण
चाँदनी है अश्रु स्नात।' (महादेवी)

प्रसाद और महादेवी के विशेषण अनुभूति-मय, 'निराला' के चिंतनमय और पंत के वैचित्र्य एवं विरोध-प्रेरित होते है। तत्समता मे 'निराला' जी सब से आगे है। संस्कृत के साथ-साथ अरबी-फारसी के तत्सम शब्दो को भी उन्होने अपनाया है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' में उनकी भाषा का क्लिष्टतम रूप सामने आता है।

भाषा की दृष्टि से अगर छायावादी काव्य-शैलीपर विचार करें तो वह तीन प्रमुख रूपो मे सामने प्रस्तुत होती है—(१) अप्रस्तुत—प्रधान एव व्यंजनात्मक (२) परिसाहित एव विलम्बित (३) सरल सहज। व्यंजनात्मक अप्रस्तुत—प्रधान शैली मे प्रतीकात्मक प्रयोग, लाक्षणिक वक्रता, चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता आदि का पूर्ण उपयोग होता है। कामायनी का श्रद्धा-रूप-वर्णन के स्थल पर नवीन और प्रभाव साम्यमूलक अप्रस्तुतों की छटा कितनी मनमोहक है—

> 'हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
> एक लम्बी काया, उन्मुक्त।
> मधु-पवन-क्रीडित ज्यो शिसुसाल,
> सुशोभित हों सौरभ संयुक्त।'

परिसाहित एवं विलम्बित शैली मे ही भाव विचार को कई-कई पंक्तियों मे शृंखलावत फैलाते चलाते है और जहाँ एक भाव विचार समाप्त हुआ जंजीर की कडी की भाँति दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। प्रसाद जी के 'लहर' संग्रह की अंतिम प्रबन्ध रचनाएं, 'निराला' जी के मूल-वृत्त, 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज-स्मृति' आदि कविताएँ, पंत जी की 'परिवर्नन' और 'स्वर्णधूलि' तथा 'स्वर्ण किरण' की लम्बी नवीन रहस्यवादी रचनाएं इसी श्रेणी मे आती है। यह शैली अत्यन्त सुकोमल, और सजग रीति से सजी पदावलियो से जटिल और अंलकृत होती है। भाषा अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत प्रधान, समासयुक्त, सुदीर्घ पदावलियों वाली हो जाती हैं। **सरल, सहज शैली** अत्यत सरल एव अभिधा-प्रधान होती है। इसमे न तो भाषा-वैभव का मोह होता है और न तत्समता की प्रतिक्रिया। इसमें उर्दू के शब्दो का भी प्रयोग होता है। लोकोक्ति और मुहावरों का

भी चुटीला प्रयोग होता है। छायावाद के परवर्ती कवियों ने इसी भाषा को अपनाया है। यह भाषा जनता के निकट की भाषा है। 'नये पत्ते' और 'बेला' में आकर 'निराला' ने भी इसी को अपनाया। 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु, पूछेगा सारा गाँव बंधु' जैसी रचनाएँ अपनी सादगी के लिए भी अधिक प्रभाव पूर्ण और चुटीली बन गयी है। जहाँ-जहाँ 'निराला' ने व्यंग का सहारा लिया है, इसी शैली की श्री बिखरी हुई है।

छायावाद युग की भाषा साधारणत जनभाषा से दूर एव शिष्ट साहित्यिक भाषा रही है। उसके कवियो मे जन-मोहन कला की अपेक्षा कलाकार की चेतना अधिक प्रबुद्ध है। वे पाठकों के पास उतरने की अपेक्षा पाठको को ही अपने पास बुलाते है। इसी से छायावादी युग की भाषा-भंगिमा और अभिव्यक्ति साधन का वास्तविक रस सब नहीं ले पाते, उसके लिए संस्कार, सुरुचि एवं कला-चेतना जिस पाठक मे जितनी ही अधिक होगी वह उतना ही आनन्द ले सकेगा। छायावादी काव्यधारा की भाषा मे लिग वचन-लोकोक्ति-सम्बन्धी उच्छृखलताएँ, नवीनता के मोह मे असिद्ध शब्दों की रचना, 'क्लिष्टता', 'अस्पष्टत्व' एवं 'दूरान्वय विषयक दोष भी आ गये हैं। प्रसाद जी की सूक्ष्म साकेतिक भंगिमा, निराला जी की अभिधेयात्मक परिसाधना, पत जी का लाक्षणिक वैचित्र्य, महादेवी जी की प्रतीकात्मक चित्रवत्ता किसी भी युग की भाषा के लिए अभिव्यंजन-शक्ति का जीवन उदाहरण होगी।

छायावाद ने हमें नवीन छंद और एक अधिक संवेदनशील भाषा ही नही दी, उसने हमे भाव, बुद्धि और जीवन की वह विशाल ग्राहिका शक्ति दी जिससे अपने वर्तमान और भावी की चुनौतियों को स्वीकार करने मे हम समर्थ हो सकें। हमने अपनी जड़ सीमाओं को तोड़कर जीवन व्यापी विकास का सहारा लेना सीखा। छायावाद ने अपने चारों ओर दर्शन और सिद्धान्त की अलंघ्य परिधि नहीं खींची। उसने तो जीवन की विशालता मानव की महत्ता, उसकी आशा-आकाक्षाओं, सुख स्वप्नो के मूल्य का मुक्त सदेश देते हुए जड़ता का विरोध किया है—गतिशीलता के लिए, जीवन के लिए। वह पलायनशील नहीं, जीवनग्राही है। मध्यकालीन सीमाओं में बंधे-

उसके जीवन जलाशय को मुक्ति सहज सरिता का प्रवाह रूप प्रदान करने वाले इस मानववादी काव्य ने अतिरेक नहीं समरसता, जड़ता नहीं गति, दुराग्रह नहीं व्यापक सहानुभूति की घोषणा की है। व्यक्ति के भीतर उसके व्यक्तित्व की ज्योति जगाना छायावादी काव्यधारा की सबसे बड़ी देन है।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता

परमानन्द श्रीवास्तव

छायावाद की अनेक सीमाओं से परिचित होते हुए भी आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया था कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ।"[१] यही निवेदन किया जाय कि उत्तर-छायावाद-युग में हिन्दी कविता का विकास "काव्य शैली" की [illegible] अनुभूतियों के प्रसार की दिशा में [illegible] हुआ। छायावाद-युग की कविता की तुलना में उत्तर छायावाद-युग की कविता की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हम गिरिजाकुमार माथुर के इस कथन से सहमत है कि "छायावादोत्तर काल में हिन्दी कविता मे जितनी उथल-पुथल हुई और जिन विविध रीतियो से वह झकझोरी गयी उतना आलोडन पहले किसी काल मे नही हुआ।"[२] ध्यान देने की बात यह है कि छायावादी कवियो की ही उत्तर कालीन (या विकास कालीन) रचनाओ मे विषय से लेकर अभिव्यंजना तक के क्षेत्र में परिवर्तन की आहट मिलने लगी थी।

> विदा हो गयी साँझ विनत मुख पर झीना आँचल धर,
> मेरे एकाकी आँगन मे मौन मधुर स्मृतियाँ भर!
> मै बरामदे मे लेटा, शय्या पर पीड़ित अवयव,
> मन का साथी बना बादलों का विषाद है नीरव![३]

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास . रामचन्द्र शुक्ल : पृष्ठ ८९० . [संस्करण—संवत् १९९७]

२—नयी कविता का भविष्य: गिरिजा कुमार माथुर—आलोचना (त्रै०) : १२ पृष्ठ ४२

३—याद : सुमित्रा नन्दन पंत · ग्राम्या . पृष्ठ १०६ (१९४०)

बरामदे में पड़े-पड़े बादलों के नीरव विषाद को अपना आत्मीय बन्धु समझना ' छायावादी कवि व्यक्तित्व के अनुभवों की तुलना में कहीं अधिक आधुनिक कवि-मन की अनुभूति थी। 'निराला' के निम्नांकित सांध्य-चित्र में रोमांटिक ही सही, कितनी नयी अभिव्यंजना है—यह कोई कहने की बात नहीं है :—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चंचलता का कहीं नहीं आभास
मधुर मधुर है उसके दोनों अधर—
किन्तु जरा गंभीर, नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छांह-सी अम्बर-पथ से चली।"[१]

काव्यबिम्बों की बात करते हुए टी॰ एस॰ इलियट ने लिखा है : कि वे उस अनुभूति की गहनता का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें हम प्रवेश नहीं कर पाते।[२] विचारणीय है कि क्या उपरिलिखित पंक्तियों में निराला के काव्यबिम्ब ऐसे ही अत्यन्त गहन अनुभूति स्तरों का स्पर्श नहीं करते।

१—संध्या सुन्दरी : निराला : द्रष्टव्य' परिमल

२—"They come to represent the depths of feeling into which we can not peer"
T. S. Fliot : Selected Pose : [पृष्ठ ९१]

आश्चय है कि समीक्षकों ने इस स्तर पर छायावादी कृतित्व का मूल्यांकन नहीं किया। प्रसाद की 'कामायनी' में ही ऐसे बिम्बो की संख्या कम नहीं है जो एक नयी, आधुनिक ग्रहणशीलता का परिचय देते है और आधुनिक मन की जटिल सवेदना को मूर्त रूप देने का प्रयत्न करते हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के सर्वेक्षण के फलस्वरूप हम प्रायः इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कविता मे कल्पना के स्थान पर यथार्थ की प्रतिष्ठा हुई। रोमांटिक भाव-लोक मे लीन रह कर प्रेम की कविताएँ लिखने वाले कवि श्री निराला ने जब भिक्षुक का यह चित्र उपस्थित किया तो लगा कि काव्य की दिशा ही बदल गयी—

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनो मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को—
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

पंत जी ने 'ग्राम्या' में यथार्थ चित्रण के लिए कितना विस्तृत खाका खींचा। यह साधारण रूप से 'संध्या के बाद' 'ग्राम देवता' 'चमारों का नाच' 'वह बुड्ढा' आदि कविताओं मे देखा जा सकता है। 'ग्राम्या' के काव्य-चित्रों मे जो यथातथ्यता आयी वह भी यथार्थ-दृष्टि बोध के ग्रहण का ही परिणाम थी। इसे समझने के लिए ऐसे कतिपय चित्रो का उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

क—चाँदी की चौड़ी रेती
फिर स्वर्णिम गंगा धारा
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्न छाप नभ सारा।
जिस पर मछुओं की मंडई,
औ तरबूजों के ऊपर,

बीच-बीच में, सरपत के मूठे
खग-से खोने पर ।[1]

ख—माली की मँडई मे उठ
नभ के नीचे नभ-सी धूमाली
मंद पवन मे तिरती
नीली रेशम की-सी हल्की जाली ।[2]

प्रत्यक्ष है, कि उत्तर छायावाद-युग की कविता का विकास छायावाद के "काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया"[3] के फलस्वरूप हुआ। सन् ३० से ३८ तक का समय एक प्रकार से संक्रान्ति का समय था जिसकी परिणति निराशा मे हो रही थी। सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर इस समय की भावभूमि का विश्लेषण किया जाय तो तत्कालीन समूचा युग एक निराशात्मक परिणति मे विलीन होता हुआ लक्षित होता है और बच्चन, अंचल तथा नरेन्द्र की कविताओं मे व्यक्त रुग्णक्षयी निराशा, पस्ती, मृत्यु-पूजा आदि प्रवृत्तियाँ इसी स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है। परन्तु धीरे-धीरे पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रति जागरूक विरोधी आन्दोलन तैयार होने लगा। मार्क्सवादी मान्यताएँ साहित्यिक (बल्कि वैचारिक !) क्षितिज पर प्रतिष्ठित की जाने लगी। दूसरी ओर गाँधीवाद ने मानवात्मा के संस्कार की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया। यह सभी संकेत वैचारिक रूप मे पंत जी की तत्कालीन रचनाओं (युगान्त-युगवाणी) मे प्रतिफलित हुए है। 'युगवाणी' की भूमिका में पत जी ने काव्य की इस नयी दिशा की ओर संकेत करते हुए लिखा है :—

"युगवाणी को मैने गीत गद्य इसलिए नही कहा है कि उसमे काव्या-

१—द्रष्टव्य, ग्राम्या पंत पृष्ठ—५१
२— ,, ,, ,, पृष्ठ—६४
३—नयी कविता का भविष्य—माथुर : आलोचना—१२, पृष्ठ ४८

त्मकता का अभाव है प्रत्युत उसका काव्य गद्यच्छन्द मननयुक्त तथा विचार-भावना प्रधान है।"

इसी भूमिका में आगे पंत जी लिखते है—"मैंने मार्क्सवाद के लोक संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।"

'युगवाणी' में संग्रहीत पंत जी की 'चींटी,' 'संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति,' 'धनपति' 'श्रमजीवी' आदि कविताओ में उनका सारा विचार दर्शन ही व्यंजित है। इन्ही कविताओं को लक्ष्य कर गिरिजाकुमार माथुर लिखते है—"नयी कविता की समाजोन्मुखी धारा जो आगे चलकर प्रगतिवाद कहलाई, उसके प्रथम सोपान में 'युगवाणी' का प्रमुख स्थान स्वीकार किया जाना चाहिए।" (आलोचना—१२)

छायावाद के ह्रासकाल मे जो तीव्र वैयक्तिक निराशा दिखाई देती है उसका अध्ययन उत्तर छायावादी कविता के एक पक्ष को समझने के लिए उपयोगी हो सकता है। जहाँ एक ओर दिनकर अपना ओजपूर्ण आक्रोश व्यक्त करते हुए—आडम्बर में आग लगाने की बात कर रहे थे :

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर मे

—दिनकर : 'तांडव'

वहीं बच्चन के सामने, 'एक मुर्दा रो रहा था बैठकर जलती चिता पर—यह करुण वास्तविक निराशापूर्ण तथ्य था और नगेन्द्र शर्मा अपने को मानसिक क्षयग्रस्त कवि की संज्ञा देने के लिए विवश हो रहे थे।

सन् '३७ में 'रूपाभ' का प्रकाशन छायावाद की परिसमाप्ति की सूचना देता है तथा नयी प्रतिभाओ के लिए नयी दिशाएं प्रशस्त करता हुआ प्रतीत होता है। रामविलास शर्मा, शमशेर बहादुर सिंह तथा केदारनाथ अग्रवाल की तत्कालीन रचनाएँ उस साहित्यिक मतवाद का संकेत देती है, जिसे 'प्रगतिवाद' कहते हैं।' ४२, ४३ के घोर संघर्ष और 'बंगाल के अकाल' ने कविता ही क्यों सम्पूर्ण साहित्य को इस तरह प्रभावित किया कि रूमान की प्रवृत्ति सर्वथा समाप्त हो गयी। उपरिलिखित कवियो के साथ जिन

कवियो ने सामाजिक यथार्थ बल्कि समाजवादी यथार्थ के आन्दोलन म योग दिया उनमे प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन तथा 'मुक्ति बोध' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। माचवे की इन पंक्तियो मे यह उथल-पुथल द्रष्टव्य है:—

बीसवीं सदी ने हमे क्या दिया
मोटर, रेल, विमान, क्रांतियां
यह बेतार, सवाक् चित्रपट
कागज मुद्रा, आर्थिक संकट
गति अतिशयता, वेगातुरता
कहीं प्रपीड़न, कही प्रचुरता।

'कही प्रपीड़न, कही प्रचुरता'—यही वर्ग की संघर्ष चेतना है, जो इस संघर्ष युग के प्रगतिवादी कवियों मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ व्यक्त हुई है।

४२ में अज्ञेय के सम्पादन मे 'तारसप्तक' का प्रकाशन हिन्दी कविता के इतिहास की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना है। तारसप्तक के कवियो की नामावली ही यह संकेत देती है कि वे स्वतंत्र विचारों एवं मान्यताओ के कवि है। इस दृष्टि से 'तार सप्तक' को प्रयोगवादी काव्य संग्रह कहना गलत है। वस्तुतः इस समय तक प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—कविता की दिशा में इस प्रकार का बँटवारा ही नहीं हुआ था। नवीन माध्यमों की खोज रामविलास शर्मा और प्रभाकर माचवे को भी थी और अज्ञेय तथा गिरिजकुमार माथुर को भी। मुक्तिबोध की तत्कालीन रचनाओं मे भी वास्तविक सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति का नया माध्यम देने की चेष्टा थी। 'सप्तक' से बाहर नरेन्द्र शर्मा की कविताओं मे भी नयी अभिव्यक्ति दिखाई देने लगी थी। इस दृष्टि से 'पलाशवन' की कविताओ से कतिपय उदाहरण दिये जा सकते है—'तुम आती हो' शीर्षक कविता मे नरेन्द्र शर्मा लिखते है:—

तुम आती हो तो
बादल-सा हट जाता है,

सब आसमान खुल आता है,
खिल जाती है पल में प्रसून-सी नरम धूप !
करुणा की किरणों के नीचे
लेटी सुख से आँखें मींचे
हँसती है सतरंगी बूँदें—सस्मित आनन पर
आँसू के मोती अनूप !

तुम आती हो—
घन-सा विषाद घुल जाता है
अवसाद शेष धुल जाता है,
छाया मलीन पल में विलीन हो जाती है—हो जाता है
पल में मेरा कुछ और, और से और रूप !

और हम अनुभव करते है कि कविता भी 'और से और रूप प्राप्त करने की दिशा मे उन्मुख है।

तारसप्तक की रचनाओ में एक ही साथ समाजवादी यथार्थ की प्रवृत्ति, व्यक्ति विद्रोह के कुंठापूर्ण अहं की प्रवृत्ति और मध्यवर्गीय अन्तर्द्वन्द्व, रोमांटिक मोह एवं ऐन्द्रिय चित्रमयता की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अज्ञेय, मुक्तिबोध तथा गिरिजाकुमार सप्तक के सबसे सिग्निफिकेंट कवि हैं और आगे की कविता पर इनका अनिवार्य प्रभाव लक्षित होता है। अज्ञेय तथा मुक्तिबोध की कविता में एक विशेष दार्शनिक चिन्ता दिखाई देती है जब कि गिरिजाकुमार का मन रोमांटिक चित्रों का इन्द्रियबोध ग्रहण करने मे संलग्न-सा प्रतीत होता है। उनका निम्नलिखित काव्यचित्र इसका उदाहरण है.—

उन्हीं रेडियम के अंकों की लघु छाया पर
दो छाहों का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया से
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाहों के हल्के स्वर-सा

पड़ती थीं लो एक दूसरे से मिल गुथकर
सूनी आधी रात ।

बच्चन तथा अञ्चल की रूमानियत से यह नया रोमान किस प्रकार अलग है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है ।

तारसप्तक के कवियों ने विषय वस्तु तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे नवीन प्रयोग किये और देखते-देखते कविता वाक्यविन्यास, अंतः संगीत, छंद तथा लय, उपमान और प्रतीक, बिम्ब-विधान तथा चित्रयोजना—इन विविध दिशाओं मे तेजी से नया रूप ग्रहण करती हुई दिखाई देने लगी । आश्चर्य है कि इन विशेषताओं को न ध्यान मे रखकर सम्पादक तथा उनके सहयोगी कवियों के वक्तव्यों को महत्त्व दिया गया और "प्रयोगवाद' नाम चल पडा । छायावादी कविता के समर्थक समालोचक पं॰नन्ददुलारे वाजपेयी ने झुँझला-कर लिखा है, 'प्रयोगवाद' हिन्दी मे बैठे ठाले का धधा बना कर आया था । प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य सम्बन्धी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी । धीरे-धीरे इस मजाक मे भी सच्चाई जान पड़ने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु मे भी एक नये 'वाद' की संभावना देखने लगे !"[१] विचारपूर्वक देखने से 'तारसप्तक' के कवियों द्वारा किये गये काव्यप्रयोगों मे कोरी अर्थहीनता के स्थान पर एक सुनिश्चित दृष्टिकोण दिखाई देगा : वह अनिश्चय का ही क्यो न हो !

बंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवाध गहन विस्तार,
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—

प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति अज्ञेय का यह दृष्टिकोण केवल नकारात्मक नहीं है, क्योंकि इन्हीं पंक्तियों का कवि प्रकृति को इस स्निग्ध सुदर रूप मे भी देखता है :—

१. नया साहित्य : नये प्रश्न : पृष्ठ, २१

धूप
—मा की हसी के प्रतिबिम्ब-सी शिशु-वदन पर
हुई भासित
नये चीड़ों से कँटीली पार की गिरिशृंखला पर :
गीति ।

'४६ से' ४९ के बीच की कविता का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि जहां एक ओर प्रगतिवादी कविता राजनीतिक फार्मूलों में बंध कर सोमित भूमि पर आ गयी थी, वही दूसरी ओर शमशेर तथा त्रिलोचन की कविताओ मे या शंभूनाथ सिह, जानकी वल्लभ शास्त्री तथा ठाकुर प्रसाद सिह के गीतो मे नये भावक्षितिज उभर रहे थे।

सन्' ५१ मे 'अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' के अंतर्गत रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, शमशेर, भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, नरेश मेहता, तथा हरिव्यास की रचनाएँ प्रकाशित कीं। रघुवीर महाय की बौद्धिक आत्मानुभूति, नरेश के सूक्ष्म इन्द्रिय बोध, शमशेर के प्रौढ अभिव्यक्ति-शिल्प तथा भारती की रूमानियत ने पाठको को अन्य कवियों की तुलना मे कहीं अधिक प्रभावित किया।

मैं कभी-कभी कमरे के कोने मे जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है
चुपके से एक पुराना कागज पढता हूँ
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है, जो लिखकर
भेजा ही नही गया, जिसका पाने वाला
काफी दिन पीछे गुजर चुका।

रघुवीर सहाय की ऐसी सहज आत्मानुभूति वाली कविताओं ने भाषा के एक नये रियलिज्म को जन्म दिया—ऐसा उनके पूर्ववर्ती कवि भी मानते हैं।

दूसरा सप्तक के साथ ही कवियो की एक नयी पीढी भी आयी जिसने सहृदय पाठकों एवं समानधर्मा कवियों को दूर तक प्रभावित किया। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना विजय देव नारायण साही, केदार नाथ सिंह तथा

कुंवर नारायण के नाम इन कवियों में विशेष उल्लेख्य है। अजित कुमार, कीर्ति चौधरी, मार्कण्डेय, मदन वात्स्यायन आदि की कविताएँ भी '५० के बाद निरन्तर प्रकाशित होती रही। '५६ में अज्ञेय के सम्पादन में 'तीसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ—जिसमें—सर्वेश्वर, केदार नाथ सिंह, कुँवर नारायण, मदन वात्स्यायन, कीर्ति चौधरी. साही, तथा प्रयाग नारायण त्रिपाठी की कविताएँ संकलित होकर आयी। इस नये सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि तीसरा सप्तक के कवि अपने-अपने विकास क्रम में अधिक परिपक्व और मंजे हुए हैं। फिर भी उन्होंने यह दावा नहीं किया है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेख्य कवि हैं। वास्तविकता यह है कि आज कई जागरुक नये कवि अपनी उपलब्धियों के कारण प्रतिष्ठित हो चुके हैं और इनकी उपलब्धियों की दिशाएँ इतनी विविध और परस्पर भिन्न है कि तुलनात्मक दृष्टि से किसी को अधिक या कम महत्व देना कठिन हो गया है। पिछले कुछ वर्षों में जो कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनकी यह सूची देखने से हमारी आस्था कविता के नये विकास में दृढ़ होती है। 'बावरा अहेरी' तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय, (अज्ञेय) 'कला और बूढ़ा चाँद' (पंत), सीढ़ियों पर धूप में, (रघुवीर सहाय), 'काठ की घंटियाँ' (सर्वेश्वर) 'चक्रव्यूह' तथा 'परिवेश : हम तुम' (कुँवर नारायण) 'नाव के पाँव' (जगदीश गुप्त) 'बनपाखी सुनो' (नरेश मेहता) 'वंशी और मादल' (ठाकुर प्रसाद सिंह) 'माध्यम : मैं' (शम्भू नाथ सिंह) अकेले कंठ की पुकार (अजितकुमार) कविताएं (कीर्ति चौधरी) 'कुछ कविताएँ,' (शमशेर) 'अभी, बिल्कुल अभी' (केदार नाथ सिंह), 'भटका मेघ' (श्रीकांत वर्मा), 'समुद्र फेन' (रमा सिंह), 'सफेद चिड़ियाँ' (विनोद चंद्र पाण्डेय) 'सूर्य का स्वागत' (दुष्यंत कुमार), 'सपने तुम्हारे थे' (मार्कण्डेय), 'धूप के धान' (गिरिजा कुमार माथुर) 'गीत फरोश' (भवानी मिश्र) 'मैं गूंगा देवता' (राम सेवक श्रीवास्तव) 'युगधारा' तथा 'सतरंगे पंखों वाली' (नागार्जुन) 'उजली हँसी के छोर पर' (परमानन्द श्री वास्तव) 'सातगीत वर्ष' (धर्मवीर भारती)—आदि ये हिन्दी कविता के साम्प्रतिक सजग विकास की सूचना देने वाले संग्रह हैं और यह सूची

भी बढ़ायी जा सकती है। इनके अतिरिक्त, अशोक वाजपेयी, आग्नेय, श्री राम वर्मा, मलयज, निर्मला वर्मा, राजेन्द्र किशोर, रणधीर सिन्हा, सुरेंद्र दीक्षित, नित्यानंद तिवारी, प्रभात रंजन, दूधनाथ सिंह, भगवान सिंह, चंद्रदेव सिंह, 'अधीर,' महेन्द्र भल्ला, उदयभान मिश्र, रामवतार चेतन, कान्ता, कैलाश वाजपेयी आदि की कविताएँ सामयिक पत्रिकाओं में प्रायः देखी जा सकती हैं। इनमें से कुछ लोग पहले से भी लिख रहे हैं और कुछ के संग्रह भी छप चुके हैं। इनमें से कौन कितना और किन दिशाओं में भविष्य में विकास कर सकेगा यह अनुमान कर सकना कठिन है पर कविता का भविष्य धुँधला नहीं है, यह तय बात है।

आज की नयी कविता नये इन्द्रिय बोधों की कविता है—वह अधिक संवेदनक्षम और प्रौढ़ अभिव्यक्ति प्राप्त है। आज की कविता अपनी अनुभूति की पारदर्शिता के कारण एक जागरूक पाठक वर्ग की माँग करती है। कुछ उदाहरण :—

साँझ। बुझता क्षितिज।
मन की टूट टूट पछाड़ खाती लहर
काली उमड़ती परछाइयाँ।
तब एक तारा
भर गया आकाश की गहराइयाँ।

—अज्ञेय

बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गयी हो
स्लेट पर या लालखड़िया चाक
मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो।

—शमशेर

मछुए का
एक जाल
नदी से निकाल कर
धरा हुआ
मेरे इन चिर आदिम कंधों पर :
यह मेरा नगर है !
हँसी की एक झालर
टंगी हुई तारों पर
हवा के धक्के से
जिधर झुक जाता है
उधर
मेरा घर है ![1]

—केदार नाथ सिंह

जैसे बहन 'दा' 'कहती है
ऐसे किसी बंगले के किसी तरु (अशोक !)
पर कोई चिड़िया कुऊकी
चलती सड़क के किनारे लाल बजरी पर
चुरमुराये पाँव तले
ऊँचे तरुवर से गिरे
बड़े बड़े पियराये पत्ते
कोई छः बजे सुबह जैसे गरम पानी से
नहायी हो—[2]

—रघुवीर सहाय

चुम्बन से अलग होते अधर
नींद में मानो देखता

१. अभी, बिल्कुल अभी ।
२. सीढ़ियों पर धूप में ।

एक दूसरे को
मुख तो था इस तरह का
और अब...अब......
यूकिलिप्टस् के गिरे पत्तों को
तोड़-मरोड़ सूंघना[३]

—विनोदचंद्र पांडे

आज की सच्ची समर्थ कविता के ये उदाहरण प्रस्तुत करते हुए हम शमशेर बहादुर सिंह के शब्दों में कहेंगे कि, 'नयी कविता में उपलब्धियों का अंश ही 'कविता' है : और वह अभी तक कुछ अपवादों में ही सामने आया है।[४]

आधुनिक फ्रेंच दार्शनिक मारितां ने अपनी पुस्तक 'Creative fetuition in Art and Poetry, में एक रचना उद्धृत की है :

A Poem should be wordless
As the flight of birds
A poem should be motionless in time
As the moon climbs
A poem should not mean
But be,

क्या आशा की जाय कि भविष्य की कविता आज के कवि के इस आदर्श-स्वप्न की पूर्ति कर सकेगी !

---

३. सफेद चिड़ियाँ।
४. कवि मासिक : कविता विशेषांक।

प्रगतिवाद

नामवर सिंह

छायावाद के गर्भ से '३० के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्य-धारा का जन्म हुआ उसे सन् '३६ मे प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गयी और तब से इस नाम के औचित्य को लेकर काफी वाद-विवाद होने के बावजूद छायावाद के बाद की प्रधान साहित्य-धारा को प्रगतिवाद के नाम से ही पुकारा जाता है।

कुछ लोग प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य म भेद करते हैं। उनके अनुसार मार्क्सीय सौंदर्य-शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है और आदि काल से लेकर अब तक की समस्त साहित्य-परम्परा प्रगतिशील साहित्य है। इस तरह वे केवल छायावाद के बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति के लिए 'प्रगतिशील साहित्य' नाम का प्रयोग अनुचित मानते है।

दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त तथा इस सिद्धान्त के अनुसार रचे हुए साहित्य को प्रगतिवाद कहना चाहते हैं और छायावाद के बाद की व्यापक सामाजिक चेतनावाले समस्त, साहित्य को 'प्रगतिशील साहित्य' कहते है, जिसमे विभिन्न राजनीतिक मतो के बावजूद एक सामान्य मानवतावादी भावना व्याप्त है। इस तरह ये प्रगतिवाद को संकीर्ण और साम्प्रदायिक बतलाते हैं तथा 'प्रगतिशील साहित्य' को

व्यापक और उदार। उनके अनुसार प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा निर्धारित और प्रचारित साहित्य प्रगतिवाद है और बाकी प्रगतिशील साहित्य।

लेकिन जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं है, उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं है। 'वाद' की अपेक्षा 'शील' को अधिक अच्छा और उदार समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि-विलास है और कुछ लोगों की इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रच्छन्न विरोध-भाव छिपा है।

जिस तरह छायावादी कवियों में एक को अधिक छायावादी तथा दूसरे को कम छायावादी अथवा एक को शुद्ध छायावादी तथा औरों को मिश्रित कहने का जोर-शोर रहा है, उसी तरह प्रगतिवाद में भी किसी को शुद्ध प्रगतिवादी अथवा अधिक प्रगतिशील और दूसरों को कम प्रगतिशील कहने की हवा है। लेकिन इस वाद-विवाद के कारण यदि छायावाद में भेद नहीं किया गया तो प्रगतिवाद में भी भेद करने की जरूरत नहीं है।

'प्रगतिशील साहित्य' अंग्रेजी के 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' का हिंदी अनुवाद है। अंग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार १९३५ ई० के आसपास विशेष रूप से हुआ जब ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। हिंदुस्तान में उसके दूसरे साल डा० मुल्कराज आनंद और सज्जाद जहीर के उद्योग से जब उस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ तो यहाँ भी 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' अथवा 'प्रगतिशील साहित्य' का प्रचार हो गया। कालक्रम अथवा प्रकारान्तर से यही प्रगतिवाद हो गया।

'प्रगतिशील साहित्य' संज्ञा के प्रचार यूरोप में उस समय हुआ जब समाज और साहित्य की गति में एक प्रकार की स्थिरता अथवा कुछ-कुछ ह्रास का अनुभव किया जा रहा था। इस दमघोट स्थितिशीलता से उबरने के लिए वहाँ के लेखकों ने प्रगति का नारा दिया।

अपने यहाँ हिंदुस्तान में सन् '३५ के आसपास एकदम यूरोप का-सा गतिरोध तो नहीं था, लेकिन कविता में छायावाद का विकास लगभग

रुक-सा गया था और कवि कुछ नये विचारों और व्यंजना के माध्यमों की खोज में थे। ऐसे ही समय यूरोप से लौटे हुए हिंदुस्तानी लेखकों ने 'प्रगति' की आवाज लगाई और यह आवाज छायावादी कवियों को अपने अन्तर की प्रतिध्वनि प्रतीत हुई। फलतः सुमित्रानन्दन पंत ने छायावाद का 'युगान्त' घोषित करके प्रगतिवाद को 'युगवाणी' के रूप में तुरत अपना लिया। देर-सबेर निराला और महादेवी ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में इसे स्वीकार किया। लेकिन पंत जी की तरह निराला ने इस विषय में जल्दवाजी इसलिए नहीं दिखलाई कि वे बहुत पहले से ही कविता को 'बहु-योजना की छवि' मानकर सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करते आ रहे थे और इसलिए भी कि पंत जी की अपेक्षा उनमें वैयक्तिकता तथा अहंवाद अधिक था। इसी तरह महादेवी के मानसिक परिवर्तन में देर इसलिए हुई कि उसमें तब तक छायावादी भावुकता और कल्पना से विरक्ति पैदा नहीं हुई थी क्योंकि छायावाद में देर से आने के कारण अभी उनका भावावेग चरम-सीमा पर पहुँच रहा था।

प्रगतिवाद के प्रति प्रारंभ में जितनी ललक कवियों की रही उतनी उपन्यासकारों की नहीं। उपन्यासकारों के लिए यह संदेश बहुत नया नहीं था क्योंकि उपन्यास का जन्म ही सामाजिक यथार्थ को लेकर हुआ था। यही वजह है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए प्रेमचंद ने कहा कि लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है, इसलिए 'प्रगतिशील लेखक संघ' में प्रगतिशील शब्द अनावश्यक है।

कुछ लोगों ने प्रेमचंद के इसी कथन का सहारा लेकर 'प्रगतिशील' शब्द को गलत ठहराने की कोशिश की, लेकिन उस कथन को पूरे प्रसंग में रखकर देखने से सही अर्थ समझ में आ जाता है।

इस कुतूहल-हीनता के बावजूद उपन्यासकारों ने दिल खोलकर प्रगति-शीलता का स्वागत किया जैसा कि स्वयं प्रेमचंद के कथन और आचरण से स्पष्ट है।

आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद ने साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का नारा दिया जो आलोचकों के लिए काफी विचारोत्तेजक प्रतीत हुआ।

फलत आलोचना के क्षेत्र मे प्रगतिवाद का सबसे अधिक स्वागत हुआ

इस तरह अपने प्रादुर्भाव काल से ही प्रगतिवाद एक ऐसी जीवन-दृष्टि बन गया जिससे कविता, उपन्यास, आलोचना सभी क्षेत्रों मे नवीन-दिशाओ और मान्यताओ के द्वार खुल गये। छायावाद से प्रगतिवाद इसी अर्थ मे विशिष्ट है कि छायावादी जीवन-दृष्टि जहाँ अधिकाशतः कविता के क्षेत्र में ही व्यक्त होकर रह गयी; वहाँ प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों मे अपनी अभिव्यंजना करने लगी।

इस तरह प्रगतिवाद रचनात्मक-साहित्य और आलोचनात्मक मानदण्ड दोनों है।

२.

प्रगतिवाद का विरोध करते हुए कुछ लेखक कहते है कि यह सर्वथा अभारतीय और विदेशी विचारधारा है क्योंकि एक तो यह मार्क्सवाद पर आधारित है, दूसरे इसका सूत्रपात जिस 'प्रगतिशील लेखक संघ' के द्वारा हुआ वह फ्रांस के विदेशी वातावरण में स्थापित हुआ था और अब भी वह उस कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित होता है जिसकी लगाम सोवियत रूस के हाथ है।

लेकिन हिंदुस्तान के अनगिनत लेखको और पाठकों ने प्रगतिशील साहित्य को अपनाकर इसकी भारतीयता प्रमाणित कर दी है और इस तरह उन्होंने उन तमाम विरोधी आलोचको को मुँहतोड जवाब दिया है। इसलिए प्रगतिवाद की भारतीयता और अभारतीयता को लेकर बहस करना अब बेकार है। फिर भी लोगों की तुष्टि के लिए उस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि की ओर सकेत किया जा सकता है, जिसके अनिवार्य परिणामस्वरूप प्रगतिवाद पैदा हुआ।

यदि प्रगतिवाद की माँ मार्क्सवाद ही है तो हिन्दी मे प्रगतिवाद का जन्म उन्नीसवी सदी मे ही हो जाना चाहिए था क्योंकि उस समय यूरोप में मार्क्सवाद की धूम मची हुई थी और हिंदुस्तानी लोग तब तक यूरोप के संपर्क मे अच्छी तरह आ गये थे। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिंदी मे प्रगतिवाद पैदा हुआ, १९३० ई० के बाद। इसका साफ़ मतलब

है कि प्रगतिवाद हिन्द' मे अपने समय र ही पैदा हुआ ऐसे समय जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गयी थी।

सन्' ३० तक आते-आते हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस में वामपक्षी दल कायम हो गया था, स्वयं कांग्रेस के भी प्रस्तावो मे हिन्दुस्तान के श्रमजीवी जन-समूह की चर्चा होने लगी थी। किसान-मजदूर आन्दोलन मे काफी ताकत आ गयी थी। तत्कालीन साहित्य मे भी इस राजनीतिक जागरण की छाया दृष्टिगोचर होने लगी थी। प्रेमचंद सन् '३० मे 'गबन' उपन्यास लिखते हुए देवीदीन खटिक के मुँह से बडे लोगो के सुराज की आलोचना तथा श्रमजीवियो के सुनहले भविष्य के विषय मे भविष्य-वाणी करवाते है कि अभी दस-पाँच बरस चाहे न हो, लेकिन आगे चलकर बहुमत किसानो और मजदूरो ही का हो जायगा। प्रसाद के 'तितली' उपन्यास मे भी इस उभरते हुए वर्ग की छाया स्पष्ट दिखाई पडती है।

कविता मे भी कल्पना के स्थान पर ठोस वास्तविकता और वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता का आग्रह सन् '३० के बाद से ही बढने लगा।

आलोचना मे आचार्य शुक्ल 'लोक-मंगल की साधनावस्था' पर जोर दे रहे थे और इस तरह वे साहित्य के सामाजिक मूल्यांकन के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।

ऐसी सामाजिक और साहित्यिक परिस्थिति मे प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव होना युग की स्वाभाविक आवश्यकता थी। उस समय लेखको ने जिस उत्साह से प्रगतिवाद को अपनाया इससे प्रगतिवाद भारतीय साहित्य परंपरा की स्वाभाविक आवश्यकता ही प्रतीत होता है।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जिस प्रकार का प्रगतिशील साहित्य लिखा गया, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परंपरा का स्वाभाविक विकास है। प्रगतिवाद के नाम पर आरभ मे पंत जी ने जो मार्क्सवाद और गान्धीवाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, सामूहिकता और वैयक्तिकता, बहिर्जगत् और अन्तर्जगत, भाव और रूप वगैरह का समन्वय करना चाहा उसमे छायावादी परंपरा का आग्रह स्पष्ट

है। इसी तरह प्रगतिवाद के नाम पर दिनकर भगवतीचरण वर्मा और नवीन ने जो विनास और विध्वंस का आह्वान किया उसमें पूर्ववर्ती व्यक्ति वाद की अराजकतावादी तथा विपथगा मनोवृत्ति का ही विस्फोट है। प्रगतिवाद के नाम पर अमृतलाल नागर, नरोत्तम नागर आदि 'उच्छृंखल' दल के लेखकों ने यौन विकृतियों का नग्न उद्घाटन किया, वह भी स्पष्ट रूप से छायावादी अशरीरी भावनाओं की मांसल तथा शारीरिक प्रतिक्रिया है और इस उच्छृंखलता के मूल में भी वही व्यक्तिवादी अराजकता है। इन सभी प्रवृत्तियों के सम्मिलित प्रभाव मे निराला ने जो 'अणिमा' के करुणा-भरे प्रार्थना-गीत गाये, एकाकीपन पर विलाप किया, 'कुकुरमुत्ता' के क्षुद्र मुख मे अहं भरी घोषणाएँ की और रवीन्द्रनाथ की 'विजयिनी' की पैरोडी करते हुए खजोहरा-पीड़ित बुआ का रेखाचित्र खींचा—वह सब उनके छायावाद युगीन संस्कारों का ही कहीं बढ़ाव और कहीं प्रतिक्रिया है।

प्रगतिवाद के आरंभ मे यह जो अध्यात्मवाद, अराजकतावाद, विकृत यथार्थवाद अथवा प्राकृतिकतावाद की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती है, उनका रिश्ता मार्क्सवाद से बहुत दूर का है—इससे आज का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। इससे पता चलता है कि हिन्दी के लेखकों ने बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को अपने व्यक्तिवादी और भाववादी संस्कारो की सीमा मे ही स्वीकार किया और उसी के अनुरूप उनमे प्रतिक्रियाये भी हुई। मध्यवर्गीय लेखकों के मन पर परिस्थिति का जैसा दबाव था, उसमे प्रायः इसी प्रकार का परिवर्तन संभव हो सका।

इन लेखको के अतिरिक्त जो अपने को शुद्ध मार्क्सवादी कहते थे और यहा तक कि कम्यूनिस्ट भी थे और इस नाते 'प्रगतिशील लेखक संघ' के नेता थे, उनमे भी भीतर से अनेक भाववादी तथा व्यक्तिवादी संस्कारो के अवशेष रह गये थे। शिवदान सिंह चौहान और प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचनाओं मे इस कमज़ोरी पर प्रायः अँगुली उठाई गई है। इनके अतिरिक्त जिन आलोचकों ने एकदम मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे अपने को दीक्षित कर लेने का दम भरा और इसके फलस्वरूप प्रगतिशील साहित्य

मे 'शुद्धि' का आन्दोलन चलाया उनकी अत्यधिक प्रगतिशीलता भी प्रकारान्तर से पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी संस्कारो की ही प्रतिक्रिया का फल है। परिस्थितियों के अनुसार संपूर्ण साहित्य का आन्तरिक रूपान्तर किए बिना अथवा हुए बिना खुद अकेले सबसे बहुत आगे बढ जाने का स्वांग भरना और फिर वहाँ से बाकी लोगो को लताड़े बताना प्रकारान्तर से विध्वंसवादी वैयक्तिक क्रान्तिकारियो का-सा ही काम है। कम्यूनिस्ट बोली मे जिसे दक्षिणपंथी और वामपंथी भूलों के नाम से पुकारा गया, वह दोनो ही पूर्ववर्ती युग के बद्धमूल साहित्यिक संस्कारों के परिणाम है।

आरंभिक प्रगतिवाद की इन तमाम दुर्बलताओ से भी यही प्रमाणित होता है कि हिन्दी साहित्य की परंपरा का स्वाभाविक विकास है। जिस तरह प्रगतिवाद मे पूर्ववर्ती साहित्य-परंपरा की सामाजिक चेतनावाले तत्वों का विकास हुआ, उसी तरह उसके व्यक्तिवादी-भाववादी संस्कारो की भी छाया बहुत दिनो तक पडती रही। ये दोनो बातें सिद्ध करती हैं कि प्रगतिवाद का उद्भव और विकास अपनी ही सामाजिक और साहित्यिक परिस्थिति मे हुआ।

जो प्रगतिवाद को सर्वथा विदेशी विचारधारा कहते है वे भी, और जो इसे भारतीय परंपरा का ऐतिहासिक विकास कहते हुए भी प्रगतिशील लेखकों की दुर्बलताओ का मजाक उड़ाते है वे भी—दोनों ही प्रकार के लेखक प्रगतिवाद के उद्भव और विकास की ऐतिहासिकता को समझने मे इनकार करते है। इसके अतिरिक्त जो आरंभिक प्रगतिवाद को व्यापक और परवर्ती प्रगतिवाद को सकीर्ण कहते है, वे भी केवल ऊपरी आन्दोलन के भ्रम मे पडकर प्रगतिशील साहित्य के उद्भव और विकास की ऐतिहासिक गतिविधि को नजरअन्दाज कर जाते हैं।

२.

प्रगतिवाद के इन बीस वर्षों का इतिहास साहित्य मे स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरंतर विकास का इतिहास है, जो केवल राजनीतिक जागरण से आरंभ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक

समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से आरंभ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथातथ्यवाद अथवा नग्नयथार्थ से आरंभ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

प्रगतिशील साहित्य कोई स्थिर मतवाद नहीं है, बल्कि यह एक निरंतर विकासशील साहित्य-धारा है जिसके लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील साहित्य लेखक की स्वयंभू अन्तःप्रेरणा से उद्भूत नहीं होता, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम से वह भी परिवर्तित और विकसित होता रहता है और उनके सिद्धांत उत्तरोत्तर स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होते चलते है।

प्रगतिवाद का आरम्भ साहित्य मे आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन के रूप मे हुआ। हिन्दुस्तान की आजादी उस समय लेखकों की प्रमुख समस्या थी; इसके साथ ही वे किसानों-मजदूरो की सुख-सुविधा के लिए भी चिन्तित थे। छायावादी कविता मे प्रेम-भावना की ही प्रधानता थी और उसमे जो देशभक्ति की कवितायें हुई भी उनसे लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं को परितृप्ति नही हो सकी। इस तरह देश की विशेष राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पच्चीस-तीस वर्ष पहलेवाला व्यापक सांस्कृतिक सामाजिक जागरण अब केवल राजनीति में केन्द्रित हो गया। छायावाद यदि इस सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की। दोनों की प्रकृति मे अंतर होने का यही मूल कारण है।

सन् पैंतीस के जमाने मे साहित्य और राजनीति के संबंधों को लेकर गरम चर्चा चल पड़ी। जिस तरह छायावादी युग मे 'साहित्य समाज का दर्पण है' कहने की हवा थी, उसी तरह इस युग मे साहित्य और राजनीति की घनिष्ठता पर जोर दिया जाने लगा। जो कुछ अधिक समझदार थे, वे साहित्य के इनसे भी व्यापक कार्यो की ओर संकेत करते हुए मैथ्यू आर्नल्ड का मशहूर फिकरा दुहराते थे कि साहित्य जीवन की आलोचना है।

इसका कारण यह है कि सामान्य लोगो के जीवन में राजनीति का तथा राजनीति मे सामान्य लोगों का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ था।

इससे पहले राजनीति केवल बड़े लोगों की चीज थी लेकिन जनतांत्रिक परिस्थिति के आने से अब हवा बदल गया।

इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में नवजीवन तो आया, लेकिन साथ ही एक दूसरे ढंग की सकीर्णता भी आ गयी, क्योंकि साहित्य यथासंभव सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को लेकर चलता और इसीसे वह मूल्यवान् भी होता है, केवल राजनीतिक व्यक्तित्व से साहित्य के लिए विशेष सामग्री नहीं मिल सकती। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काफी आलोचना-प्रत्यालोचना के बावजूद अभी तक प्रगतिशील साहित्य की यह एकांगिता दूर नहीं हो सकी है। परन्तु प्रगतिशील लेखक पिछले कुछ वर्षों से इस कमी को बड़ी तीव्रता के अनुभव कर रहा है।

प्रगतिवाद के आरंभ-काल में जो दूसरा सवाल बड़े जोर-शोर से उठाया गया वह यह था कि 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'' इस वैदिक ऋचा के द्वारा लेखकों ने यह सवाल रखा कि साहित्य किसके लिए? छायावादी कवियों के लिए साहित्य प्रायः 'स्वान्तःसुखाय' अथवा अपने लिए था। इसकी प्रतिक्रिया में 'साहित्य समाज के लिए' का नारा उसी वक्त दिया गया। लेकिन जब प्रगतिवाद ने कहा कि समाज में भी किसान-मजूरों के लिए साहित्य है, तो अनेक सतर्क मध्यवर्गीय लेखक भड़क उठे। 'विशाल भारत' में उस समय अज्ञेय ने इस मत का विरोध करते हुए कहा कि किसानों-मजूरों की तरह आज निम्न मध्यवर्ग भी पीड़ित है—यही नहीं, बल्कि इस समाज-व्यवस्था में छोटे-बड़े सभी लोग परेशान हैं; इसलिए साहित्य सबके लिए—मानवजाति के लिए है।

लेकिन इस 'मानवतावादी' लेखक ने उस समय इस आदर्शवादी गुब्बारे में छिपी हुई अपनी मध्यवर्गीय स्वार्थपरता के कारण यह नहीं देखा कि उसका यह मानवतावाद पैदा किसके कारण हुआ है? उसने ध्यान नहीं दिया कि शोषण के विरुद्ध विद्रोह की यह भावना मध्यवर्ग में अथवा संपूर्ण समाज में किस जागरण के फलस्वरूप आई? सन् तीस-पैंतीस से पहले यह उदार मानवतावाद कहाँ था? अगर किसानों-मजूरों ने शोषण से असंतुष्ट होकर उस समय सिर न उठाया होता तो बुद्धिजीवियों में उनके

प्रति सहानुभूति भी पैदा न होती और न आता यह मानवतावाद ! और 'बौद्धिक सहानुभूति' वाला यह मानवतावाद कितना खोखला था—धोखा भरा था, इसका भी पर्दाफाश शीघ्र ही हो गया ! इस 'दयाशील मानवतावाद' से भी अतृप्त होकर जब किसानो-मजूरो ने दया की जगह अपने अधिकारो की माँग की तो मानवतावाद ने नया मोड लिया अथवा उसे नया मोड़ लेना पड़ा ।

मुख्यरूप से किसानों मजूरों को ध्यान मे रखकर उनकी दृष्टि मे न लिखने पर निम्न-मध्यवर्ग का पीडित लेखक अन्त मे कितना निराशावादी और कभी-कभी कितना मानवता-विरोधी हो जाता है, यह स्वयं अज्ञेय की ही साहित्य-रचना मे देखा जाता है । इस तरह के लेखक का मानवतावाद कितना संकुचित और केवल आत्ममुखवादी बन जाता है इसे अज्ञेय के साहित्य का पन्ना-पन्ना प्रमाणित करता है जिसमे वर्गभेद से ऊपर उठकर निष्पक्ष भाव से लिखने के नाम पर लेखक केवल अपनी विशिष्ट मध्यवर्गीय दुर्बलताओं को ही 'रैशनलाइज' करता चलता है और किसान-मजूर शब्द तक उसकी कलम की नोक पर नही आते ।

लेकिन उस समय 'साहित्य किसके लिए' के उत्तर मे केवल अज्ञेय जैसे थोडे से लेखको ने ही इस तरह की संकीर्ण दृष्टि का परिचय दिया । मैथिलीशरण गुप्त जैसे पुरानी पीढी के लेखको ने भी 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की उदात्त वाणी मे अपना हृदयोद्गार प्रकट किया ।

इसके फलस्वरूप कविता मे पहली बार किसानों—विशेषतः मजूरो के गंदे पैरो की पवित्र धूल दिखाई पड़ी । संध्या के झुटपुटे मे पंत जी को चिड़ियो के 'टी-वी-टी—टुट्-टुट्' के साथ ही डगमग डग घर का मग नापते हुए कुछ श्रमजीवी दिखाई पड़ गये; और फिर टीले पर उन्ही के नंगे तन गदबदे बदनवाले लड़के भी आ गये । कविता मे पहली बार इतनी व्यापक सहानुभूति का प्रवेश हुआ । परिस्थितिवश यद्यपि यह सहानुभूति 'बौद्धिक' ही थी और यह मानवता भी केवल 'सहानुभूति' रही; फिर भी हृदय की इस विशालता ने साहित्य मे नवजीवन का संचार कर दिया—

साहित्य का क्षेत्र व्यापक बना दिया और उसमे उच्चकोटि की नैतिकता प्रतिष्ठित कर दी।

इस बौद्धिक सहानुभूति ने एक ओर लेखक को यथार्थ की ठोस धरती पर उतारा तो दूसरी ओर उसके सिर को आदर्शवाद के ऊँचे आकाश में उठा दिया। दार्शनिक स्तर पर इसे पंतजी ने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय समझा और सांस्कृतिक स्तर पर पश्चिम और पूरब का सम्मिलन। राजनीतिक जीवन में उन्हें यह मार्क्सवाद और गांधीवाद का सामंजस्य जान पड़ा और कविता मे रूप और भाव का मिश्रण।

वस्तुतः यह छायावादी संस्कार और प्रगतिवादी विवेक का संघर्ष था और पंत जी संस्कार को विवेक से तोड़कर परिस्थिति के अनुरूप उसका रूपान्तर करने की जगह उनका सामंजस्य करने लगे। लेकिन ये दोनों चीजें इस क़दर परस्पर-विरोधी है कि प्रगतिशील विवेक के पर्याप्त सामर्थ्य के अभाव में पुराने छायावादी संस्कारो का प्रबल हो उठना स्वाभाविक था। पंत जी जैसे जन-भीरु और समाज से कटे हुए व्यक्ति के लिए केवल बौद्धिक ढंग से इस संघर्ष को सुलझाकर प्रगतिशील विवेक अपना लेना संभव न था। फलतः उनकी सामाजिक चेतना धीरे-धीरे हवाई आदर्शवाद के ही रूप मे शेष रह गयी।

लेकिन पंत जी की यह परिणति धीरे धीरे कई वर्षो में हुई। जब वे अपने वर्तमान आध्यात्मिक ऊर्ध्वगमन का विकासक्रम बतलाते हुए इसका बीज 'ज्योत्स्ना' के हवाई आदर्शवाद मे दिखलाते हैं तो ठीक ही कहते है। हिंदी साहित्य के इतिहास मे यह एक दुखद घटना है कि लोक मंगल का ऐसा महान् स्वप्नद्रष्टा केवल 'ग्राम्या' के गीत गाकर आदर्शवाद के आकाश मे खो गया। पंत जी की साहित्य-साधना से पता चलता है कि उन्होने अपने को बदलने की बहुत कोशिश की। छायावाद के मोह को तोड़कर जिस तरह उन्होने नये लोक मे क़दम रखा वह बहुत बड़े त्याग का नमूना है। युगवाणी के कोरे सैद्धान्तिक, नीरस और कलाहीन पद्य लिखना उन्होंने स्वीकार किया, लेकिन छायावादी रुचिरता का पुनरुत्थान अपने भीतर नही होने दिया। 'ग्राम्या' इसी आत्मत्याग का पुण्य-फल है जिसे उन्होने चार

वर्षों के कठिन आत्मबलिदान और अन्त. सम्पर्क के बाद प्राप्त किया । ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्य नर-नारी के प्रति केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' रखते हुए भी उन्होने उनका मर्म बहुत-कुछ पा लिया । 'हिमालय' की प्रकृति के कवि ने गाँव की प्रकृति का जो रूप लोगो के सामने खडा किया, वह हिंदी काव्य के इतिहास मे अभूतपूर्व था । 'उच्छ्वास' की बालिका 'ग्रंथि' की प्रेयसी और 'गुंजन' की 'भावी पत्नी', 'रूपतारा' तथा 'अप्सरा' के सहचर ने ग्राम-युवती की जो झाँकी दिखाई वह अनूठी थी । 'एकाकी तारा' के विषण्ण गायक ने ग्रामीण वृद्ध की गहरी आँखो मे झाँककर उसके मर्म की बात जिस ढंग से खोलकर रख दी—उससे कवि की बौद्धिक सहानुभूति की ईमानदारी का पता चलता है ।

लेकिन 'बौद्धिक-सहानुभूति' की सीमा का यही अंत होता है और उसकी कार्य-शक्ति समाप्त होती है । यदि जनता के सम्पर्क से फिर नयी कार्य-शक्ति नही आयी तो ऐसी दुर्बल दशा मे अध्यात्मवाद के पुराने मलेरिया का उभड आना स्वाभाविक है । खेद है कि पंत जी की 'अस्वस्थता' के क्षणों मे 'ज्योत्स्ना' काल के दबे हुए अध्यात्मवाद ने उभड़कर फिर से दबोच लिया ।

पत जी के रोगग्रस्त होने पर अर्थात् सन् '४३ के आसपास पुराने कवियो मे निराला की ओर सबकी दृष्टि लगी । 'बादल राग', 'वन-वेला' 'सरोज-स्मृति' और 'नर्गिस' के कवि से लोगों को स्वभावत: ही बहुत बड़ी-बड़ी उम्मीदें थी । जिसने सन् '२३ मे लिखा था—

> रुद्ध कोष है क्षुब्ध तोष
> अगना-अंक से लिपटे भी
> आतक अंक पर काँप रहे है
> धनी, वज्र गर्जन मे बादल !
> त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे है ।
> जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
> तुझे बुलाता कृषक अधीर,
> ऐ विप्लव के वीर !

और जिसकी कविता 'वन बेला' की तरह—

यह ताप त्रास

मस्तक पर लेकर उठी अतल का अतुल सास,

और जिसने स्वर्ग की चाँदनी के मुकाबले धरती की 'तरिम' को श्रेष्ठ मानते हुए कहा कि 'धन्य, स्वर्ग यही !'

उस कवि से प्रगतिशीलता की आशा लगाना स्वाभाविक ही था। लेकिन एक ओर पंत जी दनादन युगवाणी और ग्राम्या दे रहे थे और दूसरी ओर निराला जी जैसे रास्ता ढूँढ रहे थे। चिर-प्रतीक्षा के बाद अपने नाम को सार्थक करती हुई छोटी-सी 'अणिमा' सन् '४३ में बाहर निकली। भाव-भरे लघु-लघु गीतों और साहित्यकारों के संस्तवन के अतिरिक्त हल्के हाथों खींचे हुए कुछ रेखा-चित्र भी उसमें दिखे। जैसे—

सड़क के किनारे दूकान है
पान की। दूर एक्कावान है
घोड़े की पीठ ठोंकता हुआ,
पीरबख़्श एक बच्चे को दुआ,
दे रहा है, पीपल की डाल पर
कूक रही है कोयल, माल पर
बैलगाड़ी चली ही जा रही है।
नीम फूली है, खुशबू आ रही है,
डालों से छन. छनकर राह पर
किरनें पड़ रही हैं, बाह पर
बाँह किए जा रहा है खेत में
दाहिनी तरफ किसान, रेत में
बाईं तरफ चिड़ियाँ कुछ बैठी हैं,
खुली जड़ें सिरसे की ऐंठी हैं।

लेकिन ग्राम्या के आगे इस रेखाकारी पर बहुत कम लोगों का ध्यान गया। तभी निराला के विक्षिप्त होने का बुरा समाचार आया। थोड़े-दिनों बाद इसी मनःस्थिति में उनका 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' निकले। 'कुकुर-

मुत्ता', गर्म पकौड़ी, खजोहरा महँगू महँगा रहा, डिप्टी साहब आए, कुत्ता भौंकने लगा आदि व्यंगों को देखकर साधारण पाठकों को बड़ी निराशा हुई। जिस मजाक के ढंग से वे कविताएँ कही गयी थीं, उससे अधिक मजाक के रूप में वे ली गयीं। कुछ ने कहा यह पागलपन है और कुछ ने कहा निरालापन! निराला के भक्तों ने इसमें यथार्थवाद की बड़ी-बड़ी बारीक बातें दिखाईं। इतना सब होते हुए भी साहित्य के सामान्य पाठक तथा चौहान जैसे कुछ आलोचक पंत जी को ही प्रगतिवाद का प्रवर्तक समझते रहे। निराला की प्रगतिशीलता की ओर लोगों का ध्यान नहीं रहा।

'नये पत्ते' की एक लंबी कविता 'देवी सरस्वती' जो अपने प्रकृति चित्रण में पंत जी की ग्राम्या से अधिक यथार्थ तथा सांस्कृतिक परम्परा की गरिमा से बेजोड़ है, प्राय निराला के भक्तों तथा सामान्य पाठकों से भी अनदेखी गुजर गई। जिस तरह छायावादी युग में पंत जी के उच्छ्वास, आँसू वगैरह की सभी विशेषताओं को समेटते हुए उसी शैली में 'यमुना के प्रति' शीर्षक लंबी कविता लिखकर निराला ने चुनौती दी, उसी तरह प्रगतिशील युग में उनकी 'देवीसरस्वती' ने पंत जी की ग्राम्या के बिखरे प्रयत्नों को एक ही बृहद् प्रयत्न से ललकार दिया।

इसके गठन में पंत जी की 'अप्सरा की सी विराट कल्पना का आश्रय लिया गया है लेकिन यह 'सरस्वती' शताब्दियों से प्रगति के पथ पर अग्रसर होती आ रही जनता की सरस्वती है जो उसकी खेती-बारी में लहरा रही है और उसके दुःख सुख की संगिनी है। इस नूतन 'सरस्वती' की—

> ऐसे बाह-बाह की वीणा बजी सुहाई,
> पौधों की रागिनी सजीव सजी सुखदाई।
> सुख के आँसू दुखी किसानों की जाया के
> भर आये आँखों में खेती की माया से
> हरी-भरी खेतों की सरस्वती लहराई,
> मग्न किसानों के घर उन्मद बजी बधाई।

इस 'सरस्वती' से कवि का कहना है कि तुम

साधक चढी हुई हो, जनता का जी धन्यो !

अंत में वाल्मीकि से लेकर दादू तक इस सरस्वती की क्रमिक प्रगति का इतिहास बतलाते हुए निराला निष्कर्ष निकालते हैं कि—

तुम्हीं चिरन्तन जीवन की उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी, कवि की सतयन कविता।

इसके बाद तरह-तरह के स्वरों में कुछ प्रयोग करते हुए विक्षिप्त चित्त निराला किसी रहस्य-शक्ति की 'अर्चना' और 'आराधना' करने लगे। पंत जी की तरह निराला के भी वेदांती संस्कार कमजोरी में उभड आये। एक ओर उनकी अराजक विद्रोह ही प्रकृति ने उन्हें विक्षिप्त करके व्यंग-विद्रूप की ओर उन्मुख किया तो दूसरी ओर उनके रामकृष्ण-मिशनवाले संस्कारों ने भक्ति-भावना में गर्क कर दिया। जिस तरह पंत जी अपनी आध्यात्मिक उड़ान में भी सासारिक समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालते चलते हैं, उसी तरह निराला भी अपनी भक्ति-सिक्त वेदना में जन साधारण की सासारिक पीड़ा का अनुभव करते रहते हैं। फिर भी पंत जी की आभासित होनेवाली सामाजिकता में उतनी सामाजिकता नहीं है, जितनी निराला की आभासित होनेवाली वैयक्तिकता में है। पंत जी के आशावाद में भी उतनी शक्ति नहीं है जितनी निराला के निराशावाद में है।

इस बीच देश में बंगाल का अकाल, द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न संकट, नौ-सेना-विद्रोह, हिंदुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों के फलस्वरूप भयंकर खून-खच्चर, देश से अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता का हटना और कांग्रेस के हाथों शासन-सत्ता का आना आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। इन घटनाओं ने कमोबेश हमारी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति को भी प्रभावित किया। निम्न-मध्यवर्ग की स्थिति पहले से भी अधिक खराब हुई और किसानों-मजूरों में भयंकर असंतोष फैला। आजादी के पहलेवाले बहुत से सपने टूट गये। सन् पैंतीस छत्तीस में जो प्रगतिशील लेखक उत्साह और आशा लेकर चले थे, उनमें इस मोह-भंग के फलस्वरूप काफी कटुता उत्पन्न हुई। परिस्थिति की इस मार में अनेक लेखक पथ विचलित हो गये, फिर भी कुछ लेखक ऐसे अवश्य

डट रह गये जिन्होंने इन घटनाओं का साहस के साथ सामना किया। उन्होंने इन पर अपनी तात्कालिक साहित्यिक प्रतिक्रिया व्यक्त की। इन राजनैतिक रचनाओं में से बहुत-सी तो केवल सामयिक मांग को ही पूरी करनेवाली थीं, लेकिन अकाल और दंगों पर कुछ अत्यंत मार्मिक रचनाएं भी सामने आयीं।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्रयोगवादी तथा दूसरे कवि जिस संकट-काल में अन्तर्मुखी होकर केवल अपने में उलझे रहे, प्रगतिशील लेखकों ने साहसपूर्वक आगे बढ़कर जनता को ढाढ़स बँधाया और उसकी रहनुमाई की। प्रेमचन्द द्वारा स्थापित 'हंस' तथा कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित 'नया-साहित्य' जैसे मासिक पत्रों ने इस युग में प्रगतिशील साहित्य की रचना और प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया। इन पत्रों तथा 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रयत्न से हिन्दी के प्रगतिशील लेखक उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, तेलगू मलयाली आदि साहित्य के प्रगतिशील लेखकों के सम्पर्क में आये और इस तरह परस्पर-सहयोग से उन्होंने पर्याप्त शक्ति अर्जित की। भक्ति आन्दोलन के बाद फिर उस तरह का अखिल भारतीय साहित्य-संगम प्रगतिवाद के ही युग में संभव हो सका। जनता के इस विराट ऐक्य ने अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह हिन्दी साहित्य को भी बहुत बड़ी शक्ति दी।

प्रगतिशील साहित्य की इस विशाल सामाजिक भावना ने विकास-क्रम में साहित्य की नयी पीढ़ी को जन्म दिया। इससे पहले सन् बीस और पैंतीस की दो पीढ़ियाँ प्रगतिशील साहित्य की रचना कर चुकी थीं और वे दोनों ही प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती संस्कारों से ग्रस्त थीं। प्रगतिवाद ने उन्हें केवल मोड़ा भर था, पैदा नहीं किया था। अब प्रगतिवाद के लिए अवसर था कि अपने संस्कारों से साहित्यकारों की नई पीढ़ी पैदा करे और निःसंदेह उसने यह कार्य बड़ी सफलता से संपन्न किया।

इस जागरण के फलस्वरूप बोलियों में रचना करनेवाले अनेक लोक-कवि ऊपर उठे जैसे बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, रमई काका, बंशीधर शुक्ल, रामकेर, बिसराम, मुकुल, अशान्त, नन्दन आदि जिन्होंने अवधी, भोजपुरिया और

राजस्थानी बोली में बड़े ही ओजस्वी तथा भावपूर्ण गान और कविताएं लिखीं। जिस तरह उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा बीसवीं सदी के राष्ट्रीय जागरण ने मध्यवर्ग के नवशिक्षित युवक समुदाय से अनेक कवि और साहित्यकार पैदा किए, उसी तरह पैंतीस के प्रगतिशील आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने मुख्यतः किसानों-मजूरों और कुछ निम्न मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे युवकों में से नवीन भावनाओं वाले कवि तथा लेखक निकाले। मध्यवर्ग में उगनेवाली इस पौध के विशिष्ट लेखक और कवि राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, अश्क, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, रामविलास शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, राधाकृष्ण, भवानीप्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, रांगेय राघव, चन्द्रकुंवर बर्त्वाल, चन्द्रकिरन सौनरिक्सा, अमृतराय, तेजबहादुर चौधरी, भीष्म साहनी, भैरवप्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव, केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, मार्कण्डेय वगैरह के नाम उल्लेखनीय हैं। ये वे लेखक और कवि हैं जिन्हें प्रगतिशील आन्दोलन ने ही लेखक और कवि बनाया।

विकास के इस सोपान पर आते-आते प्रगतिशील साहित्य ने अपनी एक निश्चित परंपरा बना ली। पन्द्रह-बीस वर्षों के विभिन्न अतिवादों की निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा प्रगतिशील साहित्य-धारा ने अपना एक निश्चित स्वरूप स्थापित कर दिया। जिसे देखकर अब यह बेखटके कहा जा सकता है कि प्रगतिशील साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो अन्य आदर्शवादी व्यक्तिवादी तथा प्राकृतिकतावादी साहित्यिक प्रवृत्तियों से इसे अलग करती हैं। प्रगतिवाद ने जो अपना यह वैशिष्ट्य प्राप्त किया है उसे देखकर कुछ लेखक सोचते हैं कि प्रगतिवाद पैंतीस-छत्तीस की विशाल साहित्य-धारा की अपेक्षा अब संकीर्ण हो रहा है। लेकिन जो विचारशील हैं वे यह लक्ष्य किये बिना न रहेंगे कि प्रगतिवाद आरंभ की अनेक अध्यात्मवादी, व्यक्तिवादी, प्राकृतिकतावादी आदि मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों से क्रमशः मुक्त होता हुआ अब अपना प्रकृत जनवादी रूप प्राप्त कर रहा है। इस विराट जनवादी अभियान में जो रुका सो छूटा, जिसने इसका विरोध करने की हिमाकत की, वह गया और जिसने इसके उद्देश्य और कार्य में संदेह प्रकट किया, वह

संदेहवादी टूटा। वे गुरु द्रोणाचार्य हों चाहे भीष्म पितामह वे कर्ण हों अथवा जयद्रथ—इस महाभारत के विरोध पक्ष मे जाकर उन्हें गतश्री होना ही है। अपने पूर्व वैभव के द्वारा आज वे चाहे जितने बड़े प्रतीत हो रहे हों लेकिन यदि इतिहास-विधाता के अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रवाले विराट वपु की वाणी सुनें तो पता चलेगा कि ये तमाम महारथी वस्तुतः मारे जा चुके हैं, इतिहास ने भीतर से इनका सारा तेज हर लिया है!

इसीलिए आज वे सभी अध्यात्मवादी, व्यक्तिवादी, प्राकृतिकतावादी, लेखक किसी आन्तरिक एकता को अनुभव करके दुरभिसंधिवश एक स्थल पर एकत्र हो गये हैं—जो कुछ वर्ष पहले एक दूसरे के विरोधी और एकदम भिन्न विचार रखनेवाले मालूम होते थे, वे सभी आज जैसे अभिन्न मित्र और एक हो रहे है और इनके इस एका ने ही प्रगतिशील साहित्य से अपने को अलगाकर परोक्ष रूप से प्रगतिशील साहित्य की निजी विशेषताओं को निर्धूम मेघमुक्त और स्पष्ट कर दिया है।

४

जिस तरह कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की, उसी तरह सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है। कविता के क्षेत्र मे भी प्रगतिवाद इसी दृष्टि से प्रकृति और मानव को देखता है। 'ग्राम्या' की रचना करते समय जब पंत जी ने कहा था कि—

> देख रहा हूँ आज विश्व मैं ग्रामीण नयन से
> सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन मन से

तो उन्होंने इसी सामाजिक-यथार्थ-दृष्टि की आधार-शिला रखी थी।

इस दृष्टि ने सबसे पहले प्रकृति पर दृष्टिपात किया और अपनी यथार्थवादिता का प्रमाण इस तरह दिया कि छाया-प्रकृति के स्थान पर ग्राम्य-प्रकृति के यथार्थ रूप का अंकन किया। उन्होंने बादलों के छायामय मेल के स्थान पर 'फैली खेतों में दूर तलक मखमल की कोमल हरियाली'

वाला ग्रामश्री को अपनी कविता का विषय बनाया। दृष्टि बदलते ही दृष्टि-बिन्दु भी बदल गया और साथ ही दृश्य भी। दृष्टि आकाश से उतर-कर धरती पर, दूर से खिंचकर अपने आस-पास आ गयी। यह ग्रामश्री पहले भी थी लेकिन छायावादी कवि का इस ओर ध्यान ही नहीं गया था। तब उसकी दृष्टि में 'लहलह पालक महमह धनिया', 'लाल लाल चित्तियाँ पड़े पीले-मीठे अमरूद', 'अरहर सनई की सोने की किंकिणियाँ', 'तीसी की नीलम कली', 'सरसों की उड़ती भीनी तैलाक्त गंध' जैसी सुन्दर वस्तुएँ नहीं आई थी। लेकिन जब कवि ने देखा कि—

> छायातप के हिलकोरों चौड़ी हरीतिमा लहराती
> ईखों के खेतों पर सुफ़ेद कासों की झंडी फहराती

तो वह 'सुछवि के छायावन की साँस' वाले पल्लवों को भूल गया।

'धरती' का कवि त्रिलोचन यह 'ग्राम-श्री' इस रूप में देखता है—

> सघन पीली
> ऊर्मियों में!
> बोर
> हरियाली सलोनी
> झूमती सरसों
> प्रकम्पित वात से
> अपरूप सुन्दर
> धूप सुन्दर
> धूप में
> जग रूप सुन्दर
> सहज सुन्दर!

इस उन्मुक्त सहजता के साथ ही केदारनाथ अग्रवाल की मस्त बसंती हवा की चेष्टाएँ—

> चढ़ी पेड़ महुवा
> थपाथप मचाया

गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आप ऊपर
उसे भी झकोरा
किया कान में कू
उतर कर भगी मैं
हरे खेत पहुँची—
वहाँ गेहुँओं मे
लहर खूब मारी
पहर दो-पहर क्या
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं !
खड़ी देख अलसी
लिए शीश कलसी
मुझे खूब सूझी !
हिलाया-झुलाया
गिरी पर न कलसी !
इसी हार को पा
हिलाई न सरसों
झुलाई न सरसों !

और फसलों के 'स्वयंवर' की एक झाँकी लीजिए जिसमे—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।

और इस गँवई दृष्टि से दृष्टि मिलाइए।

यह ग्रामीण दृष्टि धीरे-धीरे विकास-क्रम में किस प्रकार सामान्यता से

अपनी जनपदीय विशेषताओं की ओर उन्मुख हुई, इसे मिथिला के कवि नागार्जुन के इस स्मृति-चित्र में देखिए जो सिंध-प्रवास की बेला में आंखों में खिंच आते हैं—

> याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
> याद आतीं लीचियां औ' आम
> याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
> याद आते धान
> याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
> याद आते शस्यश्यामल जनपदों के
> —रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
> आते वेणु-वन वे, नीलिमा के निलय अति अभिराम।

नागार्जुन की मैथिली बोली में लिखी कविताओं में मैथिलि-प्रकृति की स्थानीय विशेषताएँ अधिक उभरकर आई हैं।

एक बार प्रकृति पर यह प्रगतिशील दृष्टि देखें और फिर प्रयोगवादियों के प्रकृति-चित्रों को इनकी तुलना में रखें तो एक की स्वस्थ सामाजिकता और दूसरे की कुंठित वैयक्तिकता का अंतर स्पष्ट हो जायगा।

कहाँ तो सुन्दर धूप में सरसों की सघन पीली ऊर्मियों को देखकर त्रिलोचन सोचते हैं कि—

> क्या कभी
> मैं पा सकूँगा
> इस तरह
> इतना तरंगी
> और निर्मल
> आदमी का
> रूप सुन्दर
> धूप-सुन्दर !

और कहाँ अज्ञेय को 'उजली लालिम मालती' भी 'गंध के डोरे डालती' प्रतीत होती है और उसे देखकर इस अन्तर्गुहावासी कवि के—

मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की !
कहाँ वह स्वस्थ चित्त और कहाँ यह कुंठित मन !

गाँव के 'कलँगी और शाले वाले कासों' पर प्रयोगवादी कवि की भी दृष्टि जाती है लेकिन वह वहाँ केवल पिकनिक की गरज से जाता है और आँख मारकर चला आता है। प्रगतिशील कवि गाँव के बाहर ही बाहर खेतों का चक्कर लगाकर लौट नहीं आता। वह चुपके से 'सन्ध्या के बाद' गाँव के भीतर भी घुस जाता है और घूमते-घूमते उसके पैर तथा दृष्टि इस विषादपूर्ण चित्र पर जाकर रुक जाती है—

> माली की मड़ई उठ नभ के नीचे नभ सी धूमाली
> मंद पवन में तिरती नीली रेशम की सी हलकी जाली।
> बत्ती जला दुकानों में बैठे सब कस्बे के व्यापारी
> मौन मंद आभा में हिम की ऊँघ रही लंबी अँधियारी।
> धुआँ अधिक देती है टिन की ढिबरी कम करती उजियाला
> मन से कढ़ अवसाद श्रांति आँखों के आगे बुनती जाला।
> कँपकँप उठते लौ के संग कातर उर क्रन्दन, मूक निराशा
> क्षीण ज्योति ने चुपके से गोपन मन को दे दी हो भाषा।

और इसी ज्योति के प्रकाश में कवि प्रकृति के बीच में गाँव में रहनेवालों के जीवन में प्रवेश करने की चेष्टा करता है।

यहाँ उसे अनेक प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। कहीं चमारों, कहारों, धोबियों का नाच दिखाई पड़ता है तो कहीं 'ग्राम देवता' के सम्मुख उनका श्रद्धा-समर्पित जीवन पड़ा मिलता है। अपने रास-रंग में भी ये दलित किसान जीवन की वास्तविकता नहीं भूलते और जमींदार के कार्यों पर स्वांग भरते हुए टीका-टिप्पणी कर ही बैठते हैं।

इसी परिक्रमा में कवि की दृष्टि सहसा 'वर्ग-सभ्यता' के मंदिर के निचले तल के दो 'वातायनों' पर जाती है जो ध्यान से देखने पर किसान की दो आँखें ज्ञात हुईं। 'अंधकार की गुहा सरीखी उन आँखों' से आँखें मिलाने का साहस कवि को न हो सका। उनमें उसे 'मरघट का तम' दिखाई

पड़ा। उन आँखो मे उस किसान के बेदखल हुए खेतो का लहराता हार याली दीख गयी और फिर कारकुनों की लाठो से मारा गया जवान लड़का, बिना दवा-दर्पन के स्वर्ग चली जानेवाली गृहिणी, दुधमुँही बिटिया, कोतवाल द्वारा धर्षित विधवा पतोहू, कुर्क हुई धवरी गाय—सब कुछ साकार हो उठा। और इस याद मे फिर कवि को दया की भूखी आंखे ऐसी लगी जैसे—

तुरत शून्य मे गड़ वह चितवन तीखी नोक सदृश बन जाती।

प्रयोगवादी कवियो को 'वे आँखे' नहीं दिखाई पड़ती क्योकि वे उनसे बचकर चलते है, यदि कभी इत्तफाक से उन आँखो से आँखें मिल भी गई तो उनकी ज्योति से चौंधिया कर बद हो जाती है। प्रगतिशील कवि की तरह उनमे साहस ही नही है कि उन आँखो मे झाँककर किसान के जीवन को देख सकें।

गाँवो के जीवन मे घुसते ही प्रगतिशील कवि अपनी वैयक्तिकता भूलकर गाँव मे रहनेवाले तरह-तरह के लोगों को देखता है और उनका चित्र उरेहता है। अहीर की निरक्षर लड़की चम्पा, भोरई केवट, प्राइमरी स्कूल के मास्टर दुखरन झा, चना चबेना खानेवाला चंदू, चित्रकूट के बौड़म यात्री वगैरह वगैरह। इनमें से एक चित्र देखिए। यह है नागार्जुन के 'दुखरन झा' और यह है उनका स्कूल—

> घुन खाए शहतीरो पर की बारहखड़ी विधाता बाँचे
> फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
> बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
> इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।

क्यो ? वह उनकी तनखा से पूछिए।

प्रयोगवादी कवि इतना आत्मस्थ और अहलीन रहता है कि उसका ध्यान आदम के इन साँचो की ओर जाता ही नही। उसे अपने दर्द के सामने दूसरे के दुख-दर्द की ओर आँख उठाकर देखने की फुरसत ही नही। लेकिन उन्हें दुख-दर्द भी क्या है ? वह दर्द केवल प्रेम की अतृप्ति और

अप्राप्ति का दर्द है प्रयोगवादियो मे बहुत कम कवि ऐसे है जो गहराई म पैठकर अनुभव कर सकें कि और भी दर्द है दुनिया मे मुहब्बत के सिवा ।'

व्यक्तिवादी कवि के मन मे इस तरह के विचार कभी ही कभी आते है और वह भी रघुवीर सहाय जैसे कुछ-एक ही कवियो मे—

माधवी
(या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हो ...)
तुम एक ही दुख दे सकी थी
फिर भला ये और सब किसने दिए है ?
जो मुझे है और दुःख, वे तुम्हें भी तो हैं ।

लेकिन ये और दुख कौन-से हैं, इन्हें प्रयोगवादी कवि साफ-साफ़ नहीं कहता क्योंकि कहना नही चाहता ।

कभी गिरजाकुमार जैसे प्रयोगवादी कवि शहरी मध्यवर्ग के इन और दुखों को कहना चाहते है, पर वे भी अस्पष्ट ढंग से उसे 'थकान' कहकर रह जाते है । 'शाम की धूप' की रंगीनियों से आँखें रंजित करने और उसकी गरमाई मे आँखें सेंकने के बाद वे आफिस से लौटते हुए बाबुओं की साइकिल के पीछे बँधी हुई 'भूखी फ़ाइलों' और रोजमर्रा के इस्तेमाल के लिए खरीदे हुए मामूली सामानो से भरी टोकरी की 'किस्मत' पर दृष्टि दौड़ाते है । लेकिन उससे कतराकर कवि तुरंत वहाँ भाग जाता है जहाँ

घर के उस फूल पर यह मन की बूँद
ठहराना चाहती सुध बुध खोकर
जिससे उतरे थकान तन-मन की
डूबकर रात की मिठासो मे !

लेकिन यह 'धूप' निम्न मध्यवर्ग के प्रगतिशील कवि के जीवन पर कैसी रोशनी डालती है, इसे गिरजाकुमार अपने मित्र नागार्जुन की इन पंक्तियों मे देखें—

पूस मास की धूप सुहावन
घिसे हुए पीतल सी पांडुर

पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
शिशु के गालों जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर-रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ-भार से अलस-शिथिल है अंग-अंग
मुँह पर उसके मटमैली आभा
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
चला चलाकर जीभ स्वाद लेती ओठों का।

इधर घर में कोयला ही नहीं है और यह तय है कि 'पूस मास की धूप सुहावन चावल नहीं सिझा सकती है, रोटी नहीं सेंक सकती है, भाजी नहीं पका सकती है।' इसलिए

जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी
वर्ना इस चूल्हे के मुँह पर फिर मकड़ी का जाला होगा!

प्रयोगवाद की रूमानी दृष्टि में और प्रगतिवाद की यथार्थदर्शी-दृष्टि में यह अन्तर है!

ऐसा नहीं है कि प्रगतिशील कवि को प्रेम संबंधी दुख-दर्द नहीं सताता! सताता है। वह भी आदमी होता है और इस व्यवस्था में उसे जहाँ आर्थिक कष्ट है, वहाँ उन आर्थिक कष्टों के कारण अथवा उनके अलावा अन्य प्रकार की भी मानसिक व्यथायें होती है। घोर निर्जनता में उसे अपनी प्रिया का 'सिंदूर-तिलकित भाल' याद आता है। और संपूर्ण प्रयोगवादी कविता में इस 'सिंदूर-तिलकित भाल' की शुचिता के दर्शन नहीं हो सकते। प्रगतिशील कविता में जो स्वस्थ सामाजिक-पारिवारिक प्रेम व्यक्त हुआ है, वह प्रयोगवाद के स्वैराचार और कुंठा भरे प्रेम-काव्य में नहीं मिल सकता।

प्रगतिशील कवि जहाँ स्वच्छंद प्रेम का चित्रण करता है, वहाँ भी

संयत और स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचय देता है। स्फूर्तिदायक प्रथम परिचय का एक चित्र त्रिलोचन के कुंठाहीन हृदय मे देखिए—

यो ही कुछ मुसकाकर तुमने
परिचय की वह गाँठ लगा दी
था पथ पर मैं भूला भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी
कभी कभी यो हो जाता है
गीत कही कोई गाता है
गूँज किसी उर मे उठती है
तुमने वही धार उमगा दी
जड़ता है जीवन की पीड़ा
निस्तरंग पाषाणी क्रीडा
तुमने अनजाने वह पीडा
छवि के शर से दूर भगा दी।

प्रगतिशील कवि का प्रेम इतना स्वस्थ और स्फूर्तिदायक इसीलिए है कि वह प्रेम को सम्पूर्ण जीवन का अंग समझकर अनुभव करता है; प्रयोगवादी कवि की तरह वह सम्पूर्ण जीवन से प्रेम-सम्बन्ध को काटकर देखने का आदी नहीं है। जिस तरह उसके प्रेम-सम्बन्ध को सामाजिकता सुधारती चलती है, उसी तरह उसका प्रेम-सम्बन्ध सामाजिक भावना को भी बल देता चलता है। त्रिलोचन का अनुभव है कि—

मुझे जगत जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा।

और जगत्-जीवन का प्रेमी सौन्दर्य-मुग्ध दृष्टि से केवल उसकी सुषमा को ही नहीं देखना है बल्कि उसकी सुषमा पर घिरती हुई छाया को देखना है और फिर उस सर्वग्रासी छाया को दूर करने की चेष्टा मे ही अपनी निजी पीडा का भी अन्त समझता है। इसीलिए प्रगतिशील कवि की

निराशा में भी आशा की दीप्ति होती है। प्रयोगवादी कवि की तरह वह दुख या सुख कुछ भी अकेले-अकेले नहीं झेलना चाहता है—

आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता!

जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में कि फूल में
मिला है तो मिला है यह

मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता!

ओखी धार दिन की
अकेले बहा नहीं जाता!

यही सामाजिकता प्रगतिशील कवि में वास्तविक देश-प्रेम जगाती है। अहंलीन प्रयोगशील कवियों का ध्यान शायद ही कभी देश-प्रेम के गीत लिखने की ओर जाता हो क्योंकि वे देश-प्रेम को पुरानी चीज समझते है, उनके विचार से यह पूर्ववर्ती राष्ट्रीय जागरणवाले युग की भावना है और अब उसकी कोई आवश्यकता नही है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर वस्तुतः वे अराष्ट्रीयता का प्रचार करते है; विदेशी कवियो के भाव-रूप मे वे इस तरह रँगे हुए है कि उनकी कविता मे अपनी देशज विशेषताएँ नगण्य हैं; उनमे अपनी धरती का रस नहीं है। गमले के फूल की तरह इनकी खाद और पौदा सब कुछ विदेशी है, केवल गमला देशी है।

प्रगतिशील कवि इस अराष्ट्रीयता के विपरीत अपने गाँव और जनपद को प्यार करते है और उसी प्यार के माध्यम से वे देश-प्रेम की व्यंजना करते है। पहले की देश-प्रेम सम्बन्धी कविताओं से इनकी यह विशेषता है। पहले की देशभक्ति सामान्योन्मुखी थी तो प्रगतिशील युग की देश-भक्ति विशेषोन्मुख है और इसीलिए अधिक ठोस और वास्तविक है; यह विशेष के भीतर से ही सामान्य को प्रकट करती है। प्रगतिशील कविता का यही

यथार्थवाद है। नागार्जुन ने अपनी जन्मभूमि 'तरउनी' तथा मिथिला की याद में जो दजनों कविताएं मैथिली और खड़ी बोली में लिखी हैं, उनसे इस राष्ट्रीयता का अनुमान लगाया जा सकता है।

आर्थिक परिस्थितियों के कारण निरंतर प्रवासी का-सा जीवन बिताने वाले नागार्जुन के हृदय में मिथिला के लिए कितनी हूक उठती है इसे सहृदय ही अनुभव कर सकते हैं। 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' कवि को अपने मिथिला की याद हो आती है और वह सोचता है कि यदि हमारे पास भी बाप-दादों की जमीन होती तो घर छोड़कर रोजी के लिए बाहर न निकलना पड़ता और तब अपनी जन्मभूमि से ऐसा दुःसह बिच्छेद भी न होता। कवि कभी-कभी थोड़े समय के लिए अपनी जन्मभूमि के दर्शन के लिए जाता है तब उसे अनुभव होता है कि जो बिका हुआ बैल अपने पहलेवाले 'बथान' पर आकर उसे सूँघता है और फिर आह भरकर छोड़ता है उसी तरह मुझे भी यह धरती जल्द ही छोड़नी पड़ेगी! दूर-देश सिन्ध में पड़े-पड़े वह एकबार तड़पकर गा उठता है—

> हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण
> जिसको डाल दें कोई कहीं भी
> करेगा वह कभी कुछ न विरोध!
> × × ×
> यहाँ भी, सच है, न मैं असहाय
> यहाँ भी है व्यक्ति औ' समुदाय
> किन्तु, जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय!
> मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
> समय चलता जायगा निर्बाध अपनी चाल!

और यह मातृभूमि-प्रेम राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यह प्रगतिशील कवि जिस ममत्व से बंगाल के साथ हाथ मिलाता है, उसी ममत्व से केरल के साथी को भी भेंटता है और उसी स्नेह के साथ नये चीन, सोवियत यूनियन, लैटिन अमेरिका तथा अन्य देशों की जनता को छाती से लगाता है।

इस तरह प्रगतिशील कविता ने संसार में सुख-शान्ति ले आने के लिए संसार भर की जनता की आकांक्षाओं के साथ हमारी आकांक्षाओं को जोड़ दिया है। इतने बड़े कार्य का श्रेय प्रगतिशील कविता को ही है। आत्मकेन्द्रित प्रयोगवादी कवियों को इस बात से कोई मतलब नहीं, उनके लिए उनकी कुंठा इस विश्व-भावना से कहीं बड़ी और महत्वपूर्ण है।

प्रगतिशील कवि जानता है कि वास्तविक सुख-शान्ति अभी हमारे जीवन में नहीं आ सकी है; फिर भी जब वह दुनिया के तिहाई भाग में सुख-शान्ति को वास्तविक रूप धारण करते देखता है और पाता है कि उसके लिए जो भविष्य है वह कुछ लोगों के लिए वर्तमान बन चुका है तो भविष्य की असंभाव्यता पर से उसका विश्वास उठ जाता है और मानवविजय की आशा उसमें नूतन कल्पनाशक्ति का संचार करती है।

इसीलिए प्रयोगवादी कवि जहाँ एकदम रुद्ध-यथार्थवादी है, वहाँ प्रगतिशील कवि यथार्थ की सीमाओं से मुक्त होकर कल्पना की उदात्त सृष्टि भी करता है; वह सुनहरे सपने भी देखता है। सपना तो प्रयोगवादी कवि भी देखता है, लेकिन उसका दिवा-स्वप्न प्रायः रुग्णता और पलायन के भावों से भरा होता है; जब कि प्रगतिशील कवि का सपना उसे संघर्ष करने की शक्ति देता है—वह स्फूर्तिदायक और वीरत्वव्यंजक होता है।

प्रगतिशील कविता के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि उसमें कलापक्ष की अवहेलना की जाती है; यदि इसका यह अर्थ है कि प्रगतिशील कवि प्रयोगवादियों की तरह कलापक्ष पर बहुत जोर नहीं देते तो यह ठीक है। बहुत सजाव-सिंगार और पेचीदगी प्रगतिशील कविता में नहीं मिलती। अपनी बात को कितना सुलझाकर उसे कितने सहज ढंग से कह दिया जाय—यही प्रगतिशील कवि का प्रयत्न रहता है। उसके भावों की तरह भाषा भी गाँठ-रहित होती है। प्रगतिशील कवि अपना हर शब्द और हर वाक्य चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करता। यदि दो-चार शब्द बेकार भी आ जायें तो वह उन्हें निकाल देने के लिए बहुत चिंतित नहीं होता। उसका विश्वास है कि जबर्दस्त भाव भाषा की ढीला-पोली के बावजूद अपने को प्रकाशित करके रहते हैं। इसीलिए प्रगतिशील मुक्तछंदों

ेनन्द प्रयोगवादी कविता की अपेक्षा शिथिल मिलेंगे। लेकिन यही सह
ता उनकी शोभा है। प्रयोगवाद की कटी-छंटी नव कविता के मुकाबले
प्रगतिशील कविताएँ प्राय: अनगढ़, बेतरतीब उगी हुई घासों और फूलों
की बनस्थली प्रतीत होती हैं लेकिन उनके उस जंगलीपन में भी आक-
र्षण है।

प्रगतिशील कविता की यह सरलता ही और रचयिताओं के लिए दुःसाध्य है। इसे देखकर सभी सोचते हैं कि इसे लिखने मे क्या है, लेकिन लिखने चलते है तो आटा-दाल का भाव मालूम हो जाता है। तुलसी के शब्दो में—

जिमि मुँह मुकुर, मुकुर निज पानी।
गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥

फिर भी प्रगतिशील कवि जब व्यंग लिखते है तो उनकी भाषा का बाँकपन देखने लायक होता है। हिंदी कविता में व्यंग-काव्य का जितना सुन्दर विकास प्रगतिवाद मे हुआ, उतना कभी नही। नागार्जुन और केदार के नुकीले व्यग कितने प्रभावशाली है, इसे जनता के दुश्मन ही जानते है। हिंदी कविता मे व्यंग या तो निराला ने लिखे या फिर नागार्जुन और केदार ने। नागार्जुन के व्यंग का एक नमूना लें। नेता लोग जो अक्सर यह कहते हैं कि हमारे यहाँ भूख या अकाल नहीं है, उस पर यमराज तथा एक मरे हुए मास्टर की बातचीत के द्वारा यहाँ कितना सुन्दर व्यंग किया गया है। नरक के मालिक यमराज 'प्रेत का बयान' लेते हुए पूछते है कि कैसे मरा तू ? जवाब मे 'नचाकर लम्बे चमचों-सा पंचगुरा हाथ, रूखी पतली किट-किट आवाज मे प्रेत अपना पूरा पता बतलाते हुए करेमो की पत्तियाँ खाने की आधी ही कथा कह पाता है कि दण्डपाणि महाकाल अविश्वास की हँसी हँसकर कहते है—"बडे अच्छे मास्टर हो ! आए हो मुझको भी पढाने ! ! वाह भाई वाह ! तो तुम भूख से नही मरे ?" इस पर हद से ज्यादा जोर डालकर प्रेत कहता है कि 'और और और और भले नानाप्रकार की व्याधियाँ हों भारत मे किन्तु—किन्तु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको !' और भाफ़ का आवेश निकल जाने के बाद

शांत स्तिमित स्वर में फिर कहता है कि जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है सुनिए महाराज

> ठनिक भी पार नहीं
> दुख नहीं, दुविधा नहीं
> सरलता पूर्वक निकले थे प्राण
> सह न सकी आँत जब पेचिश का हमला...

छंदों के क्षेत्र मे प्रगतिशील कवि जान बूझकर विचित्र-विचित्र धुन निकालने का प्रयोग तो नही करते; लेकिन यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि प्रगतिशील कवियो ने लोकगीतो की अनेक नयी धुनो को कविता मे पुनर्जीवित किया। इस दिशा मे एकदम नये कवि जैसे केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र आदि ने काफी सफलता दिखलाई है। नई तर्ज मे लिखा हुआ केदारनाथ अग्रवाल का यह सीधा-सादा-सा गीत चुने हुए थोड़े-से शब्दों में मार्मिक प्रभाव छोड़ जाता है--

> माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता
> मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
> जल का जहाज जैसे पल पल डोलता
> माँझी न बजाओ वंशी मेरा प्रन टूटता
> मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
> तृन का निवास जैसे बन बन टूटता
> माँझी न बजाओ वंशी मेरा तन झूमता
> मेरा तन झूमता है तेरा तन झूमता
> मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।

५.

प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण कविता में जितना परिवर्तन हुआ, उतना कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द के युग से ही उपन्यास मे यथार्थवादी

प्रवृत्ति का उदय हो गया था। अपनी कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचन्द ने शुरू से ही किसानों और मध्यवर्गीय भद्र पुरुषों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया था। प्रेमचंद के ही समय किस तरह परिस्थितिवश किसान मजूर बनने के लिए विवश हो गया था, इसे भी उन्होंने 'गोदान' में अच्छी तरह दिखला दिया था। इसलिए प्रगतिवाद के उदय से अधिक-से-अधिक यही उम्मीद थी कि प्रेमचंद की परंपरा को और भी अच्छी तरह से आगे बढ़ाने की दृष्टि मिलेगी। प्रेमचंद ने आरंभिक युग के सुधारवादी और आदर्शवादी विचारों से किस तरह क्रमशः छुटकारा पाया और अंत तक आते-आते उनका दृष्टिकोण कितना स्पष्ट हो गया था इसे 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' की तुलना से अच्छी तरह समझा जा सकता था। वास्तविकता के विषय में उनकी समझ कितनी गहरी हो गयी थी इसका पता केवल एक उदाहरण से चल सकता है।

'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर जैसे किसानों को उन्होंने बहुत अधिक विद्रोही दिखाया था लेकिन होरी को उन्होंने संतोष, धैर्य सहनशीलता तथा अंधविश्वास का पुंज दिखलाया, जो भारतीय किसान की जाती विशेषता है। यदि किसान-आन्दोलन की ओर ध्यान दें तो 'प्रेमाश्रम' के सत्रह-अट्ठारह वर्षों बाद लिखे हुए 'गोदान' में किसान को अधिक विद्रोही दिखाना चाहिए था। लेकिन वास्तविकता यह थी कि तमाम आंदोलनों के बावजूद भारतीय किसान काफी संतोषी, भाग्यवादी और धैर्यवान रहा है। अपने अनुभवों से प्रेमचंद ने इस तथ्य को अंत में समझा और होरी के रूप में उन्होंने ऐसे ही किसान का चित्रण किया जो तमाम किसानों का प्रतिनिधि हो सका।

इसके साथ ही उनकी सूक्ष्म दृष्टि से यह बात छूट न सकी कि इन वर्षों में किसान के शोषण के ढंग अधिक बारीक हो गये थे। इस बीच जमींदार तथा दूसरे शोषक अधिक सतर्क हो गये थे। यथार्थदर्शी प्रेमचंद ने बहुत खूबी से प्रच्छन्न रूप में होरी के शोषित होने का चित्रण किया है।

तब से भारतीय किसान के जीवन में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं; उसे शोषित करने के तरीके बदल गये हैं—शोषकों में भी तर और तम संबंधी

अंतर आ गया है। दूसरी ओर किसान में अपेक्षाकृत असंतोष की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है इस परिवर्तित और जटिल वास्तविकता को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत है और प्रगतिशील जीवन-दृष्टि ने निःसन्देह इस विषय में लेखकों की सहायता की। नागार्जुन के बलचनमा, 'नई पौध' 'बाबा बटेसरनाथ' और भैरवप्रसाद गुप्त की 'गंगा मैया' जैसे उपन्यासो में किसानो कोऐसी ही जिंदगी का वास्तविक चित्रण किया गया है। नागार्जुन ने एक ओर मिथिला के संघर्ष-रत किसानो को मूर्तिमान किया है तो भैरव ने बलिया के विद्रोही किसानों को। प्रेमचंद के किसानो की जिंदगी का सफल चित्रण करनेवाले ये अकेले प्रगतिशील लेखक है।

मजदूरों की जिंदगी पर छोटी-छोटी कहानियाँ तो इस बीच बहुत-सी लिखी गयी लेकिन उपन्यास देखने मे नही आया। इसका कारण संभवतः यही है कि अब भी भारत-कृषि प्रधान देश है।

प्रगतिवाद के युग में कथा साहित्य का अधिकाश मध्यवर्ग को लेकर लिखा गया। यशपाल, अश्क, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, रांगेय राघव, राधाकृष्ण वगैरह ने मध्यवर्गीय जीवन से ही अपने पात्र चुने। अश्क की 'गिरती दीवारे' और 'गरम राख', यशपाल के 'देश-द्रोही' और 'मनुष्य के रूप', अमृतलाल नागर के 'सेठ बांकेमल', रांगेय राघव का 'घरौंदे', अमृत का 'बीज', विष्णु का 'ढलती रात' आदि उपन्यासो के नायक तथा इतर पात्र प्रायः मध्य वर्ग के है।

सन् पैंतीस के बाद मध्यवर्ग के जीवन में काफी परिवर्तन हुआ और इन लेखको ने इसका भरसक यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया। सब समय इन्हे सफलता मिल ही गयी हो यह कहना कठिन है। अक्सर ऐसा हुआ है कि इनके नायक निःसत्व हो गये है और ओछे ढंग के रोमांस में डूब चले है। कभी-कभी नायक को वस्तुस्थिति से अधिक आगे और विद्रोही दिखाने की चेष्टा की गयी है। इस सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि कुछ व्यक्तिवादी और सेक्सवादी लेखको को छोड़कर इस युग के अधिकांश उपन्यासकारो और कहानीकारो ने भरसक मध्यवर्ग की यथार्थ कमजोरियो को चित्रित करने की कोशिश की है।

कथाकारों के प्रगतिवादी दृष्टिकोण ने सामाजिक यथार्थवाद को दो खतरों से बचाने का प्रयत्न किया है। एक खतरा तो मनोविश्लेषणवाद की ओर से है जिसमें या तो शेखर और भुवन जैसे सर्वथा अहंवादी और असाधारण पात्रों की सृष्टि की जाती है अथवा इलाचन्द्र जोशी के सेक्सग्रस्त अद्भुत नायकों का निर्माण होता है। इन दोनों प्रकार की असाधारणताओं से उबारकर प्रगतिवाद ने साधारण पात्रों के निर्माण का गुर बताया।

इसके विपरीत इस विचार-प्रचार-प्रधान युग में कुछ लेखकों ने व्यक्तित्वहीन सर्वथा निर्जीव पात्रों के सहारे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहस मुबाहिसा से भरा हुआ उपन्यास लिखा। प्रगतिवाद को भी इस सोद्देश्यता का जिम्मेवार कहा जा सकता है। लेकिन धीरे-धीरे यह गलती दूर कर दी गयी।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रभाव में कुछ उपन्यासकारों का ध्यान ऐतिहासिक कथानकों की ओर गया और इस दिशा में यशपाल की 'दिव्या' तथा राहुल जी के 'वोल्गा से गंगा', 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' आदि श्रेष्ठ प्रयत्न हुए। अतीत की विकासोन्मुखी शक्तियों को पहचानकर और उन्हें उपन्यास के सजीव पात्रों के रूप में मूर्तिमान करके इन ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने वर्तमान युग के मुक्तिकामी जनसमुदाय को शक्ति और स्फूर्ति दी।

इस क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से जो अन्य लेखकों ने काम किया, उनमें 'झाँसी की रानी' के लेखक वृन्दावनलाल वर्मा, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक हजारी प्रसाद द्विवेदी और 'वहती गंगा' के लेखक शिवप्रसाद मिश्र रुद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

इस युग में प्रगतिवादी विवेक जिस बद्धमूल संस्कार के विरुद्ध आरम्भ से ही संघर्ष करता रहा और फिर भी उसे यथोचित सफलता नहीं मिल सकी, वह है उपन्यासकारों के नारी-सम्बन्धी बोर्ज्वा संस्कार। राहुल, यशपाल और अश्क जैसे जागरूक तथा प्रगतिशील उपन्यासकार भी अपनी सेक्स सम्बन्धी कमजोरी से मुक्त न हो सके। इनमें से यशपाल में यह विकृति सबसे अधिक है। अश्क के 'गरम राख' उपन्यास से लगता है कि

लेखक गिरती दीवार के मलबे से निकलने की कोशिश कर रहा है, फिर भी वह अश्लील यौन-प्रसंग की योजना से न बच सका। राहुल जी इन दोनों लेखकों से अपेक्षाकृत संयत हैं, लेकिन उनमें दिन पर दिन यह कमजोरी बढ़ती जा रही है जैसा कि उनके नवीनतम उपन्यास 'मधुर स्वप्न' से विदित होता है।

वस्तुतः इस विषय में हमारे वर्तमान मध्यवर्गीय समाज की परिस्थिति इतनी भयंकर है कि जब तक कोई व्यापक जन-जागरण नहीं होता, इस यौन-विकृति से जल्दी निस्तार मिलना कठिन है।

इतना होते हुए भी इसी युग में दूसरे अनेक लेखक ऐसे हैं जिन्होंने नारी का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ चित्रण किया है। नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची' इस दिशा में सफलतम प्रयत्न है। वृन्दावन लाल वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी और विष्णु प्रभाकर के भी नारी पात्र अधिक स्वस्थ, संयत तथा शक्तिशाली हैं।

कुल मिलाकर कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद कविता की अपेक्षा अधिक व्यापक और सफल हुआ, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

६

कविता, कहानी, उपन्यास इत्यादि के क्षेत्र में प्रगतिशील लेखकों ने जिस सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि से रचना-कार्य किया, उसे आलोचना के क्षेत्र में एक सुनिश्चित ऐतिहासिक, सामाजिक साहित्य-सिद्धान्त का रूप दिया गया। छायावादी और प्रयोगवादी दृष्टियों ने भी आलोचना के क्षेत्र में कुछ छिट-पुट विचार रखे हैं, लेकिन उन्होंने साहित्य सम्बन्धी अपने विचारों को सुव्यवस्थित सिद्धान्त का रूप नहीं दिया। इसके विपरीत प्रगतिवाद ने आलोचना के मान स्थिर किये और उसके अनुसार सामान्यतः समूची साहित्य-परम्परा का और विशेष रूप से अपने समकालीन साहित्य का मूल्यांकन भी किया। इस तरह प्रगतिवाद ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के द्वारा साहित्य को बदलने और विकसित करने में नेतृत्व किया।

प्रगतिवाद से पूर्व हिन्दी आलोचना में मुख्यतः तुलना और व्याख्या का कार्य हो रहा था। आलोचक प्राय. साहित्यिक कृतियों की यथाशक्ति व्याख्या करके उसमे निहित सौन्दर्य का उद्घाटन करते थे और फिर उस सौन्दर्य के आधार पर उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते थे। आचार्य शुक्ल की गूढ़ दृष्टि ने व्याख्या के इस कार्य मे अद्भुत क्षमता का परिचय दिया। उन्होंने अपने सजग सौन्दर्य-बोध और गहरी रसग्राहिणी शक्ति के द्वारा लेखकों और पाठको के मन मे उच्च-कोटि के साहित्य-संस्कार अथवा रुचि का बीज वपन किया। उनके प्रयत्न से लोगो के मन में चमत्कार और वास्तविक रस मे अंतर करके साहित्य को परखने की क्षमता आई।

लेकिन आचार्य शुक्ल ने इससे भी आगे बढ़कर एक और काम किया। उन्होंने अपने सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति को शुद्ध आनन्द की स्थिति से ऊपर उठाकर लोक-मंगल की उदात्त सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनका विचार था साहित्य केवल आनंद देने की वस्तु नही है, बल्कि उसे लोक-मंगल के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने तुलसीदास के साहित्य को सूरदास की रचना से श्रेष्ठ ठहराया क्योंकि उनके विचार मे तुलसी मे सूर की अपेक्षा लोक-मंगल की भावना अधिक थी। शुद्ध आनन्दवाले साहित्य को वे 'लोक-मंगल की सिद्धावस्था' कहते थे और सामाजिक कल्याणवाले साहित्य को 'लोक-मंगल की साधनावस्था'।

अपनी इस स्थापना के द्वारा शुक्ल जी ने समीक्षा को निष्क्रिय व्याख्या से आगे बढ़ाकर सक्रिय परिवर्तनकारी सामाजिक शास्त्र के रूप मे प्रतिष्ठित किया।

आवश्यकता इस कार्य को आगे बढ़ाने की थी और प्रगतिवाद ने आगे बढ़कर शुक्ल जी की इस विरासत को यथोचित रूप देने का उत्तरदायित्व अपने कंधो पर लिया।

प्रगतिशील आलोचकों ने अनुभव किया कि ऐसे समय जब कि सामाजिक संकट गहरा हो गया हो और देश के बहुसंख्यक लोगों का जीवन इतना विषाक्त कर दिया गया हो, साहित्य के ब्रह्मानंद की चर्चा करना

लेखक गिरती दीवार के मलबे से निकलने की कोशिश कर रहा है, फिर भी वह अश्लील यौन-प्रसंग की योजना से न बच सका। राहुल जी इन दोनों लेखकों से अपेक्षाकृत संयत हैं, लेकिन उनमें दिन पर दिन यह कमजोरी बढ़ती जा रही है जैसा कि उनके नवीनतम उपन्यास 'मधुर स्वप्न' से विदित होता है।

वस्तुतः इस विषय में हमारे वर्तमान मध्यवर्गीय समाज की परिस्थिति इतनी भयंकर है कि जब तक कोई व्यापक जन-जागरण नहीं होता, इस यौन-विकृति से जल्दी निस्तार मिलना कठिन है।

इतना होते हुए भी इसी युग में दूसरे अनेक लेखक ऐसे हैं जिन्होंने नारी का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ चित्रण किया है। नागार्जुन की 'रति-नाथ की चाची' इस दिशा में सफलतम प्रयत्न है। वृन्दावन लाल वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी और विष्णु प्रभाकर के भी नारी पात्र अधिक स्वस्थ, संयत तथा शक्तिशाली हैं।

कुल मिलाकर कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद कविता की अपेक्षा अधिक व्यापक और सफल हुआ, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

६

कविता, कहानी, उपन्यास इत्यादि के क्षेत्र में प्रगतिशील लेखकों ने जिस सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि से रचना-कार्य किया, उसे आलोचना के क्षेत्र में एक सुनिश्चित ऐतिहासिक, सामाजिक साहित्य-सिद्धान्त का रूप दिया गया। छायावादी और प्रयोगवादी दृष्टियों ने भी आलोचना के क्षेत्र में कुछ छिट-पुट विचार रखे हैं, लेकिन उन्होंने साहित्य सम्बन्धी अपने विचारों को सुव्यवस्थित सिद्धान्त का रूप नहीं दिया। इसके विपरीत प्रगतिवाद ने आलोचना के मान स्थिर किये और उसके अनुसार सामान्यतः समूची साहित्य-परम्परा का और विशेष रूप से अपने समकालीन साहित्य का मूल्यांकन भी किया। इस तरह प्रगतिवाद ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के द्वारा साहित्य को बदलने और विकसित करने में नेतृत्व किया।

प्रगतिवाद से पूर्व हिन्दी आलोचना में मुख्यतः तुलना और व्याख्या का कार्य हो रहा था। आलोचक प्रायः साहित्यिक कृतियों की यथाशक्ति व्याख्या करके उसमें निहित सौन्दर्य का उद्घाटन करते थे और फिर उस सौन्दर्य के आधार पर उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते थे। आचार्य शुक्ल की गूढ़ दृष्टि ने व्याख्या के इस कार्य में अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया। उन्होंने अपने सजग सौन्दर्य-बोध और गहरी रसग्राहिणी शक्ति के द्वारा लेखकों और पाठकों के मन में उच्च-कोटि के साहित्य-संस्कार अथवा रुचि का बीज वपन किया। उनके प्रयत्न से लोगों के मन में चमत्कार और वास्तविक रस में अंतर करके साहित्य को परखने की क्षमता आई।

लेकिन आचार्य शुक्ल ने इससे भी आगे बढ़कर एक और काम किया। उन्होंने अपने सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति को शुद्ध आनन्द की स्थिति से ऊपर उठाकर लोक-मंगल की उदात्त सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनका विचार था साहित्य केवल आनंद देने की वस्तु नहीं है, बल्कि उसे लोक-मंगल के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने तुलसीदास के साहित्य को सूरदास की रचना से श्रेष्ठ ठहराया क्योंकि उनके विचार में तुलसी में सूर की अपेक्षा लोक-मंगल की भावना अधिक थी। शुद्ध आनन्दवाले साहित्य को वे 'लोक-मंगल की सिद्धावस्था' कहते थे और सामाजिक कल्याणवाले साहित्य को 'लोक-मंगल की साधनावस्था'।

अपनी इस स्थापना के द्वारा शुक्ल जी ने समीक्षा को निष्क्रिय व्याख्या से आगे बढ़ाकर सक्रिय परिवर्तनकारी सामाजिक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया।

आवश्यकता इस कार्य को आगे बढ़ाने की थी और प्रगतिवाद ने आगे बढ़कर शुक्ल जी की इस विरासत को यथोचित रूप देने का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया।

प्रगतिशील आलोचकों ने अनुभव किया कि ऐसे समय जब कि सामाजिक संकट गहरा हो गया हो और देश के बहुसंख्यक लोगों का जीवन इतना विषाक्त कर दिया गया हो, साहित्य के ब्रह्मानंद की चर्चा करना

बेकार है। जब अधिकांश लोगों को किसी तरह जीना मुहाल हो, उन्हें साहित्य में शुद्ध आनंद लेने का उपदेश देना उनका अपमान करना है। इसलिए प्रगतिशील लेखकों ने आवाज लगाई कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य है जनता को संघर्ष के लिए शक्ति देना तथा उस संघर्ष में विजय प्राप्त करके मुक्त होने के लिए मार्ग दिखाना।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि शुक्ल जी के 'लोक-मंगल' में जो 'लोक' था, वह अब प्रगतिवाद में आकर 'जनता' हो गया। यह परिवर्तन परिस्थितियों के अनुरूप ही था। वर्ग-भावना अब अधिक स्पष्ट हो गयी थी। और ऐसे समय 'लोक-मंगल' को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता थी। प्रगतिवाद ने अपने नाम के साथ ही यह संकेत कर दिया कि साहित्य प्रतिगामी अथवा प्रतिक्रियावादी भी होता है। 'प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की तुलना ही में प्रगतिशील होगा।'

इस तरह प्रगतिवाद ने अपना ध्यान साहित्य में प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील तत्वों में भेद करने की ओर दिया। क्योंकि समाज और साहित्य की प्रगति के लिए प्रतिक्रियावादी तत्वों की आलोचना करना और उन्हें मिटाना साहित्यकार का कर्तव्य है। इस दृष्टि से प्रगतिवाद ने संपूर्ण साहित्य-परंपरा और फिर समकालीन साहित्य का विश्लेषण किया।

लेकिन यह उद्देश्य जितना महान् है, उसकी पूर्ति उतनी ही कठिन है। सही ऐतिहासिक सूझ के बिना इसमें अनेक गलतियाँ हो सकती हैं और प्रगतिशील समीक्षा में भी ऐसी गलतियाँ हुईं, फिर भी औरों की तरह प्रगतिवादी लेखकों ने भी अपनी गलतियों से ही सीख ली। आरंभ में प्राचीन प्रतिक्रियावादी रूढ़ियों के साथ उन्होंने समस्त प्राचीन परंपरा को ही प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर दिया; शुरू-शुरू में रूढ़ि और परंपरा का अंतर उन्हें न सूझा। उन्होंने धार्मिक आवरण में व्यक्त होने वाले पूरे भक्तिकाव्य को उठा फेंका—उसमें छिपी हुई ऐतिहासिक विषय वस्तु अथवा जनवादी भाव-धारा उन्हें न दिखी। इसी तरह छायावादी कविता की

पलायन भावना का विरोध करते-करते वे समूचे छायावाद की आलोचना करने पर उतारू हो गये।

किन्तु पीछे तुलसी-साहित्य और छायावाद पर स्वस्थ प्रगतिशील समीक्षाएं लिखकर प्रगतिवादी आलोचकों ने प्रमाणित कर दिया कि सही ऐतिहासिक दृष्टि परम्परा का कितना सही मूल्यांकन कर सकती है। इस दृष्टि से रामविलास शर्मा के तुलसीदास और निराला-पंत संबंधी निबंध मननीय है; त्रुटियाँ इन निबंधों में भी हो सकती है लेकिन इनसे नयी दिशा में सोचने की प्रेरणा मिलती है।

परंपरा का मूल्यांकन इतना कठिन कार्य है कि एक व्यक्ति अथवा युग या विचारधारा द्वारा उसका अंतिम निर्णय हो सकना असंभव है। इस विषय में शुक्ल जी जैसे समर्थ समीक्षक से भी भूलें हुई हैं। फिर भी इस दिशा में प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह यह है कि परम्परा के प्रतिगामी तत्वों को अलगाकर उसमें अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित और विकसित होनेवाले प्रगतिशील तथा जीवंत तत्वों को उभार कर सामने रखा। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि साहित्य की प्रगतिशील परंपरा जनवाद की परंपरा है—इसकी मुख्य प्रेरक शक्ति जनता है, जो पुरोहितों, महन्तों, राजाओं, नवाबों, बादशाहों, सेठों और साहूकारों के अत्याचार झेलती हुई भी जातीय प्राण-शक्ति को निरंतर जीवनदान देती हुई आगे बढ़ाती चली आ रही है।

परंपरा के ऐसे मूल्यांकन से वर्तमान परिस्थितियों में जनता तथा जनता के लेखकों को कितनी शक्ति प्राप्त हुई है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

इसी दृष्टि से समालोचना करके प्रगतिशील लेखकों ने अपने समकालीन साहित्य में भी फैले हुए आध्यात्मिक कुहासा, कुंठावादी गानों और यौन-कर्दम को साफ करने में कितना बड़ा कार्य किया—यह किसी से छिपा नहीं है। यदि प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली न होती तो ये अस्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियाँ साहित्य के विकास में कितनी बाधा पहुँचाती, कहना कठिन है। यह तो प्रगतिवाद के विरोधी भी मानते है कि प्रगतिशील आलोचकों ने

साहित्य में स्वस्थ सामाजिक रुचि का संस्कार पैदा किया है और रुचि-निर्माण कितना महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसे सभी जानते हैं।

समीक्षा के क्षेत्र में प्रगतिवाद की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि समीक्षा की मौलिक समस्या यह नहीं है कि कौन रचना कितनी सुन्दर है, मौलिक समस्या यह है कि रचना में वह सौन्दर्य और शक्ति पार्ती कहाँ से है? जब तक हम इस समस्या का उत्तर नहीं देते तब तक हम रचनात्मक समीक्षा करते ही नहीं। इसके बिना समीक्षा निष्क्रिय है।

इस प्रश्न के उत्तर में भाववादी विचारक यह कहकर बरी हो जाते हैं कि रचना में सौन्दर्य रचयिता की अपनी प्रतिभा से आता है और यह प्रतिभा लेखक की एकदम अपनी चीज है, अथवा ईश्वर-प्रदत्त है या पूर्वजन्म के पुण्य का फल है या पैतृक उत्तराधिकार है।

हम यह सब मानकर चुप हो जाते, लेकिन जब सुमित्रानंदन पंत, जैनेन्द्र कुमार, निराला जैसे प्रतिभासम्पन्न लेखकों को आज पहले से निकृष्ट लिखते हुए देखते हैं तो जानना चाहते हैं कि वह ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा कहाँ गयी? होना तो यह चाहिए था कि अनुभव और वय के अनुसार उनकी रचनाओं में प्रौढ़ता आती। लेकिन यहाँ तो क्रमशः ह्रास हो रहा है। यदि वह शक्ति लेखक के भीतर से ही आती है तो अब क्यों नहीं आती?

इस सवाल का जवाब केवल प्रगतिशील समीक्षा दे सकती है और देती है। उसका कहना है कि लेखक में शक्ति जनता से आती है; जनता के साथ उसका सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमें उतनी ही अधिक रचना-शक्ति आती है और उसकी रचना में उतना ही अधिक सौन्दर्य बढ़ता है। इसके विपरीत ज्योंही लेखक अपने उस अक्षय स्रोत से हट जाता है, उसकी सारी शक्ति जवाब दे जाती है। हिरण्यकश्यप की तरह उसकी मृत्यु तभी होती है जब उसका पाँव धरती से उठ जाता है।

इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए प्रगतिशील समीक्षा यह भी निष्कर्ष निकालती है कि श्रेष्ठ रचना करने के लिए साहित्यकार को अनिवार्य रूप से जनता का पक्षधर होना ही पड़ेगा। जो लोग यह प्रचारित करते हैं कि साहित्यकार सभी वर्गों से ऊपर होता है, वह निष्पक्ष होता है और श्रेष्ठ

साहित्य रचना के लिए वर्गस्थितों के ऊपर उठना जरूरी है—उनकी धारणाओं का प्रगतिवाद सप्रमाण खण्डन करता है। बाल्मीकि, व्यास, तुलसी, प्रेमचन्द के उदाहरणों से स्पष्ट है कि ये श्रेष्ठ साहित्यकार तमाम वर्गों से ऊपर और निष्पक्ष नहीं थे। इन सभी साहित्यकारों ने पीडित, दलित और सताए हुए का पक्ष लिया था और इसी तरफदारी के कारण उनमें उच्च-कोटि की मानवतावादी भावनाएँ थीं। जब कि समाज में स्वार्थों का संघर्ष हो तो मानवता दलित लोगों के पक्ष में होती है, तटस्थता में नहीं होती।

लेकिन इस स्थापना में कभी-कभी अपवाद भी प्रतीत होता है। जैसे तुलसीदास ने अपनी रामायण में शूद्रों का विरोध किया है, फिर उन्होंने इतनी श्रेष्ठ कृति की रचना कर दी। यह कैसे संभव हुआ? परन्तु ऐसा कहने वाले भूल जाते हैं कि तुलसीदास ने उसी रामायण में गुह, निषाद, शबरी इत्यादि को स्वयं राम द्वारा स्नेह और सम्मान दिलाया है। इससे पता चलता है कि महाकवि के हृदय में नीच कही जानेवाली जातियों के प्रति घृणा का भाव नहीं था, घृणा का भाव उनकी नीचता के प्रति था और यह नीचता उन्हें यदि गुरु का अपमान करनेवाले 'उग्र बुद्धि उर दंभ दिशाला' ब्राह्मण कुमार में भी दिखाई पड़ी तो वे सहन न कर सके। वस्तुतः उन्होंने नीच कहे जानेवाले लोगों में भक्ति की, संजीवनी भरकर उन्हें अमर कर दिया साथ ही ऊँचे आसन पर ला बिठाया।

तात्पर्य यह है कि महान लेखकों ने वस्तुतः जनता से घृणा कभी नहीं किया। जनता से घृणा करके आज तक कोई महान् लेखक नहीं हो सका है। यदि कोई महान् लेखक अपने वर्गगत संस्कारों के कारण कभी इस तरह के विचार प्रकट भी करता है, तो भीतर से उसका मानवतावादी विवेक उसके संस्कारों के विरुद्ध दलितों और शोषितों का वास्तविक चित्रण कर जाता है।

और यहीं प्रगतिशील समीक्षा एक और स्थापना करती है। वह यह है कि रचना में सौन्दर्य वास्तविकता के अधिक-से-अधिक चित्रण से आता है। अपने दृष्टिकोण-विशेष के बावजूद महान् लेखक अपनी व्यापक मानवीय सहानुभूति के द्वारा वास्तविकता के विविध स्तरों का व्यापक परिचय प्राप्त कर लेते हैं और उनके चित्रण से रचना महान् हो उठती है। व्यापक सामा-

जिक सम्पर्क और अनुभव से लेखक की रचना में रसोद्रेक की अधिकाधिक क्षमता आती है इसलिए प्रगतिवाद साहित्य में का सर्वोपरि स्थान देता है। प्रगतिवाद की मान्यता है कि मन भर कल्पना से छटाँक भर वास्तविकता अधिक समर्थ और मूल्यवान् है। निःसन्देह कल्पना में भी बहुत शक्ति होती, है लेकिन उसकी भी शक्ति का आधार वास्तविकता है। कालिदास के 'मेघदूत' से पंत के 'बादल' में जो अधिक स्थायी रसानुभूति है, वह इसीलिए कि उसमें वास्तविकता अधिक है और इसमें कल्पना। इसी वास्तविकता की व्यापकता तथा गहराई के कारण 'महाभारत' भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

लेखक में वास्तविकता का यह बोध अपनी सामयिक समस्याओं में भाग लेने से आता है। इसलिए प्रगतिवाद की दूसरी स्थापना यह है कि सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर अथवा भागकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता। अब यह आगे की बात है कि लेखक अपने युग की सामयिक वास्तविकता का चित्रण किस प्रकार करता है। स्वाभाविक है कि जो बिना समझे-बूझे सेठ गोविन्ददास के 'इन्दुमती' उपन्यास की तरह घटनाओं का लेखा-जोखा कर डालेगा वो निकृष्ट रचना करेगा और जो समझ-बूझकर संकलन-बुद्धि से सूक्ष्म मानवीय सम्बन्धों और रागात्मक स्थितियों का चित्रण करेगा वह श्रेष्ठ कृति देगा। बहते हुए कणों में जो शक्ति के प्रवाह को पकड़ेगा वह शक्तिशाली तथा शाश्वत महत्त्व की रचना करेगा और जो केवल उसके कण गिनकर बटोरता रहेगा वह साहित्य का केवल भार बढ़ाएगा।

इस तरह प्रगतिवाद ने साहित्य की परख के मान को ऐतिहासिक आधार दिया। जहाँ अपनी-अपनी रुचि तथा समझ के अनुसार कविता की अच्छाई बुराई, श्रेष्ठता-निकृष्टता का निर्णय होता था (और जो कि प्रायः नहीं हो पाता था) वहाँ प्रगतिवाद ने सबसे पहले किसी रचना के ऐतिहासिक महत्व को जाँचने का सुझाव दिया। प्रगतिवाद के अनुसार व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) ढंग से किसी रचना का मूल्यांकन कठिन ही नहीं, भ्रामक भी है। रचना को

उसकी ठोस सामाजिक पीठिका में रखकर देखना चाहिए कि वह समाज के विकास में कितना योग देती है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी रचना की श्रेष्ठता और निकृष्टता इस बात पर निर्भर है कि वह विकासोन्मुख है अथवा ह्रासोन्मुख। प्रगतिवाद ने समीक्षा के नितान्त शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड का विरोध कर स्वस्थ सामाजिक मानदण्ड की प्रतिष्ठा की। प्रगतिवाद के अनुसार वह तथाकथित 'शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड' भी सर्वथा, समाज-निरपेक्ष नहीं है, बल्कि वह वस्तुतः समाज की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों की छाया है। इस 'शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड' को कुछ लोगों ने शाश्वतता का गौरव दे रखा है। इस काल्पनिक 'शाश्वतता' का खंडन करते हुए प्रगतिवाद ने स्थापित किया कि किसी रचना का शाश्वत मूल्य उसके ऐतिहासिक मूल्य में ही निहित है और ऐसे ही ऐतिहासिक मूल्यों से समीक्षा के क्षेत्र में एक परंपरा बनती है जिसके आधार पर प्राचीन से लेकर आधुनिक साहित्य का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है। इस तरह प्रगतिवाद ने समीक्षा को व्यक्तिनिष्ठता, भाववादी पूर्वग्रह तथा जड़ता से मुक्त करके उसके स्थान पर स्वस्थ, वैज्ञानिक, बोधगम्य, विकासक्षम, वस्तुनिष्ठ और जन-कल्याणकारी 'ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति' की प्रतिष्ठा की।

समालोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद की ये कुछ मौलिक और मुख्य स्थापनाएँ हैं। इनसे एक हद तक इस युग के प्रायः सभी आलोचक और लेखक प्रभावित हुए हैं। जनता के साथ, वास्तविकता के साथ जिस आलोचक का जैसा संबंध है, उसी के अनुसार ये स्थापनाएँ उसके व्यवहार में आ सकी हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली की परंपरा अभी बन रही है और उम्मीद है कि निरंतर आलोचना प्रत्यालोचना में इसके सिद्धान्त और प्रयोग में वैज्ञानिकता आती जायगी।

७.

कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना में प्रगतिवाद की जिस

प्रकार अभिव्यंजना हुई है उसे देखते हुए अनेक त्रुटियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि छायावाद युग के बाद की यह प्रमुख और प्रगतिशील साहित्यधारा है। इस युग की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की तुलना में कुछ लोगों को इसमें अधिक कचाई, अनगढ़ता तथा कम स्थायित्व प्रतीत हो सकता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिवाले विचारक जानते हैं कि आज जो अधिक टिकाऊ किन्तु ह्रासोन्मुख दिखाई पड़ रहा है उसकी अपेक्षा उसका महत्त्व कहीं अधिक है जो आज कम टिकाऊ किन्तु विकासोन्मुख है। इस दृष्टि से देखने पर प्राणशक्ति और भविष्य की संभावना वर्तमान प्रगतिशील साहित्य में सबसे अधिक है।

छायावादी कविता, प्रेमचन्द का कथा-साहित्य और शुक्ल जी की आलोचना के मुकाबले आज के प्रगतिशील साहित्य को रखकर सिर धुनना बुद्धिमानी नहीं है। अतीत सुन्दर है लेकिन लौटाया नहीं जा सकता। भक्ति-काव्य की तुलना में छायावादी काव्य भी तो थोड़ा नीचे पड़ता है और कालिदास के मुकाबले भक्तिकाव्य भी तो कम तुलता है, लेकिन इसे देखकर कोई विलाप नहीं करता। श्रेष्ठ साहित्यकार रोज रोज नहीं पैदा होते और न श्रेष्ठ कृतियाँ हर क्षण लिखी जाती हैं। वे सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती हैं। उनके पीछे जातीय उत्थान की शक्ति होती है। इधर प्रगतिवाद जिस जन-जागरण के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुआ, अभी वह जन-जागरण ही विकास के मार्ग में है और अभी वह परिणति को प्राप्त नहीं कर सका है। ऐसी दशा में हम शाश्वत साहित्य के अभाव में बालकों की तरह आँसू बहाना छोड़कर यदि दृढ़ता के साथ जनता के प्रति और अपने प्रति उत्तरदायित्व पूरा करते चलें तो अधिक रचनात्मक कार्य कर सकेंगे।

प्रगतिवाद के विषय में आज के युगद्रष्टा समीक्षक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन केवल भविष्य की संभावना की ओर ही नहीं बल्कि जिस वस्तुस्थिति में वह संभावना प्रकट होती है, उसकी ओर भी संकेत करता है—"प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएँ

अत्यधिक है भक्ति आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ आदर्शनिष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।"[१]

प्रयोगवाद

राजेन्द्र बहादुर सिंह

हिन्दी मे प्रयोगवाद का जन्म सन् १९४३ ई० मे प्रथम तार सप्तक के प्रकाशन के साथ हुआ। दिल्ली मे प्रकाशित, 'अज्ञेय' द्वारा सपादित त्रैमासिक पत्रिका 'प्रतीक' द्वारा उसे शक्ति प्राप्त हुई। इस पत्रिका का प्रकाशन १९४७ ई० से प्रारम्भ होकर १९५२ तक आते-आते परिसमाप्ति को प्राप्त हुआ। स्मरणीय रहे कि अमुक पत्रिका मे प्रकाशित समूचे साहित्य को प्रयोगवादी साहित्य की कोटि मे नही रखा जा सकता। इसमे श्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पत, नवीन और नागार्जुन से लेकर त्रिलोचन तक की रचनाएँ प्रकाशित हुई है।

प्रथम तार सप्तक मे सात कवि संग्रहीत है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—श्री गजाननमाधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, डॉ० राम विलास शर्मा और 'अज्ञेय'। पुस्तक के प्रारम्भ मे 'अज्ञेय' जी का 'विवृति और पुरावृत्ति' शीर्षक एक लेख है, जिसमे वे कहते है :—

> "तार सप्तक मे सात कवि संग्रहीत है। सातो एक दूसरे से परिचित है—बिना इसके इस ढंग का सहयोग कैसे होता? किन्तु इसके परिणाम यह न निकाला जाय कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि है या कि साहित्य जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक है। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण भी यही है कि वे किसी

एक स्कूल के नही है, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही है, राही नहीं, राहो के अन्वेषी। उनमे मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय मे समाज और धर्म और राजनीति के विषय मे, काव्य वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वो के प्रत्यक विषयो मे उनका मतभेद है। . ...यहां तक कि वे एक दूसरो के मित्रो और कुत्तो पर भी हँसते है।......काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हे समानता के सूत्र मे बाँधता है। .. ..दावा केवल इतना है कि ये सातो अन्वेषी है।"

तार सप्तक मे प्रकाशित कवियों को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—एक प्रगतिशील, दूसरा प्रयोगशील। मुक्तिबोध एव नेमिचन्द्र मे प्रगतिशील एवं प्रयोगशील तत्वो का सम्मिश्रण है। भारतभूषण रोमैन्टिक होने के साथ ही साथ प्रगतिशील भी है। गिरिजाकुमार जी रोमैन्टिक कवि हैं, नयी प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। माचवे मे भी प्रगतिशील एवं प्रयोगशील तत्वों का समन्वय है।

डॉ० रामविलास शर्मा तो प्रगतिशील कलाकार है ही। उनका इन प्रयोगशील कवियो से कोई खास सम्बन्ध भी नहीं है, जैसा कि वे अपने वक्तव्य मे कहते हैं—"वात्स्यायन जी ने कविताओ के लिए परेशान कर डाला। नही तो कविता लिखने मे बडी मेहनत होती है और उसकी नकल करने मे और भी ज्यादा। आशा है यह प्रकाशन बस अन्तिम होगा।" बच रहे अज्ञेय जी वे एक प्रतीकवादी, बिम्बवादी कलाकार है, प्रयोगवाद के प्रवर्तक है, काव्य को प्रयोग का विषय मानते है।

उपर्युक्त विवेचन मे इतना तो स्पष्ट ही है कि ये सातों कवि न तो किसी एक गुट के है और न किसी राजनैतिक पार्टी के सदस्य। असमानताओ के होते हुए भी उनमें एक समानता है और वह है काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण। एक बात मे वे और समान है—वे सभी तत्कालीन प्रचलित एवं मान्य छायावादी पद्धति से एक भिन्न दिशा मे लिख रहे थे।

अब मैं 'प्रयोगवाद' के नामकरण की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। "प्रयोग का शाब्दिक अर्थ है, कोई प्रयत्न, किसी सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए किया गया तजुर्बा, अज्ञात वस्तु का अनुसन्धान करने या तजुर्बे के जरिये खोजने की क्रिया"।[१] इस परिभाषा से उसके विस्तार का दायरा साफ जाहिर है। किसी साहित्य की एक खास प्रवृत्ति के लिये उसका प्रयोग, उसको संकुचित करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अंग्रेजी साहित्य में भी बावजूद इसके कि Experiment शब्द मौजूद था लेकिन Experimentalism जैसा कोई वाद नहीं चला। जो कुछ भी हो, साहित्य की इस प्रवृत्ति विशेष को प्रयोगवाद की अभिधा दी गयी और आलोचकों द्वारा यह कहा गया कि इस नामकरण के पीछे सप्तक का—अज्ञेय का वक्तव्य है जिसमें इस नाम की ओर स्पष्ट संकेत है। वस्तुतः प्रयोगवाद में नाम संकीर्णता है। मानवता के विकास के आदि चरण से लेकर आज तक के मानव ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनगिनत प्रयोग किये हैं। प्रयोग साधन एवं सत्य का उद्घाटन साध्य रहा है। फिर आज साहित्य की किसी धारा विशेष को ही प्रयोग क्यों कहा जाय! खैर, अच्छा हो चाहे बुरा साहित्य की इस प्रवृत्ति विशेष के लिए 'प्रयोगवाद' नाम चल पड़ा। इस विशेष सन्दर्भ में प्रयोगवाद की आलोचकों द्वारा भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी गईं। 'आधुनिक साहित्य' में 'प्रयोगवादी रचनायें' शीर्षक से समर्थ आलोचक श्री नन्ददुलारे बाजपेयी का कथन है—"पिछले कुछ समय से हिन्दी काव्य क्षेत्र में कुछ ऐसी रचनाएँ हो रही हैं जिन्हें किसी सुलभ शब्द के अभाव में प्रयोगवादी रचना कहा जा सकता है। इन रचनाओं को यह नाम स्वयं इनके रचयिताओं ने दिया है, अतएव इन रचनाओं के लिये किसी दूसरे नाम की खोज करना हमारे लिये आवश्यक नहीं।" इसकी अहम विशेषताओं की ओर संकेत करते हुये एक अन्य आलोचक कहते हैं:—"प्रयोगवादी रचनायें कुण्ठाग्रस्त हैं। साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं से

---

१. सम्पादकीय, आलोचना अंक—९, शिवदान सिंह चौहान।

एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ, कुण्ठा, और हीनभाव ही व्यक्त हुआ है जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है।''[1] प्रत्युत्तर मे यह कहा जाता है कि प्रयोगवादी रचनायें खीझ, अनिश्चय, या कुंठा की कवितायें नही है। वस्तुतः वह आज के युग जीवन की कविता है। अनास्था, अनिश्चय, कुंठा, और आत्मपीडन के दर्शन उसमें इस कारण होते है कि वे आज के जीवन मे है। इस कथन की औचित्यता पर यदि आप विचार करें तो देखेंगे कि इस कथन मे पूरी सच्चाई नही है। आज के जनजीवन मे आस्था, निश्चय, आनन्द, और मानवमात्र के प्रति प्रेम भी तो है! उसके दर्शन इस तथाकथित प्रयोगवाद मे क्यों नहीं होते? मान लीजिये, मानव का अशुभपक्ष ही इस समय उभार पर है तो क्या मनुष्य की मनुष्यता उसको उसी रूप मे स्वीकार कर लेने मे है। वस्तुतः मनुष्य की मनुष्यता तो इस बात मे है कि मनुष्यमात्र को जैसा होना चाहिये वैसा बनाने मे वह मदद करे। कदाचित् प्रयोगवादी जन इस तथ्य[2] (या सत्य) से वाकिफ नही है। नही तो वह पीड़ा को ही अपना जीवनदर्शन न मान लेता। अनास्था, अनिश्चय, संशय और कुंठा उसके जीवनदर्शन के प्रमुख अंग है।

''इस कविता मे रागात्मक मार्ग से नये अर्थ की सृष्टि करके मानव-भावना का संस्कार और चेतना का विस्तार करने का प्रयास नही है बल्कि मनुष्य के जीवन बोध को ही खण्डित और विकृत बनाना इसका सहज उद्देश्य दीखता है। प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था, कुण्ठा, और विद्रूपात्मक उद्गारो को दुस्सह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार योजना और अहंवादी और बहुधा ओछेतल को वचन भंगिमा मे छिपाने का उपक्रम मात्र है''!

इसके पूर्व कि प्रयोगवादी रचनाओं की व्याख्या प्रस्तुत की जाय, यह जान लेना हमारे लिये अत्यावश्यक होगा कि आखिर वे कौन-सी परि-

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—चौहान

२. 'अज्ञेय' तथ्य सत्य मे अन्तर मानते हैं—'नदी के द्वीप'।

स्थितियाँ थी जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को जन्म दिया। दूसरे शब्दों में हमें प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि एवं परिप्रेक्ष्य से अवगत होना है। कहा जाता है कि हमारा युग यंत्रों से घिरे एवं थके हुए जीवन का युग है। थका व्यक्ति, ईश्वर, अल्ला या ईसा मसीह की प्राप्ति नहीं कर सकता। विध्वंसकारी विगत दो महायुद्धों की विभीषिका से त्रस्त मानवमन आज शांति पुकार रही है। उन्हीं युद्धों का परिणाम है कि युग जीवन के मानव मूल्य विघटित हो चुके हैं। विज्ञान के अभ्युदय ने मानव के सहज एवं नैसर्गिक सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। उसे यंत्रवत् होने के लिये विवश होना पड़ा है। उद्जन एवं अणुबमों के आविष्कार ने भय और आतंक का वातावरण बना दिया है। विज्ञान भी संकटग्रस्त है इसीलिए सत्य भी विघटित हुआ है। सत्य की भाँति सौन्दर्य भी आध्यात्मिक तत्व है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण वह भी विघटित हुआ है। हमारी कला भी संकटग्रस्त है और परिणामस्वरूप सौन्दर्य भी विघटित है। भौतिकवादी व्यक्ति कारीगर हो सकता है कलाकार नहीं। बाँधों एवं पुलियों का निर्माण कर सकता है लेकिन खजुराहो और ताज का नहीं। नैतिकता की नींव हिलने के कारण शिवम् भी विघटित है। फ्रायड जैसे महानुभाव नैतिकता को सामाजिक रूढ़ि मानते हैं और जीवन में पशुओं से मुक्त भोग की कामना करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन का एक-एक सूत्र बिखर गया है। यही कारण है कि आज के व्यक्ति का व्यक्तित्व खण्डित है और वह अनास्था, निराशा, कुंठा, घृणा, अनिश्चय, आत्मपीडन, और अनैतिकता आदि दुष्प्रवृत्तियों का शिकार है। डार्विन महोदय को धन्यवाद है जिन्होंने इन अधोगामिनी प्रवृत्तियों की अग्नि में 'विकासवाद' रूपी घी का थोड़ा-सा हविष्य और डाल दिया। फलतः योरोपवासियों के जीवन में अनास्था की लहर-सी दौड़ गयी। ईश्वर है या नहीं इसे कोई नहीं जानता लेकिन हम हैं और यह हमारे आसपास की दुनिया है और यह सत्य है; अतः क्यों न हम यहीं अमनचैन की जिन्दगी गुजारें! इसी, जिन्दगी के प्रति, एप्रोच का फल था

कि विज्ञान ने दिन दूनी-रात चौगुनी तरक्की की । हम भौतिकता की ओर बढे ।

योरोप की बदली हुई व्यवस्था ने डी० एच० लारेंस और टी० एस० इलियट जैसे रुग्ण कल्पना के कवियो को जन्म दिया । आधुनिक हिन्दी कविता पर भी अंग्रेजी के १६१८-१६४० ई० तक के साहित्यिक आन्दोलन का खूब प्रभाव पडा । लारेंस, इलियट, इजरापाउण्ड, वर्जिनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस आदि प्रतीकवादी, बिम्बवादी और अस्तित्ववादी कवियों से हिन्दी के आधुनिक साहित्यकारो ने प्रेरणा लेनी शुरू की जो पूँजीवादी विश्रृंखलता, अराजकता, और जनविरोधी व्यक्तिनिष्ठा के प्रतिनिधि थे ।

विषय वस्तु की कमी, शिल्पगत नवीनता का आधिक्य, व्यक्ति के अहं एवं यथार्थ की अभिव्यक्ति, अतिरिक्त बौद्धिकता का आग्रह, अनास्था, निराशा, और संशय आदि का प्राबल्य, ये ही कुछ मोटी-मोटी विशेषताएँ हैं जो प्रथम तार सप्तक में मिलती है ।

आठ-नौ वर्ष के लम्बे व्यवधान के बाद सन् १६५१ ई० में, 'अज्ञेय' के ही संपादकत्व मे दूसरा सप्तक भी सामने आया । द्वितीय सप्तक के कवि है—श्री भवानी प्रसाद मिश्र, श्रीमती शकुन्त माथुर, श्री हरिनारायण व्यास, श्री शमशेर बहादुर सिंह, श्री नरेश मेहता, श्री रघुवीर सहाय और श्री धर्मवीर भारती । इन कवियो की कविताओ के अतिरिक्त अज्ञेय का एक अधिकृत लेख भी है । सप्तक के प्रथम कवि हैं श्री भवानी प्रसाद मिश्र, जिनकी कुल मिलाकर दस कविताएँ संग्रहीत है । अभिव्यक्ति की सहजता एवं भाषा की सरलता आपकी अपनी निजी विशेषताएँ है । आत्म-विश्वास का स्वर भी है ।

वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता
कहने मे अर्थ नहीं
कहना पर व्यर्थ नही
कहने मे मिलती है
एक तल्लीनता ।

'गीत फरोश' कविता का व्यंग्य भी दिल को छूता है—"जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ—

मैं तरह तरह के
किसिम किसिम के
गीत बेचता हूँ।
जी बहुत देर लग गया हटाता हूँ
गाहक की मर्जी अच्छा जाता हूं
मैं बिलकुल अंतिम और दिखाता हूं
या भीतर जाकर पूछ आइए आप।

यही नहीं, प्रगतिशील कवि को परम्परागत रूढ़ियों के प्रति भी विद्रोह है। श्रीमती शकुन्तमाथुर की कविताओं पर श्री गिरिजा कुमार माथुर की कविताओं की छाप है। कुल मिलाकर ग्यारह कविताएँ सतक मे प्रकाशित है, जिनमे से 'जान बूझकर नही जानती' एक ही कविता रागात्मकता लिये हुए है। एक कविता अत्यन्त हास्यास्पद है—लगता है नोटिस बोर्ड का सूचीपत्र है—

विषय,
दोपहरी,
ये हरे वृक्ष,
सुनसान गाडी,
इतनी रात गये,
केशर रंग रँगे आँगन
पूर्णमासी रातभर
जानबूझकर नही जानती
डर लगता है
जिन्दगी का बोझ
लीडर का निर्माता
ताजा पानी।

श्री हरि नारायण व्यास की कुल दस कविताओं मे से केवल एक

कविता 'उठे बादल झुके बादल' अपेक्षाकृत भली लगती है। श्री शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में कृत्रिमता का आवरण है। श्री नरेश मेहता रोमैन्टिक प्रगतिशील कवि हैं, 'समय देवता' संग्रह की सबसे लम्बी कविता है। श्री रघुवीर सहाय की कथनी-करनी में फर्क नजर आया। संग्रह के अन्तिम कवि हैं श्री धर्मवीर भारती। इनमें रोमानियत एवं प्रणयशक्ति की तीव्रानुभूति के साथ अनास्था एवं अहम् का भी प्राधान्य है।

हिन्दी के पाठक को दूसरे तार सप्तक से जो-जो आशाएँ थी वे निराशा में परिणत हो गयी। दोनों सप्तकों का मिलान करने पर लगता है, प्रथम सप्तक ही बेहतर है, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर। "प्रथम सप्तक में अभिव्यक्ति का ढंग नया था, विषय वस्तु भी एक सीमा तक नयी थी, और प्रयोगशीलता के अन्तर्गत आती थी। दूसरे सप्तक की सामग्री अधिक अपरिपक्व है। यही नहीं इमानदारी दूसरे सप्तक में खत्म हो गई।"[१]

इन दो सप्तकों के प्रकाशन में आलोचकों का ध्यान उधर खिंचना स्वाभाविक ही था। 'प्रयोगवाद' को लेकर पत्र-पत्रिकाओं में अनेक आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ निकलीं। तरुण कवि आलोचक के प्रखर प्रहारों से तिलमिला उठे। अब उन्हें अपने को प्रयोगवादी कहने का भी साहस न रहा—"प्रयोगवाद कोई वाद नहीं, हम वादी नहीं रहे, नहीं है। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।"[२] लेकिन 'वादी नहीं रहे' से ध्वनित जरूर होता है कि कभी थे, अब परिस्थितिवशात् नहीं हैं।

दरअसल 'प्रयोगवाद' एवं 'सप्तक' इतना बदनाम हो चुका था कि उस पर नये लेबिल की जरूरत थी। हुआ भी ऐसा ही 'प्रयोगवाद' एवं 'सप्तक' दोनों पर 'नयी कविता' का लेबिल चिपका दिया गया।

---

१. श्री प्रभाकर माचवे—'साहित्यिक सप्त गोष्ठी' में दिये गये वक्तव्य से।
२. श्री 'अज्ञेय'—तार सप्तक—२ की भूमिका।

समाज को ठगने वाला ठग हर जिस प्रकार शासन एवं समाज की निगाहों से बचने के लिये नाम-रूप का परिवर्तन कर लेता है उसी प्रकार तथाकथित 'प्रयोगवाद' ने भी आलोचकों के तीखे प्रहारों से बचने के लिये नाममात्र का परिवर्तन कर लिया। लेकिन जिस प्रकार नाम रूप का परिवर्तन व्यक्ति के संस्कारों में परिवर्तन नही ला सकता उसी प्रकार नाम मात्र के परिवर्तन मे प्रयोगवादी कवियों के भी संस्कार नही बदले जा सकते। हृदय परिवर्तन से भी काम चलने को रहा, क्योंकि ये हृदय के स्तर पर काव्य रचना की सोचते ही कब है ?

नयी कविता के विषय मे मेरा निश्चित मत है कि यह प्रयोगवाद की ही विरासत है। मै पंत जी के इस मत को भ्रामक मानता हूँ कि नयी कविता का जन्म छायावाद युग से ही होना है। "नयी कविता वास्तव मे उस कविता का दूसरा नाम है, जिसे हिन्दी में प्रयोगवाद का अभिधान मिला है और तारसप्तक जिसका आदि स्रोत है।[1]" "इस कविता का शायद अभी तक अंतिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया, इसीलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी, या नयी कविता अनेक नामों से इसे पुकारा जाता है।"[2] मैं नयी कविता को एक आन्दोलन के रूप मे लेता हूँ। नयी कविता यदि स्वतः आन्दोलन न भी हो, लेकिन नयी कविता के दिग्गजों ने उसे आन्दोलन का रूप दे दिया है। "नयी कविता कोई आन्दोलन नही है, वह साहित्यिक प्रवृत्ति है, जिसमे आज का भाव अधिक व्यंजना के साथ अभिव्यक्ति पाता है।"[3] मै लक्ष्मीकांत जी के उपर्युक्त कथन से सहमत नही हो पाता। यदि दरअसल प्रयोगवादी या नयी कविता आन्दोलन नहीं है तो फिर यह लिखने की क्या गरज थी कि नयी कविता कोई आन्दोलन नही है। परिचयात्मक रूप से इतना जानना ही पर्याप्त होगा कि नयी कविता डॉ०जगदीश

---

१. श्री गंगाधर झा—आलोचना, अंक–२१, 'नयी कविता, प्रवादों की समीक्षा।'

२. श्री शिवदान सिंह चौहान—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष।

३. श्री लक्ष्मीकांत वर्मा—नयी कविता के प्रतिमान

गुप्त एवं श्री विजयदेवनारायण साही के संपादकत्व में निकलने वाली एक अर्धवार्षिक पत्रिका जरूर है। प्रथम अंक में न तो संपादकीय स्तम्भ है और न कोई अविकृत लेख, जिससे पाठक यह जान सके कि नयी कविता क्या है? नयी का तात्पर्य क्या है? 'नई कविता नयी अभिरुचि' संपादक के नाम से एक लेख जरूर है, लेकिन उसमे नयी कविता के सम्बन्ध मे कोई निष्कर्ष निकालना मुश्किल है। इतना पता जरूर चलता है कि नई कविता आधुनिक कविता है और इसका किसी दल विशेष से सम्बन्ध नही है। पंत जी का आमुख है, लक्ष्मीकांत जी की कविताओं के सम्बन्ध मे साही का परिचयात्मक लेख है। गिरिजाकुमार माथुर अपने लेख मे कहते है, "नयी कविता हम उसे मानते हैं जिसमे इन (शैली, शिल्प) दोनो के स्वस्थ तत्वो का सन्तुलन हो।" अमुक अंक मे प्रकाशित लगभग ६०% रचनाएँ प्रयोगवाद की चौहद्दी के अन्तर्गत आती है, शेष अन्य प्रकार की है।

नयी कविता क्या है? नयी से क्या तात्पर्य है? क्या कविता भी कभी नयी या पुरानी होती है? इत्यादि प्रश्न है जो सहज रूप में ही एक प्रबुद्ध पाठक के सम्मुख उपस्थित होते है। सूर या विद्यापति के पद जो आज भी हमारे हृदतंत्री के तारो को झंकृत करने की अच्छी क्षमता रखते है, क्या आज बासी हो गये है! क्या इस तथाकथित नयी कविता के अतिरिक्त जो कुछ भी आज लिखा जा रहा है, वह आज का, इस क्षण का भी होते हुए पुरातन है, कूडा करकट है, व्यर्थ का प्रलाप है! 'नयी कविता' मे नयी विशेषण है और कविता संज्ञा। नयी कविता का तात्पर्य यही हो सकता है कि वह कविता जो आज लिखी जा रही हो, आज के मध्यवर्गीय जीवन से प्रभावित हो और साथ ही मध्यवर्गीय जीवन को प्रभावित भी करती हो। वस्तु एवं शिल्प दोनो स्तरों पर नयी हो। "नयी कविता वह कविता है, जो कविता होने के साथ नयी भी हो केवल शिल्प के स्तर पर ही नही केवल नये विचारों के आधार पर ही नही, सभी स्तरों पर, सभी अर्थों मे

सयी हो।"[1] "नयी कविता सौन्दर्य बोध की उस गहराई की अभिव्यक्ति है, जिससे वस्तु, सत्य और अनुभव, सत्य को लय मे सम्पर्कात्मक स्वाभाविकता एवं सहजता है।"[2] सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि नयी कविता वह कविता है जो अतिरिक्त नवीनता से आक्रान्त हो सभी स्तरों पर नयी हो, वस्तुगत नवीनता चाहे अपेक्षाकृत कम हो, शिल्पगत नवीनता जरूर हो, गहराई ऐसी हो जो सामान्य पाठक के दिल—दिमाग मे न घुस सके। 'नयी कविता' का नाम चाहे जिसने दिया हो, 'अज्ञेय' का कहना है कि 'प्रवर्तक' होने का श्रेय उनको ही मिलना चाहिए। आज स्थिति यह है कि 'नयी कविता' रीतिबद्ध कवियों की भाँति एक विशेष बँधी-बँधाई प्रणाली मे बह रही है। एक विशेष वर्ग द्वारा एक विशेष प्रकार की रचनाएँ तैयार की जा रही है और उन्हे ही आज नयी कविता का अभिधान मिल रहा है। "एक विशेष तबके के लोग एक विशेष लहजे की रचनाएँ तैयार कर रहे है और इसे ही वे नयी कविता का नाम देने लगे है। इस नयी सृष्टि मे भाषा-विचार अथवा शैली की दृष्टि से ऐसी विशिष्टता नहीं लाई जा सकी है कि हम उसे हिन्दी कविता के विकास का आगामी चरण कह सकें। इस प्रकार की रचना भविष्य के प्रति बड़ी आशा भी नहीं बँधाती। ऐसी स्थिति मे हिन्दी की स्वस्थ एवं प्राजल परम्परा को छोड़ इस अटपटी शैली की रचना को नयी कविता का नाम देना भ्रामक और असमीचीन होगा।"[3]

'नयी कविता' पिछले १४, १५ वर्षों से लिखी जा रही है, किन्तु अभी तक उसके अन्तर्गत किसी महाकवि का निर्माण नहीं हो सका। गत १५ वर्षों में कविता के क्षेत्र की उपलब्धि भी नगण्य ही है। "पिछले १५ साल के बीच हमने किसी महान् कविता का निर्माण कर लिया हो या उसका

---

१. 'आजकल', सितम्बर १९५७, "नयी कविता क्या है"—श्री बाल कृष्णराव।

२. 'नयी कविता के प्रतिमान'—श्री लक्ष्मीकांत वर्मा।

३. आलोचना, अंक-२०, सम्पादकीय—श्री नन्द दुलारे वाजपेयी।

सूत्रपात ही किया हो ऐसा कुछ नहीं हो सका। इसका कारण आपस का सिद्धान्त विरोध नही है, वल्कि वह प्रवृत्ति है जो ठोस काव्य-निर्माण छोड़कर अपने मत-प्रचार के लिए स्पष्टीकरण करते-करते कुत्ता घसीटन मे लग गयी और वही रह गयी।"[1] इस प्रकार आप देखते है कि स्वयं माथुर यह स्वीकार करते है कि हमने ठोस काव्य-निर्माण के स्थान पर मत-प्रचार ही अधिक किया है। अब तो नयी कविता को आन्दोलन मानने मे किसी को आपत्ति नही होना चाहिए। मैं स्वय मत-प्रचार का एक विशेष अर्थ मे समर्थक हूँ। जिसके पास अपना निश्चित मत है, उसे उसके प्रचार का अधिकार मिलना चाहिए। लेकिन इस मत प्रचार का स्तर अवश्य ही कला का स्तर होना चाहिए। मत-प्रचार का कार्य कवि को नही. उसकी व्याख्या एवं भूमिका को नहीं स्वतः उसके काव्य को करना चाहिए। तुलसी बाबा का 'रामजपु रामजपु रामजपु भाई' भी तो एक प्रकार का प्रचार ही है, लेकिन है कला के स्तर का ही। जहाँ तक 'नयी कविता' के कर्ताओ का प्रश्न है, उन्होने कलात्मक प्रचार कम किया है, राजनैतिक स्तर का प्रचार अधिक किया है। हमे देखना यह है कि आखिर हिन्दी मे सन् ४३ से जो प्रयोग शुरू हुये उनकी उपलब्धि भी कुछ है या मात्र साहित्यिक गतिरोध ही रहा। उनमे भविष्य की कविता का पूर्वाभास भी है या नही ? तथाकथिक 'नयी कविता' की प्रमुख विशेषताओ का परिचय भी आवश्यक है।

ऐसा कहा जाता है कि 'नयी कविता' मे यथार्थ के प्रति उत्कट आग्रह मिलता है। इतिहास का साक्ष्य भी है, कि प्रयोगवाद का जन्म छायावाद की आदर्शवादिनी प्रवृत्ति के प्रतिक्रिया-स्वरूप ही हुआ था, अस्तु उसमे यथार्थ के प्रति उत्कट आग्रह होना स्वाभाविक है। लेकिन इसके साथ ही दूसरा प्रश्न उठता है, कि यह यथार्थवाद कौन-सा यथार्थवाद है। ? प्रकृत यथार्थवाद है, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद है या समाजिक यथार्थवाद या फिर

---

१. आलोचना, अंक—९, 'नयी कविता का भविष्य'—श्री गिरिजा कुमार माथुर।

इन सबसे परे हालीउड टाइप स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद है ? "वैसे अपने सशक्त क्षणों में वह छायावादी स्वप्नों के कुहासे को हटाकर नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानने का प्रयत्न कर रहा है।"[1] प्रश्न फिर भी ज्यों का त्यों रह जाता है कि यह वास्तविकता कौन-सी वास्तविकता है। नयी कविता को फ्रायड के यथार्थ के समीप पा सकते हैं। नये कवि की विशेषता है कि वह जीवन के असुन्दर पक्ष को भी उतना ही महत्व देता है, जितना सत्य को।

वस्तुतः मनुष्य न तो राक्षस है और न देवता। वह राक्षस और देवता के बीच में है, केवल गुणमय होकर मानव अपनी मानवता खो देता है। नये कवि के लिए "सत्य यह पृथ्वी है, सत्य इसके ग्रह-उपग्रह हैं, सत्य धरती की सीमाएँ हैं, सत्य जीवन की विकासशील प्रवृत्ति है, सत्य मनुष्य का संघर्ष है, और इस संघर्ष में रत मानव गति-प्रगति, जय-पराजय, अश्रु-स्वेद, सफलता ये सब यथार्थ के गुण हैं, जीवन के लक्षण हैं। इनसे कतराना, इनकी अवहेलना करना, इनकी उपेक्षा में किसी अन्य ईश्वर, धर्म, दर्शन अथवा कल्पनालोक की स्थापना करना जीवन की उपेक्षा करना है, यथार्थ को अस्वीकार करना है, भाव-बोध को कुण्ठित करना है, पतनशील होने के साथ-साथ निष्क्रिय तत्वों को प्रश्रय देना है।"[2]

कितनी सुन्दर उद्घोषणा है। लफ्जों के चक्कर में भी तरुण पाठक बहक सकता है। अब जरा कथनी-करनी में साम्य करके देखिए। मैं तो कहता हूँ ये सारे दावे झूठे हैं। कहने के लिए तो कहा जा रहा है कि सौन्दर्य-बोध के नये स्तर, यथार्थबोध के नये धरातल विकसित किये जा रहे हैं। लेकिन इनकी कविताओं को पढ़ने से हाथ लगती है केवल अस्पष्टता, दुरुहता, कुरुचि और व्यर्थ का कुतूहल। मध्यमवर्गीय नारी की परिस्थिति का चित्रण करते हुये एक कवि कहते हैं :—

और सन्तान भी

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—नयी कविता अंक—१

२. नयी कविता के प्रतिमान—श्री लक्ष्मी कांत वर्मा।

जिसका जिगर बढ़ गया है
जिसे वह मासिक पत्रिकाओं पर हगाया करती है।

सौंदर्य-बोध का नया स्तर क्या यही है, जिसकी सन् ४३ से खोज की जा रही थी। नये सौन्दर्य-बोध की आड़ में ऐसे भद्दे एवं कुरुचिपूर्ण शब्दों का प्रयोग कहाँ तक उचित है, मैं नहीं जानता। दावा किया जाता है कि नयी कविता का अर्थ नये सत्य का उद्‌घाटन है। यह नया सत्य क्या है? कहा जाता है जीवन जीने के लिये है, उसे जिया जा सकता है, उसे भोगा जा सकता है। लेकिन जब वस्तुस्थिति की ओर ध्यान दिया जाता है तो उसमें जीवन की अस्वीकृति ही अधिक मिलती है। मनुष्य होकर, मनुष्य के स्तर पर, इस प्रकार अनुभूति ग्रहण करता है कि कुत्ते और मानव का भेद मिट जाता है—

"मैं हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता।"

वस्तुस्थिति यह है कि इनके पास "यथार्थ के नाम पर अहं के अलावा और कुछ नहीं है।"[1] यदि है तो कसक, वेदना, टीस, धोखा और बेचैनी :—

जीवन है कुछ इतना विराट इतना व्यापक
उसमें है सबके लिये जगह, सबका महत्त्व
ओ मेजों की कोरों पर माथा रखकर रोने वालो
यह दर्द तुम्हारा नहीं, सिर्फ यह सबका है
सब से पाया है प्यार, सभी से धोखा है
सब का जीवन है भार
और सब जीते है।
बेचैन न हो
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है
तब तक ज्योति मिल जाती है
जिसके मंजुल प्रकाश में, सबके अर्थ नये खुलने लगते

---

१. समालोचक, सम्पादकीय अंक—८—डॉ० राम विलास शर्मा।

हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो ।

(धर्मवीर भारती)

लेकिन क्या मेजों की कोरों पर माथा रखकर रोने वालों का दर्द सबका दर्द है ? क्या सभी का जीवन भार हो गया है ? क्या सभी को प्यार में धोखा मिला है ? अस्तु मेजों की कोरों पर माथा रखकर रोने वालों का दर्द सबका न होकर एक मध्यवर्गीय असफल प्रणयी का है । काश ! इन कवियों को इतनी फुरसत होती कि उस दीन असहाय माँ के आँखों का आँसू पोंछ सकते जिसके पास बच्चे के माँगने पर सूखी रोटी का टुकड़ा भी नहीं है । भारत के साठ हजार गाँवों की ओर दृष्टि फेर पाते जहाँ कितनी विधवाओं की लाज दरिद्रता लूट ले जाती है । मैं तिस पर भी यह नहीं कहता कि इनका भी दर्द सबका दर्द है । लेकिन इतना तो जरूर है 'मेजों की कोरों पर माथा रखकर रोने वालों से इनकी संख्या अधिक अवश्य है, इसलिये इनका दर्द ही ज्यादा सच है । असलियत तो यह है कि नया कवि न देश और समाज के लिये लिखता है और न देश में रहने वाली जनता एवं उनकी आये दिन की समस्याओं पर लिखता है । वह जो कुछ लिखता है अपने लिये लिखता है या बहुत विस्तार पाया तो अपने मित्र परिवार के लिये लिखता है । यह व्यक्तिवाद की चरम सीमा है ।

''इनका तथाकथित लघुमानव त्रिशंकु की तरह आसमान में लटका है और ये नीचे से उसकी आरती उतारा करते हैं । इनका क्षुद्र अहंवाद राष्ट्र विरोधी एवं समाज विरोधी है । दुख और घुटन की बातें बहुत करते हैं लेकिन उसमें गरीबों का दुख शामिल नहीं है । गरीबों के दुख की बात तो प्रगतिवाद हो जायेगी । यदि गरीब मजदूरों, मध्यवर्ग के बेकारों, बेदखल किसानों की बात की तो व्यक्ति की स्वाधीनता का खात्मा हो जायेगा ।''[१]

नयी कविता चाँद, कोकिल भ्रमर आदि प्रकृति की रंगीनियों से हटकर गधा, कुत्ता, सड़क, कीड़ा, पसीना मूत्र में आ गयी है । अदम्य आवश्यकता

---

१. डा० रामविलासशर्मा : समालोचक अंक—६

से अधिक है। "कुल मिलाकर प्रयोगवादी कविताएँ मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है, इसमें मध्यवर्गीय दीनता, हीनता, अनास्था कटुता अन्तर्मुखता, पलायन आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।"[1] निराशा, कुण्ठा, पीड़ा आदि छायावादी कवियों में भी था, परन्तु इसके साथ उसमें जनता के प्रति सहानुभूति, प्रकृति प्रेम एवं राष्ट्रीय चेतना तथा सांस्कृतिक चेतना से मोह भी तो था। प्रयोगवाद में छायावाद का अशुभ पक्ष ही अहीन है। निराशा, कुण्ठा आदि घनीभूत होकर ऐसे असाध्य रोग बन जाते है जिनकी कोई औषधि नहीं।

नयी कविता में यथार्थ जीवन से नये प्रतीक एवं नये उपमान ग्रहण किये जाते है। 'अज्ञेय' एव शमशेरबहादुर सिंह के प्रयोग इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक है। शमशेर बहादुर सिंह तो प्रायः बिम्बों में बात करते है। लेकिन स्वयं विचारों में ऐसा उलझते है कि पाठक को बिम्ब ग्रहण नहीं हो पाता। न ये बिम्ब पूर्व स्मृतियों को जगाने में ही सक्षम होते हैं और न कोई नवीनता या भावानुभूति में तीव्रता ही ला पाते है। ये दोनों कवि प्रतीकवादी है। इस क्षेत्र में पश्चिम के कवि इनके आदर्श है। रोमैन्टिक काव्यधारा का अशुभपक्ष ही इन कवियों का आदर्श है। हमारा नया कवि कवित्रियों की बाजरे की कलगी से उपमा देता है। उड़िया के एक नये कवि ने एटमबम की उपमा प्रेयसी की आँखों से दी है। फूलों की माला के स्थान पर अब उसे कागज की माला अधिक पसन्द है, क्योंकि वह ज़्यादा टिकाऊ होती है। अब वह मुख को कमल समझकर चूमने के भ्रम में नहीं है। उसका कहना है कि कमल लोचन कहने से देवालय के देवता की मूर्ति का बोध हो सकता है, रमणी के नेत्रों का नहीं। मनुष्य के नेत्रों को कमल कहना उसे पत्थर बना देना है। ईमानदारी की बात तो यह है कि अब उसे पुराने उपमान बासी लगते है।

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका

---

1. डा० नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।

अब नहीं कहता
या शरद् के भोर की नीहारन्हाई कुई
टटकी कली चम्पे की
वगैरह
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही, ये उपमान मैले हो गये है।

नये कवि को मुख कमल सरीखे क्यो नही दिखते:—

चाँदनी चन्दन सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमे कमलो सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपये-सी है कि जिसमे
चमक है पर खनक गायब है
हम कहेंगे जोर से
मुँह घर अजायब है
जहाँ पर बेतुके, अनमोल जिन्दा और मुर्दा भाव बिकते।

परम्परा से चले आते प्रतीक भी मैले हो गये हैं। "नदी के द्वीप" अस्तित्व की संकटग्रस्तता का सूचक है। वह मध्यवर्ग की स्थिति का द्योतक है। "जब तक प्रयोगवाद त्रिशंकु था तब तक तो वह दया का पात्र था लेकिन जब से जान बूझकर उसने अपने को नदी का द्वीप बना लिया तबसे प्रवाह के धक्कों का पात्र हो गया।"[१] विन्ध्य मालायें हाशिये-सी लगती है और नवम्बर के दोपहर की गुनगुनी धूप जार्जेट के पल्ले-सी लगती है। धैर्य-धन का प्रतीक गदहा है—

निकटतर धँसती आड़ मे निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त मे

---

१. डॉ० नामवर सिंह—'प्रयोगवाद'

तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्य धन गदहा।

नयी कविता के प्रतीक मध्यवर्गीय यथार्थ जीवन से ग्रहण अवश्य किये जाते है परन्तु इतने दुरूह होते हैं कि आसानी से पाठक की समझ मे नही आते। हम कहना चाहें तो डा० रामविलाश शर्मा के शब्दो में कह सकते है कि प्रयोगवादियों ने प्रतीकों का जो ढेर लगाया है वह खाद का ही काम कर सकता है।

नयी कविता पर परम्परा विहीनता का दोष लगाया जाता है। लेकिन मेरी समझ से उसकी एक परम्परा है। भले ही वह विदेशी हो। नये कवियो की प्रेरणा का आदि स्रोत टी०एस० इलियट रहा है। इलियट पर जूललाफोर्म और त्रिस्ता कौर्बलेर का प्रभाव है। ये दोनों कवि फ्रान्स के प्रतीकवादी आन्दोलन से सम्बद्ध थे। प्रतीकवादी धारा रोमैन्टिक धारा के अस्वस्थ पक्ष को लेकर चलने वाली धारा थी। इलियट पर एजरापाउण्ड का भी प्रभाव है, यह वही कवि है जिसने मुसोलिनी की प्रशंसा मे पुस्तकें लिखकर काफी धन कमाया था। पूँजीवाद सड़ाँध से उत्पन्न इन्हीं कवियों का इलियट पर प्रभाव है। अस्तु इलियट का रुग्ण कल्पना का कवि होना स्वाभाविक था। इलियट को लंदन ब्रिज पर चलते हुए आदमी मुर्दे लगते है। उसमें मानवता विरोधी विषैले कीटाणु मौजूद हैं। इसी इलियट की परम्परा मे नयी कविता के कवि आते हैं। इसलिए निराशा एवं कुण्ठा उनका जीवन दर्शन है। ये अपनी परम्परा को आगे भी चलाना चाहते है ताकि भावी सन्तति उनके बताये हुए मार्गों का अनुसरण कर सके। इसी लिए तो अंधायुग, अँधाकुँआ, अँधीगली की परम्परा का ठोस निर्माण कार्य चालू है ? मै मानता हूँ कि विज्ञान के इस युग मे राष्ट्र की सीमाएँ संकुचित एवं कृत्रिम प्रतीत होती हैं। लेकिन प्रतीत ही होती है, वास्तव में है नहीं। हम दो अलग-अलग राष्ट्र के निवासी है। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों मे हमने अपनी परम्परा का निर्माण किया है। हमारी अपनी धरती की सोंधी मिट्टी से उपजे हमारे अपने आदर्श एव सिद्धान्त है, अपनी जीवन दृष्टि है। माना कि आज विश्व नागरिकता एवं विश्व बंधुत्व

ने युग में हम साँस ले रहे हैं, लेकिन क्या ये तथाकथित नये कवि राष्ट्रीय होने के पूर्व ही अन्तर्राष्ट्रीय हो गये है। मानता हूँ अँग्रेजी के व्यवहार के बिना आज के पंचयुग में रहना सम्भव नहीं है। लेकिन क्या इसके लिए आवश्यक है कि अपनी संस्कृति को परित्यक्त कर दिया जाय? टी० एस० इलियट एवं डी० एच० लारेंस के साहित्य का अध्ययन हमारे लिए अत्यत आवश्यक है। लेकिन क्या कालिदास, माघ, भारति, कबीर, सूर, तुलसी और प्रसाद तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अध्ययन उससे अधिक जरूरी नहीं है।

योरोप के जीवन में क्रिस्टियन सभ्यता के प्रति अब अरुचि उत्पन्न हो चुकी है तो क्या हमारे लिए यह शुभ होगा कि हम उसके प्रति अत्यधिक अभिरुचि दिखलायें। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि हमें वाह्य प्रभाव खुले मन से ग्रहण करना चाहिए, लेकिन अपनी परम्पराओं को लिये-दिये। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाली नक्कालबाजी तो मूर्खों की वस्तु है। किसी अंग्रेजी विद्वान् ने ठीक ही कहा है, पूर्व पूर्व है, और पश्चिम पश्चिम। इसका प्रयोग मैं संकीर्णता के अर्थ में कदापि नहीं कर रहा हूँ। मेरा तो मतलब केवल इतना है कि पूर्व और पश्चिम के आदर्शों में, सामाजिक मान्यताओं में सर्वेव से फर्क रहा है। आज भी योरोप में जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था की नींव हिल चुकी है, वहाँ एशिया प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। मैं मानता हूँ कि 'पुराण मित्येव न साधु सर्वम्' लेकिन क्या जो साधु है, उसको भी हम नवीनता के मोह में छोड बैठेंगे। जहाँ तक नये कवि का प्रश्न है, उसे अपने पूर्वजों की परम्परा का जरा भी मोह नहीं है। यदि होता तो क्या 'अंधायुग' के कवि ने कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास ईसा के व्यक्तित्व के आधार पर किया होता! अस्तु हम कहना चाहे तो आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में कह सकते है, "नयी कविता निहायत विदेशी कलम है और हिन्दी के लिये बहुत कुछ बेमानी चीज है।"

नये कवि की दलील है कि योरोप की भाँति हमारे भी देश की संस्कृति में संकट उत्पन्न हो गया है। यद्यपि मैं इस पर विश्वास नहीं करता। आज का भारत निर्माण एवं विकास के पथ पर है। उसका मध्य भले ही अंधकारमय रहा हो लेकिन उसका अतीत स्वर्णिम था और आगे भविष्य भी रहेगा।

हमारे कदम आगे बढ रहे है। यह बात और है कि किन्हीं वजहों से हम उतनी तेजी से आगे नहीं बढ पा रहे है, जितनी तेजी से बढ़ना चाहिए था। यदि किसी बन्धु को साहित्यिक गतिरोध की स्थिति समझ मे आती हो तो मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे रेणु, नागार्जुन के उपन्यास एवं मार्कण्डेय की कहानियाँ पढ जाँय, स्थिति स्पष्ट हो जायेगी। हाँ अंधायुग, अंधा कुँआ और अंधी गली की बात मैं नही करता।

नयी कविता के कवि मे हमे अहमवादी प्रवृत्तियो के दर्शन होते है। यह उसके चरम व्यक्तिवाद का परिणाम है। कहा जाता है कि लघु मानव की पूजा उसका अन्तिम वाक्य है। यहाँ लघु मानव का प्रयोग मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिये किया जा रहा है, यही उसका दृढ प्रयोग भी है। वैसे मुझे 'लघुमानव' शब्द मे पीडित सर्वहारावर्ग (किसान, मजदूर) की याद आती है। इस बात मे तनिक भी सन्देह नही कि व्यक्ति मानव और समूह मानव का संघर्ष आज के युग जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। जहाँ एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर आर्थिक शोषण को प्रश्रय दे रही है, वहाँ दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था मायकावस्की जैसे स्वतन्त्रता प्रिय कलाकार को आत्महत्या के लिए विवश कर रही है। व्यक्तिवादी विचार-धारा सामाजिक दायित्व से कतरा जाती है और व्यक्ति के दायरे मे ही सब कुछ सोचती है। दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा वैयक्तिक स्वातंत्र्य के नाम पर प्रश्न चिन्ह लगा देती है। वस्तुतः दोनो प्रकार की व्यवस्थाओं मे अतिवादिता का दोष है। व्यक्ति को एक सीमा तक स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए। स्वयं मार्क्स भी इस प्रकार की स्वतंत्रता के पक्ष मे था। वस्तुतः दायित्व एवं स्वातंत्र्य अन्योन्याश्रित है। लेकिन वैयक्तिक स्वातंत्र्य का अर्थ बाद्धिक अराजकता, निरकुशता एवं दायित्वहीनता कदापि नही है। व्यक्ति का दायित्व मानव मूल्यो को उसकी समग्रता मे ग्रहण करना एव सांस्कृतिक प्राणो मे उसकी प्रतिष्ठा करना है। गीता की भाषा मे विनोवा इसे स्वधर्म कहते है।

यह तो हुई सिद्धान्त स्तर की बात। अब हमे देखना है कि नयी कविता ने वैयक्तिक स्वातंत्र्य को किस अर्थ मे ग्रहण किया है। मेरी समझ से नयी

कविता के वैयक्तिक स्वातंत्र्य का अर्थ ...... और सामाजिक-दायित्व से कतराना है। दरसल नया कवि "अधिक व्यक्तिवादी हो गया है और उसने जीवन के स्रोत से अपना सम्पर्क खो दिया है।" वह सामाजिक बाधाओं एवं वर्जनाओं को तोड़ना चाहता है। वह व्यक्ति की सामाजिक, नैतिक, धार्मिक स्वतंत्रता का हिमायती है, आर्थिक स्वतंत्रता (या समानता) का नहीं। यह अहम् का प्राधान्य है एवं निराशा की परिणति है—

व्यक्तिवाद के अहम् की अभिव्यक्ति आप डॉ० धर्मवीर भारती की इस कविता में देख सकते हैं—

क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
हो चुकी हैवानियत की इन्तहा
आदमीयत अभी आवाज बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ।

डॉ० रघुवंश भी यह मानते है कि नयी कविता शैली और सौन्दर्य-बोध के क्षेत्र में अतिवैयक्तिक है। बानगी के तौर पर एक और उदाहरण दे देना अप्रासांगिक न होगा—

मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षा की वैश्या बुरी तरह खास रही है
मैं गद्य की एक रस भन भन से घबराता हूँ
ज़रा गीत गाकर देखूँ
पास धर आये
तो दिन भर का थका जिया मचलर जाये।
(बम्बई का क्लर्क)

"प्रयोगवाद कवि जहाँ एक ओर मध्यवर्गीय परिवेश से असन्तुष्ट है वहाँ दूसरी ओर जनजागरण से डरकर आत्मरक्षा मे लीन है। कुल मिला

कर यह चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र बिन्दु है।"[१]

अब मैं नयी कविता की छंदप्रणाली, लय, संगीत तथा भाषा की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। छायावादी युग मे ही छंद के बंध खुल चुके थे। मुक्त छंद की परम्परा 'निराला' बंगाल मे ले आये। मुक्त छद स्वच्छन्दतावादिनी प्रवृत्ति का परिचायक है। छंद का अर्थ ही है बँधना, फिर मुक्त बन्धन का क्या अर्थ है ? छंद से मुक्ति। छंद मे तुक तो नहीं परन्तु आन्तरिक लय होती है। नयी कविता भी छंदमुक्त कविता है। प्रभाव अंग्रेजी का है। स्वयं 'अज्ञेय' जी के मुक्त छंद पर अंग्रेजी कवि इलियट की प्रलम्बित, पुनरावृत्ति वाली टेक्नीक का और लारेंस की भावावेशमय गद्यात्मक ध्वनि चित्रण का बहुत सूक्ष्म पर गहरा प्रभाव है। छंद की गति टूट जाती है—

कोटरों से गिलगिली घृणा यह झाँकती है
मान लेते यह किसी शीतरक्त, जड हिंस्र
जल-तल वासी मेंढुक के विष नेत्र हैं
और तम जात सब जन्तुओं से
मानव का बैर है।
क्योंकि यह सुत है प्रकाश का।

दरअसल मुक्त छद छंदबद्ध कविता से ज्यादा अनुशासन माँगता है। माथुर ने सवैयों को तोडने का अलबत्ता सफल प्रयास किया है। नयी कविता मे इधर गद्यमयता बढती जा रही है। नीचे मैं एक कविता प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसमे आप देखेंगे कि कसे-फँसे को छोड और कोई ध्वनि साम्य नही है —

वह
आती
कछनी कसे
बोरबाला

१. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ० नामवर सिंह।

अंग
हार हँसली
करधनी
कड़ों छड़ों में फभे।

नयी कविता अंक—२ में श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस कविता के लिए 'गद्य कविता' नाम प्रस्तावित किया है। उसी की व्याख्या में वे कहते हैं "गद्य कविता में वस्तु कविता की होगी अर्थात् वह भावावेगमय होगी परन्तु उसका विधान गद्य का होगा। इस प्रकार कविता तथा गद्य का शरीर लेकर गद्य-कविता का निर्माण हुआ।" इस गद्य कविता में कविता की आत्मा का भी पता नहीं चलता—

मैं आज भी जिन्दा हूँ
उस हस्ताक्षर की भाँति
जो मजाक मजाक में यूँ ही किसी
बटवृक्ष के नीचे
पिकनिक तफ़रीह में लिख दिया गया था
एक तेज धार वाले फौलाद की नोक
अब भी मेरी छाती में गड़ी है,
और उस बटवृक्ष का घायल सीना
उस दाग की रक्षा हर मौसम में करता है।

अब जरा इसी कविता को सीधी-तिरछी लकीरों के बजाय गद्य में लिख दिया जाय—"मैं आज भी जिन्दा हूँ, उस हस्ताक्षर की भाँति, जो मजाक-मजाक में यूँ ही किसी बटवृक्ष के नीचे पिकनिक तफ़रीह में लिख दिया गया था। एक तेज धारवाली फौलाद की नोक अब भी मेरी छाती में गड़ी है और उस बटवृक्ष का घायल सीना उस दाग की रक्षा हर मौसम में करता है।" कविता खण्डित गद्य में इस प्रकार परिवर्तित हो गयी। नयी कविता अंक—२ में स्वयं श्री 'अज्ञेय' ने श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताओं की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि कविता की पंक्तियाँ खंडित गद्य की पंक्तियाँ रह जाती हैं और यह दोष उस कविता में बहुधा पाया

जाता है जिसे नयी कविता की अभिधा दी जा रही है। छंद, लय, संगीत और भाषा सभी दिशाओं मे अराजकता व्याप्त है। उसका चमत्कारवाद उससे सब कुछ करवा रहा है।'' नये कवि का यह चमत्कारवाद ही है कि वह परिचित लय का हनन कर, गद्य की नीरसता को ग्रहण कर, शब्दो को तोड मरोड़कर, ग्राम्यशब्दों का अनुचित प्रयोग कर नयी कविता की रचना करता है। वह कोशिश इस बात की करता रहता है कि वे कौन से काव्य के उपकरण है जिनको छोडकर भी नयी कविता लिखी जा सकती है।

नयी कविता के कवि लय के हिमायती है और छंद के विरोधी। नयी कविता अक— ३ के सम्पादकीय मे ''अर्थ की लय एवं खण्डित गद्य'' शीर्षक से डॉ० जगदीश गुप्त ने यह स्थापना की है कि शब्द की लय और अर्थ की लय मे एक मौलिक अतर है। अपनी स्थापना के लिए उन्होंने आई० ए० रिचर्ड्स एवं टी० एस० इलियट का सहारा लिया है। रिचर्ड्स कहता है—''काव्य मे लय, शब्द तक ही सीमित नही है। पढनेवालों पर उसका प्रभाव अर्थ के साथ संयुक्त होकर पडता है।'' लेकिन इस उद्धरण से स्वतंत्र अर्थ लय की सत्ता कहाँ प्रमाणित होती है! इलियट कहता है—"A Musical poem'' उसे कहते हैं जिसमे वाद्य का एक संगीतमय पैटर्न होता है और शब्दों के गौण अर्थ का दूसरा संगीतमय पैटर्न होता है।'' डॉ० रामविलास शर्मा ने 'समालोचक' के सम्पादकीय मे यह बताया कि श्री गुप्त जी ने वाक्य के अंतिम अंश को छोड दिया है जिसमे उसने दोनो पैटर्न का अभिन्नत्व एवं एकत्व घोषित किया है। इस प्रकार आप देखते है कि रिचर्ड्स एवं इलियट की उक्तियो मे अर्थ-लय की स्वतंत्रता नही सिद्ध होती।

लेकिन नया कवि शब्द की लय एव अर्थ की लय मे मौलिक अंतर मानेगा ही, चाहे किसी अधिकारी विद्वान् का उसे वास्तविक समर्थन प्राप्त हो या न हो। 'अज्ञेय' जी की एक कविता लीजिए और उसकी लय पर रा ध्यान दीजिए :—

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता

पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

"मुक्त छंद के जो प्रयोग नयी से नयी कविता मे मिल रहे है उन पर उर्दू, अंग्रेजी, लोकगीतों की धुनों तथा अन्य भाषाओ के छंद प्रयोगो की स्पष्ट छाया होने पर भी वे हिन्दी की देशी छंद पद्धति मे कटकर बिल्कुल अटपटे लगेगे जैसे शमशेर बहादुर सिह के कुछ नये प्रयोग या केदारनाथ अग्रवाल की तालात्मक गद्य रचना।"[१] नयी कविता मे सगीत तत्व का भी सर्वथा बहिष्कार है। सगीत-तत्व काव्य के अमरत्व के लिये बहुत बड़ा और उपयोगी साधन है। नये कवि भाषा का एकांत वैयक्तिक प्रयोग करते है। आयास, प्रतिमान, प्ररिप्रेक्ष्य आदि उनके परिभाषिक शब्द है। भाषा एक सामाजिक साधन है उसका निरा वैयक्तिक प्रयोग कहाँ तक सार्थक है इसे कवि स्वयं जानें। विदेशी शब्द जान बूझकर ग्रहण किये जाते हैं। स्वयं 'अजेय' अंग्रेजी अप्रचलित शब्दों, वाक्यों का हिन्दी मे धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। ईमानदारी की बात तो यह है कि वे सोचते अग्रेजी में है और लिखते हिन्दी मे है। संस्कृति का ज्ञान न होने के कारण उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। ये कवि शब्दों को तोड-मरोड़कर अर्थ का अनर्थ कर डालते है—चिहुंकी के स्थान पर चिडंकी।

आये दिन यह नारा सुनने मे आता है कि नयी कविता अतिरिक्त बौद्धिकता से ग्रस्त है। और हम जैसे सामान्य पाठक बौद्धिकता की डींग सुनकर आतंकित हो जाते है। नयी कविता, वस्तुतः बुद्धि की ही उपज है। उसे हम लेबर्ड पोयट्री कह सकते हैं। उसका सम्बन्ध हृदय से कम या नहीं के बराबर है, यही कारण है कि यह वैयक्तिक अनुभूति

१. सन्तुलन, ले० श्री प्रभाकर माचवे।

के प्रति ईमानदार नही है। 'अज्ञेय' जी दलील पेश करते हैं, "कुछ लोग है, जो कहते है कि बुद्धि के बढ़ते वैभव के साथ मानव का ह्रास हुआ है। मै ऐसा नही मानता—नही मान सकता—मेरी प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असम्भव बना देती है क्योंकि मेरे निकट नीति, ज्ञान, विवेक, स्वयं बुद्धि का वैभव है। मै यही कहूँगा कि साहित्य की नई प्रवृत्ति नैतिकता, शिथिलता, नैतिक ह्रास की नहीं, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है।"[१] परिपक्वता की सूचक हो या अपरिपक्वता की, लेकिन इतना तो निश्चित है कि श्रेष्ठ काव्य-सर्जन के लिए हृदय और बुद्धि का समन्वय अपेक्षित है।

"प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह से काव्य की चौहद्दी के अन्तर्गत नही आती क्योंकि वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त है।"[२] नये कवि मे प्रश्न करने की भी एकलत पड़ गयी है। कभी वह प्रश्न के स्थान पर उत्तर को स्थायी मान लेता है और कभी उत्तर की अनुपलब्धि मे प्रश्न को ही स्थायी मान लेता है। मानसिक अराजकता का ही यह परिणाम कहा जा सकता है।

भारती मण्डल द्वारा संपादित 'आलोचना' और 'परिमल' द्वारा 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व' आदि विषयों पर आयोजित गोष्ठियों मे यह स्पष्ट हो जाता है कि नयी कविता का कवि राजनैतिक आन्दोलनों के लिये घोषणा पत्र नहीं लिखता, साहित्य को राजनीति का अस्त्र नही मानता। यदि कभी-कभार राजनीतिक समस्याओं को उठाता है तो कला के स्तर पर। इनकी राजनीतिक समस्याओं का मूलमंत्र होता है साम्यवाद का विरोध। फ्रेन्को (स्पेन का अधिनायक) इनके विरोध का विषय नही है, क्योंकि वह तो पूंजीवादी व्यवस्थान्तर्गत आने वाला अधिनायक-

---

१. आलोचना, अंक—६, 'अज्ञेय'।

२. आधुनिक साहित्य, प्रयोगवादी रचनाएँ—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

वाद है। अभी कुछ ही समय हुए वहाँ की जनवादी शक्तियों को बुरी तरह कुचला गया था। उन साहित्यकारो के प्रति, जो जनवादी शक्तियो के साथ काम आये थे, अज्ञेय के शिष्यो ने कितना तीखा व्यंग्य किया था—

"ये प्रगतिशील साहित्यकार बड़े आँके-बाँके सजीले नौजवान थे।"

हम पुनः अपने विषय की ओर लौटते है। नयी कविता के कर्णधार किस स्तर पर राजनीतिक समस्याओं को उठाते है? वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रश्न उठाते है या राजाश्रय और साहित्यकार जैसे मौलिक प्रश्नों को उठाते है। तो समस्या यह रही कि नया कवि किसी प्रकार का बन्धन नहीं चाहता। वह जानता है कि मायकास्की को बंधन के कारण ही आत्महत्या करनी पड़ी थी। दरअसल, यदि व्यक्ति के विकास को इस प्रकार बंधनो से जकड़ दिया जायगा तो उसका व्यक्तित्व कुंठित हो जायेगा। लेकिन कदाचित् नया कवि वैयक्तिक स्वातंत्र्य के स्थान पर वैयक्तिक स्वच्छन्दता चाहता है। नैतिकता का भी बन्धन उसे असह्य है, राजनीति, समाज, धर्म किसी का भी बंधन उसे स्वीकार नहीं। स्त्री-पुरुष के बीच निबन्ध विलास की छूट चाहता है—

'संस्कृतियों की, संस्कृतियों की
तोड़ सभ्यता की चट्टानें
नयी व्यंजना का सोता
बस इसी राह से बह सकता है।"

या— 'फूल को प्यार करो, पर झरे तो झर जाने दो।'

वस्तुतः नये कवि की स्वतन्त्रता के मूल में यही भावना है। तभी तो 'फोरम फार कल्चरल फ्रीडम' जैसी संस्थाएँ आज भी भारत जैसे स्वाधीन देश मे विद्यमान है। नये कवियों की राजनैतिक अस्थिरता का एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। आलोचना के संपादन काल मे जिन लोगों को साहित्य में प्रगति नजर आ रही थी, साल-डेढ़ साल बाद साहित्य मे गतिरोध एवं मानव मूल्यों का विघटन नजर आया। बीच मे किन्हीं वजहो

से जो काम रुक गया था, 'निकष' एवं 'नयी कविता' के प्रकाशन से पुनः चालू हुआ। 'निकष' के प्रथम अंक मे ही अतुकान्तवादी माचवे जी ने तुक का सहारा लेते हुये रूस एवं चीन की व्यवस्थाओं का मज़ाक उड़ाया। सर्वेश्वर दयाल जी ने 'सोया हुआ जल' मे कम्युनिस्टो की बुराइयों का गीत गाया। प्रबुद्ध पाठक के मन मे सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि आखिर यह सब कुछ सन् ५६ मे ही क्यो हुआ ?

अब मैं जरा आपको राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की ओर ले चलता हूँ। यह वही समय है जिस समय भारत मे बुल्गानिन एवं ख्रुश्चेव जैसे रूसी नेताओ का आगमन हुआ। मिस्र के 'आस्वानबाँध के लिए अमरीका ने आर्थिक सहायता देना अस्वीकार कर दिया। हंगरी मे बुरी तरह से मानवता का हनन किया गया। लाखो की संख्या में बाल-वृद्ध नर-नारी अकाल ही कालकवलित हो गये। काश्मीर की समस्या पर रूस ने 'वीटो' का भारत के पक्ष में प्रयोग किया। पूँजीवादी, व्यवस्था की चाल न तो हंगरी में कामयाबी हासिल कर सकी और न काश्मीर के मामले में। समर्थको की एक बैठक बम्बई मे हुई। श्री अज्ञेय, 'भारती' और माचवे भी उसमें शामिल हुये। बड़े ज़ोर शोर से वैयक्तिक स्वातंत्र्य के खतरे का नारा बुलन्द किया गया।

प्रयोगवादियों का दार्शनिक मत भी उनकी राजनीति का ही प्रतिफलन है। 'अज्ञेय' सृष्टि के मूल रहस्य पर विचार करते हुए कहते हैं—

सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
"न कुछ"
(पा गये ! पा गये !)

"ईश्वर ने चित से सृष्टि की कल्पना की
अत सृष्टि का मूल रहस्य क्या है ?
चित ?
ईश्वर ने अपनी तपन की पीड़ा से सब कुछ रचा
अतः मूल रहस्य क्या है ?

पीड़ा ?

पीड़ा पराजय की है और पराजय व्यष्टि की समष्टि से—

मैं गिरा : पराजय से पीड़ा से

लोचन आये भर से

पर मैंने मुँह नहीं खोला ।

इस प्रकार जीवन का अंतिम लक्ष्य निर्धारित हुआ पीड़ा । पीड़ा और दर्द जीवन में हो सकते है, लेकिन यही जीवन का सत्य है ऐसा मैं कभी नही मान सका हूँ । नये कवि की यह मौलिकता जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा को कहाँ नसीब है ।

'साहित्य अकादमी' द्वारा प्रकाशित कन्टेम्पोररी इन्डियन लिटरेचर में 'अज्ञेय' ने 'प्रसाद' और महादेवी को अमौलिक माना है । और स्वयं 'अज्ञेय' नाम छिपाकर वात्सायन नाम से अपनी प्रशंसा की है ।''

प्रयोगवादी कवियों में क्षण के प्रति तीव्र आस्था है । क्षण का मूल्य ही इनके लिए सबसे बड़ा मूल्य है । और यदि हम कहना चाहें तो कह सकते है कि क्षणवाद ही उनका जीवनदर्शन है । क्षण का नितान्त भोगवादी रूप उनमें पाया जाता है । प्रवर्तक होने के नाते 'अज्ञेय' ने क्षण के प्रश्न को हिन्दी साहित्य में सबसे पहले उठाया । वे क्षण को उसके काल प्रवाह से अलग करके देखते हैं । स्वयं टी० एस० इलियट ऐसा नहीं मानता । नयी कविता का कवि केवल वर्तमान को ही सत्य मानता है । उसके लिए भविष्य अंधा और भूठा होता है । प्रत्येक क्षण का अलग अस्तित्व एवं मानदण्ड होता है । शाश्वत सत्य, या शाश्वत मानदण्ड जैसी कोई वस्तु उसके लिए नही है । क्षण का सत्य ही उसके लिए सत्य है । बुद्ध और गाँधी का सत्य भी उनके साथ चला गया । क्षण के अस्तित्व एवं महत्व को कोई अस्वीकार नही कर सकता, लेकिन 'अज्ञेय' यह क्यों भूल जाते हैं कि एक डग भी भरने के लिए पिछले की प्रेरणा एवं अगले की आशा अपेक्षित होती है । एक कदम तभी सच है जब उसके आगे-पीछे दूसरा भी हो । क्षण तो काल प्रवाह की एक लघुत्तम इकाई है उसके साथ चिपके रहना कैसे सम्भव है ! हमारे घनिष्ट मित्र

श्री नित्यानन्द तिवारी भी मेरी इस विचारधारा से सहमत है :—

ये क्षण
जो समय की अमाप ऊँचाइयों ने
फूटकर
रन्ध्र-रन्ध्र मे जीवन के
रिस-रिस कर प्रतिक्षण प्रवाहित है
ये क्षण
जो हमारी हर संवेदना को अर्थ देने वाले पिता हैं
उसका दिया सब कुछ मैं
इन कधों पर ढोने को सहने को तत्पर हूँ
उसकी अभ्यर्थना मे
सब कुछ उत्सर्ग करने को आतुर हूँ
क्योंकि मै उसके अबाध प्रवाह को
उसकी सहजता में जानता पहचानता हूँ

लेकिन खेद की बात तो यह है कि नयी कविता के कवि अपनी ही बिरादरी वालों की बात मानने को तैयार नहीं है। 'अज्ञेय' क्षण को पूरा का पूरा पी जाना चाहते है। वे उसी को अजर-अमर वेदितव्य अक्षर मानते है। नयी कविता अंक—२ मे 'संभाव्य भूमिका' शीर्षक मे लिखते हैं :—

......आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात कर ले

×

शाश्वत हमारे लिए वही है
अजर अमर है।
वेदितव्य अक्षर है।
''एक क्षण : क्षण मे प्रवाहमान

व्याप्त सम्पूर्णता
इससे कदापि बडा नही था महासिन्धु
जो पिया था अगस्त ने।"

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस 'क्षणवाद' की प्रतिष्ठा महात्मा बुद्ध ने की थी वह दुख मूलक था, जब कि नयी कविता का 'क्षणवाद' भोग मूलक है।

अब थोडा नये कवि के व्यक्तित्व का अवलोकन भी आवश्यक है। नयी कविता का कवि मध्य वर्ग का प्रतिनिधि है। मध्यवर्ग अपने मे कोई ठोस ईकाई नही है। वह पूंजीपति एव सर्वहारा वर्ग के बीच त्रिशंकुवत लटका हुआ है। न तो वह पूंजीपतियो का कृपापात्र ही बन पाता है और न सर्व-हारा वर्ग के साथ मिल ही पाता है। उसका व्यक्तित्व खण्डित है। यदि उसके व्यक्तित्व की तुलना कोट के नीचे छिपी फटी कमीज मे करे तो कोई अत्युक्ति न होगी। वह छायावादी कवियो की भाँति न तो छायालोक मे विहार करता है और न प्रगतिवादियो की भाँति समाज की विभीषिका मे संघर्ष ही मोल लेता है, वरन् वह अपने आप मे ही सिकुड़कर प्रयोग करता है। अवचेतन मन की दमित वासनाओ की अभिव्यक्ति ही उसकी कविता का वर्ण्य विषय है। उसके अन्तस् मे कुण्ठा है, बाहर व्यक्ति—समाज का संघर्ष है। इसी का फल है कि उसकी संवेदना उलझी हुई है। वह कहता है कि जीवन मूल्यों की जितनी भयंकरता आज दृष्टिगोचर हो रही है उतनी शायद पहले कभी नही थी। अस्तित्व-संकट के प्रश्न पर कवि कहता है—

द्वीप है हम
यह नही है शाप
यह अपनी नियति है
हम नदी के पुत्र है, बैठे नदी के क्रोड मे
यह बृहद् भूखण्ड से हमको मिलती है
और यह भूखण्ड अपना पिता है।

—'अज्ञेय'

नये कवि की सबसे बड़ी दुर्बलता व्यक्तित्व के अभाव की है। डॉ० देवराज भी यही मानते हैं। आलोचकों की बात जाने दीजिए, स्वयं नरेश मेहता कहते है "इधर के संकलनों को देखकर स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कविता मे आजकल अज्ञानता, उच्छृंखलता आदि बातें मौलिक मानी जा रही है। हम नये कवियों की सबसे बडी कमजोरी यही है। काव्य की रचना से अधिक आवश्यक यह है कि हमारा कवि का व्यक्तित्व हो। साहित्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति नही वरन् व्यक्ति द्वारा बृहद् की अभिव्यक्ति है।"[१] एक नये कवि का व्यक्तित्व देखिए—

> बाल बिखेरे
> गाल पिचके
> निष्प्रभ
> बलाक
> आदि स अंत तक
> केवल अतुकान्त
> श्री मान्
> श्री युत
> श्री लक्ष्मीकांत।

अब हम नयी कविता के आस्वादन की समस्या पर विचार करेंगे। मै समझता हूँ यह समस्या नये काव्य की सबसे बडी समस्या है। आलोचना अंक—२ (जनवरी १९५७) के सम्पादकीय मे "प्रतीकवाद: त्रिशकुओं का साहित्य" के लेख के प्रारम्भ मे जैनेन्द्र जी का एक पत्र छपा है। जिसका सार यह है कि 'नदी के द्वीप' को पढकर जैनेन्द्र जी को कोई उपलब्धि नही हुई। सोचने की बात है और गम्भीरतापूर्वक। जैनेन्द्र जी कोई साधारण पाठक नही है। जैनेन्द्र जी की यह याचना, मैं समझता हूँ हिन्दी के निन्यान्वे प्रतिशत पाठकों की याचना है। आज का हिन्दी का पाठक एक स्वर से यह प्रश्न उठाता है कि नयी कविता उसके पल्ले नही पडती (प्रस्तुत पंक्तियों का

---

१. नयी कविता अंक ३. श्री नरेश मेहता।

लेखक भी अपने को इसी श्रेणी में रखता है)। आखिर नयी कविता की दुरुहता, अस्पष्टता के मूल में कारण क्या है ? ईमानदारी की बात तो यह है कि 'अज्ञेय' जी प्रयोगशीलता की आड में प्रतीकवादी विचार धारा को साहित्य में प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। प्रयोग उनके लिए साध्य एवं साधन दोनो है। यदि सत्य का उद्घाटन हो तो भी उन्होंने शिल्पगत प्रयोग ही अधिक किये हैं, वस्तुगत कम। प्रयोग हमेशा से होते आये है। जब जब समाज बदला है तब तब उसकी मान्यताएँ एवं आदर्श भी बदले हैं परन्तु कभी कभी ऐसा हुआ है कि साहित्य में शैलीगत परिवर्तन समाज की सक्रान्ति की निशानी के रूप में हुआ है। प्रयोगवाद की स्थिति कुछ ऐसी ही है। एक बात और है, जो व्यक्ति जीवन में सुलझा हुआ कलाकार होता है उसका साहित्य भी उतना ही सुलझा हुआ होता है, उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जो कवि अपने आप में ही उलझा होता है, उसकी सवेदनाएँ भी उलझी हुई होने के कारण सप्रेष्य नहीं हो पाती। उलझी संवेदना एव विश्रृंखल विचारो का एक उदाहरण लीजिए—

खड़ी थी दीवार से लगी सीढ़ी एक
बोला सिरे का डन्डा
जो था साहसी, टेक
ओ नीचे वाले सुनो।

त्रिशंकु हूँ मैं—स्थितप्रज्ञ
अपराजेय, अनासक्त याग हूँ
चिरन्तन शाश्वत सत्य
अपरिवर्तित अकुर हूँ
देश-काल से मुक्त
कभी नहीं बदलूंगा।
अक्षय, असत्य हूँ मैं।

—लक्ष्मीकांत वर्मा

तीसरी पंक्ति मे टेक का क्या अर्थ है समझ मे नहीं आता ? इतना अवश्य समझ मे आता है कि बीच का डन्डा मध्यवर्ग का प्रतीक है। लेकिन सातवीं पंक्ति का चिरन्तन शाश्वत सत्य डण्डा अन्तिम पंक्ति मे अक्षय अमन्य कैसे हो गया ?

स्वयं 'अज्ञेय' ने प्रथम सप्तक मे यह स्वीकार किया था कि उनकी कविताएँ प्रेषणीय नहीं हो पायेंगी। वे इसीलिए इसके लिए भी तैयार थे कि तार सप्तक के पाठक वे ही रह जायँ। "जो व्यक्ति की अनुभूति है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[१] नयी कविता के संप्रेष्य न होने मे एक कारण यह भी है कि वह फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र से बहुत प्रभावित है। अवचेतन मन का अध्ययन उसका प्रिय विषय है। वे कवि मन की निविडता मे इतना उलझ जाते है कि स्वयं स्वय को नहीं समझ पाते।

पाश्चात्य साहित्य के भी कई साहित्यकारों का नाम आत्मप्रवंचना के लिये ये पेश करते हैं। जिनकी प्रतिष्ठा कालान्तर से हुई। एक बात ध्यान देने की है कि प्राचीन काल के बहुतेरे साहित्यकारो की रचनाएँ उनके अपने जीवन काल में इसलिए हेय रहीं, क्योंकि वे परम्पराविरोधी थी, न कि इसलिये कि वे असंप्रेष्य थीं। नयी कविता की असंप्रेष्यता के मूल मे दोनों कारण हैं—एक तो वह परम्परा विहीन है और दूसरे अत्यधिक दुरुह है। "जानबूझकर अधिकाधिक निर्जीव, जटिल, और दुरुह बनाने की चेष्टा ही नयी कविता की विशेषता है।"[२] द्वितीय सप्तक तक आते-आते 'अज्ञेय' का 'काल्योहयम्' का धैर्य खण्डित हो चला और उन्होने साधारणीकरण की नयी व्याख्या प्रस्तुत की "जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं हो पाता। तब कवि उस अर्थ की प्रतिपत्ति

---

१. प्रथम तार सप्तक 'विवृत्ति और पुरावृत्ति'—'अज्ञेय'।
२. आलोचना अंक—२ सम्पादकीय-श्री शिवदान सिंह चौहान

करता है, जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो, साधारणीकरण का यही अर्थ है।"[1] काव्यशास्त्र के प्रमुख विद्वान् डा० नगेन्द्र को इसका प्रयुत्तर देना आवश्यक जान पड़ा—"प्रयोगवादी कवि बुद्धि व्यवसायी है, अपनी अनुभूति मे उसे विश्वास नहीं है, परिणामतः वह सहानुभूति मे असमर्थ रहता है अर्थात अपने संवेद्य को विश्वास रूप मे न तो वह ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत ही कर सकता है और इसके बिना काव्य रचना संभव नही।"[2] बावजूद इसके कि नया कवि सव्याख्या कविताएँ प्रस्तुत करता है, हमारी समझ मे वे नही आती है। अपनी उलझी हुई सवेदना को आडी-तिरछी लकीरो मे अटपटी शैली मे, वह व्यक्त करता है तो हमारी समझ मे कहाँ से आये। श्रेष्ठ साहित्य तो वह है जिसका आस्वादन साहित्यकार-असाहित्यकार, विद्वान्-अविद्वान सभी कर सके। लेकिन नयी कविता इस शर्त को नही पूरा करती। आस्वादन के मार्ग की सबसे बडी बाधा इस गद्य कविता की एक रस भिनभिनाहट है। मुक्त छद के नाम पर आडी-तिरछी लकीरो और कामा, फुलिस्टापो मे कुछ पंक्तियाँ लिख दी जाती है, और कहा यह जाता है कि यह आज की प्रतिनिधि कविता है। इलियट का यह विचार सर्वथा संगत है कि मुक्त छन्द के नाम पर काफी मात्रा मे घटिया गद्य लिखा गया है।

जब नयी कविता संप्रेष्य ही नही हो पाती, तो उसमें रस का परिपाक किस प्रकार सभव होगा? तब रसो के अन्तर्गत उसका काव्य नहीं आता। रस हृदय की वस्तु है, बुद्धि के वैभव की नही। प्रयोगवाद का सम्बन्ध अतिरिक्त बुद्धिवाद से है इसलिए उसमें रसपरिपाक का प्रश्न ही नहीं उठता। इधर नयी कविता के कर्णधारो की ओर से बुद्धि-रस का नारा दिया जा रहा है, ठीक है, मौलिकता है। वास्तव मे नयी कविता मे भाव या रस के स्थान पर विचार की प्रतिष्ठा है। इस विचार को ये भावात्मकता के स्तर

१. द्वितीय सतक की भूमिका-'अज्ञेय'

२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ० नगेन्द्र

पर भी नहीं व्यक्त करते। जब कि इनके धर्मगुरू टी० एस० इलियट ने एक जगह लिखा है—

"चिंतनशील कवि वही है जो विचारों को बौद्धिकता के स्तर पर ही नहीं, भावात्मकता के स्तर पर भी व्यक्त करता है।"

नयी कविता की सबसे बड़ी त्रुटि इस बात मे है कि उसके पास जीवन-दर्शन का अभाव है। प्रयोगवादी काव्य किसी दर्शन पर आधारित नही है। हाँ, यदि क्षणवाद की प्रतिष्ठा को ही वह अपना जीवन-दर्शन मानता है तो और बात है। समाज हित के लिए कवि या साहित्यकार को धर्म, राजनीति या दर्शन सभी ओर जाना चाहिए। जिन 'महाकवि प्रसाद' को नयी कविता के प्रणेता पलायनवादी एवं अमौलिक कहते है उनके पास भी एक दर्शन था। जीवन को उसकी समग्रता मे ग्रहण करने की एक दृष्टि थी। जब कि स्वयं प्रयोगवादी कवि समाज निरपेक्ष है। "वस्तुगत प्रयोग के स्थान पर उसने शिल्पगत प्रयोग ही अधिक किए हैं।"[1] अति वैयक्तिक होने के कारण वह अपने रुदन, क्रन्दन एवं वैयक्तिक कुण्ठाओ तक सीमित हैं। समाज की अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, राजनीतिक-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए इसके लिए वह नहीं सोचता। माना कि आज के जीवन मे दुख, निराशा, कुण्ठा, अनास्था आदि का प्राधान्य है, लेकिन यही जीवन की परिभाषा तो नही है। दुख, निराशा, अनास्था का होना जितना सच है, उससे कही अधिक बढकर सुख, आशा, आस्था का सत्य है। अनास्था पर काव्य लिखकर यदि आस्था जगाई जा सके तब तो काव्य का लिखना सार्थक है, नही तो कवि को क्या अधिकार है कि वह समाज को विषपान कराये। "साहित्यकार को समाज पर छाये संकट और जीवन की विषमताओं के बावजूद युग का गरल पीकर केवल अमृत ही दान करना है।"[2] हम भारतवासियों के लिए यह

---

१. समीक्षा शास्त्र—डॉ० देवराज।

२. 'आलोचना के मान' सम्बन्धी गोष्ठी मे विषय प्रवर्तन करते हुए ये शब्द श्री शिवदान सिंह चौहान ने कहे थे।

परीक्षा का काल है। हजार साल की दासता से हमें अब जाकर मुक्ति मिली है। प्रजातंत्र के इस शिशु की रक्षा का दायित्व भी हमारे ही कन्धों पर है। अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय दोनो स्तरो पर हमे अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करनी है। "समाजवाद का विरोध करने के लिए, राष्ट्रीय नवनिर्माण मे आस्था कुण्ठित करने के लिए ये धुरीहीन प्रयोगवादी जन-जीवन और सास्कृतिक परम्परा से बिछुडकर कटी हुई पतग की तरह व्यक्ति की निरपेक्ष स्वाधीनता के आकाश मे उड रहे है।"[1]

जीवन-दर्शन के अभाव मे रचा गया साहित्य सामयिक वाहवाही और महफिली दाद भले ही पा जाय, आने वाला भविष्य उसके साथ समझौता नही कर सकेगा। "वही साहित्य शाश्वत है जिसमे समृद्ध जीवन दर्शन एवं मानव के कल्याण की उत्कट भावना विद्यमान हो।"[2]

नयी कविता के भविष्य के प्रश्न पर निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। पक्ष एव विपक्ष से भिन्न-भिन्न नारे लगाये जाते हैं, विपक्षी कहते है क्षणिकव्यक्ति की तरह क्षणिक काव्य भी होता है। लगभग एक दशक का जीवन प्रयोगवाद जिया और लगभग यही एक डेढ दशक नयी कविता भी जियेगी। समर्थक कहते है कि धीरे-धीरे यह सारा विरोध शमित हो जायेगा और हिन्दी मे नयी कविता को मान्यता प्राप्त हो जायेगी। लघु परिवेश वाले इस लघुमानव को महत्व देना ही पडेगा। एक बात मे समर्थक एव विरोधी दोनों समान हैं कि नयी कविता को जो कुछ होना है, हो नहीं चुकी, अभी होने को शेष है। यद्यपि वर्तमान के गर्भ में ही भविष्य का निवास रहता है तथापि हमें भविष्य के प्रति निराश होने की आवश्यकता नही। बहुत संभव है कि नयी कविता ही किसी महाकवि के आगमन का सेतु

---

१. 'समालोचक', अंक ६—सम्पादकीय—डॉ० रामविलास शर्मा।
२. 'साहित्यकार सम्मेलन' प्रयाग १९५७—'आलोचना के मान' सम्बन्धी गोष्ठी मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अध्यक्षीय भाषण।

बने। आवश्यकता इस बात की है कि नया कवि वादो की सीमा को तोड कर विभिन्न आयामों मे अपने को व्यक्त करे। 'सामाजिक दायित्व' से कतराने के बजाय समाज एवं व्यक्ति के बीच एक कड़ी बने।

नयी कविता : एक मूल्याङ्कन

रमा सिंह

कविता की परिभाषा अनेक विद्वानो ने की है, किसी ने गेय-तत्व की प्रधानता को काव्य की सज्ञा दी है तो किसी ने रस को काव्य का प्राण माना है। परिभाषा और विशेषता सम्बधी जितने प्रयोग 'काव्य' पर किये गये है उतने संभवतः साहित्य के किसी अन्य प्रकार पर नही। यही कारण है कि साहित्य-जगत मे जब कभी भी काव्य-रचना ने कोई नया कदम उठाया तभी चारों ओर से विद्रोह और आतंक के स्वर गूँजने लगते हैं। जितना ही हम काव्य को या सृजनात्मक साहित्य के किसी रूप को रूढियों में बाँधने का प्रयास करते है उतना ही अधिक हमे इनकी स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचय मिलता है ! जिस प्रकार पानी को मुट्ठी मे बाँधना असंभव है, उसी प्रकार रूढि या परिभाषा के दायरे मे सृजनात्मक साहित्य को बन्दी करना। इस बात के प्रमाण मे न जाने कितने दृष्टान्त हमारे सामने . । उदाहरण के लिए जब 'छायावादी' कविता जन-मानस का कंठ-हार बनी उस समय आलोचकों की जो प्रतिक्रिया हुई वह साहित्य के पाठकों से छिपी नही है ! आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निम्नलिखित शब्दो मे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी।

"ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छंदो या वृत्तो का भी प्रयोग करते है। कोई चौपदे लिखते है, कोई छः पदे, कोई तेरह पदे !......न ये शास्त्र .ी आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये

समालोचकों के परामर्श की परवाह करने वाले !"—इन शब्दों में स्पष्ट ही आलोचक के मन का आक्रोश है; परन्तु इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं के बावजूद भी छायावाद साहित्य जगत में प्रतिष्ठित हुआ।

कुछ इसी प्रकार की विद्रोही और आक्रोशपूर्ण स्थितियों में नयी कविता गुजरी है। जो आरोप छायावाद पर लगे उसी प्रकार के—बल्कि उससे भी अधिक कठोर आघात आज की कविता पर किये गये! निरंकुशता, अनियन्त्रण, अमर्यादा आदि शब्द नयी, कविता की आलोचना में प्रयुक्त हुए। इसके अतिरिक्त आज की नयी कविता के लिए कहा गया कि इसने परंपरा से विद्रोह किया है, छन्दों का बन्धन तोड़ा है और सामाजिक मूल्यों को ठुकराया है। इन सब आक्षेपों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि नयी कविता के सही मूल्याङ्कन के लिए हमें आज के युग की परिस्थितियों को सही संदर्भों में देखना होगा। कला की कोई भी कृति बिना सही संदर्भ या पर्सपेक्टिव के आँकी नहीं जा सकती, कविता के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है।

सेसिल डे-लुईस ने 'ए होप फॉर पोएट्री' में कवि की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

"एक कवि तब तक कुछ नहीं है, जब तक वह अपने वातावरण के प्रति जागरूक नहीं है। जब उसकी धमनियों में रक्त का संचार वेग से होता या उसके हृदय का स्पन्दन बढ़ जाता है तब यदि वह इस प्रतिक्रिया को अपने काव्य में नहीं उतारता तो आश्चर्य की बात होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य-स्रष्टा की प्रतिक्रियाएँ वातावरण-जन्य होती है। आज की नयी कविता को भी वातावरण ने ही प्रभावित किया है। नयी कविता पर किये गये आक्षेपों का कारण यही है कि आलोचकों ने वस्तुत. आज के युग की समस्याओं और विषमताओं को सामने नहीं रखा है।

यदि सच पूछा जाय तो कविता का जन्म कल्पना से हुआ। कविता के आरंभ में उसका आनन्द संबंध कल्पना से था, कल्पना का जादू ही कविता का रूप मान लिया गया। इसके बाद की स्थिति में ज्यों-ज्यों तर्क-भावना बढ़ी, कविता का रूप बदलता गया। परंतु आज का युग वस्तुतः विज्ञापन

और प्रचार का युग है। युग के इस शोर-शराबे में जहाँ कान वेधने वाले नारे हैं, आँखों को चकाचौंध करने वाली अखबारों की 'हेड-लाइन्स' हैं, लंबे-लंबे 'मेनीफेस्टोज' हैं, काफी-हाउस की गप-शप है, वहाँ कविता जैसी एकान्त-साधना का क्या महत्त्व हो सकता है परन्तु यदि कविता में वातावरण की सही प्रतिछाया उतरती है तो आज का युग भी चाव से उसे देखेगा। प्रतिबिम्ब में अपना रूप निहारने की इच्छा सभी को होती है, समाज और युग भी इस मनोवैज्ञानिक प्रकृति से अछूते नहीं हैं।

नयी-कविता में आज के युग की सही तस्वीर मिलती है। विज्ञान और विकास के युग में हमारे जीवन में रूढ़ि परंपराएँ अत्यन्त तेज़ी से टूट रही है, और यदि साहित्य के क्षेत्र में भी नये क्षितिज हमने उभारे है तो इसमे आश्चर्य की क्या बात ? इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान साहित्य पर हावी हो गया है वरन् तात्पर्य यह है कि प्राचीन कवि प्रकाश से परे जिस कल्पना-लोक की चर्चा करते थे वह भी 'स्पेस-ट्रेविल' और राकेट के रूप में युग-सत्य बन कर हमारे सामने है, तब फिर कविता के क्षेत्र में यदि नये प्रतीकों ने जन्म लिया है या नये बिम्ब सामने आ गये है तो स्वाभाविक ही है। नयी कविता के नये प्रतीकों मे जितनी व्यापकता है उतनी सभवत: हिन्दी-काव्य के किसी युग में नहीं रही। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता 'पोस्टर और आदमी', में युग का एक छोटा-सा चित्र देखें:—

लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के ज़माने मे
आदमी से ज्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से बडे सत्य है।

भारत-भूषण अग्रवाल की कविता 'कार्टूनों का जुलूस' मे आज के मशीन-युग का चित्र अंकित हुआ है, कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है:—

कनिश से पुते हुए चेहरों पर
रेडियो-एक्टिव धूल की पर्तें जमी बैठी हैं।
टाइप-राइटर की 'की' की तरह
सबके पैर बारी-बारी से उठते हैं
और फिर लौट कर तुरन्त बिखर जाते हैं।

नयी-कविता के सम्बन्ध में कुछ लोगों की धारणा यह है कि इसमें जड़ता और कुण्ठा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि जब समाज मे नैतिक-मूल्यों का ह्रास हो रहा है, पुराने मूल्यों का विघटन हम अपनी आँखो देख रहे हैं, न्याय का नक़ली चेहरा लगाकर अन्याय ताण्डव नर्तन कर रहा है तब फिर साहित्य-स्रष्टा के हृदय में क्षोभ और कुण्ठा का जाग्रत होना स्वाभाविक ही है। रमासिंह की कविता 'उपलब्धियों की ढेरी' मे इस युग की थोड़ी सी बानगी लीजिए—

युग की उपलब्धियों की इस ढेरी मे
टूटे-फूटे कनस्तर व डिब्बों जैसे
मुर्झाए हुए विश्वास,
मैले-कुचैले, जीर्ण-शीर्ण चिथड़ों-सा
विकृत स्वाभिमान
टूटी हुई बोतल से
टूटे हुए सपने
टूटे-फूटे बर्तन सरीखे
अर्धसत्य
ये ही सब लगा हुआ
रद्दी का अम्बार,
बेहद कूड़ा-कबाड़।

नयी-कविता वस्तुत. सत्य की खोज है, नये कवियों ने पलायन-वृत्ति को छोड़ कर जीवन की यथार्थता का सामना करना चाहा है; लक्ष्मीकांत वर्मा की 'पर्तों की आवाज़' रचना का एक अंश उद्धृत है:—

दवा मैंने इसलिए नहीं की क्योंकि जिंदगी मेरी अनिवार्यता है
अभिरुचि नहीं।

भोजन—मैं इसलिए नहीं खा सका क्योंकि जब-जब खाने बैठा कोई भूख
बनकर आया और ले गया।

व्यसन—जोंक को रक्त पिलाता रहा। अब वह भी नहीं रहा। आत्म
हत्या का इरादा।

किसी केमिस्ट ने पोटेशियम साइनाइड उधार नहीं दी।
कर्जे की अफीम भी परमिट बिना नहीं मिली।।

इन चित्रों में जीवन के खोखले पन का परिचय मिलता है। समझ में नहीं आता कि नयी कविता का यह यथार्थ-चित्रण कुछ लोगों को क्यों प्रभावित नहीं करता? केवल यक्ष की विरह कथा कहकर या ऋतु वर्णन में चमत्कार दिखाकर आज का साहित्यिक कैसे अपने भावोन्मेष को सीमित कर सकता है। बाह्य-परिस्थितियाँ और अन्तर की प्रतिक्रियाएँ जब हमारी धमनियाँ और शिराएँ झकझोर देती हैं तब हम कैसे नारी-सौंदर्य या विरह दर्शन या मिलन की मादकता के चित्रण में ही बँध सकते हैं। माना साहित्य का लक्ष्य है ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराना है, फिर भी जब युग का संगीत हमारी तन्त्री में झंकृत है तब हम उसी को ब्रह्मानन्द का सहोदर कैसे न मानें? हमें तो यही जीवन का अनहदनाद प्रतीत होता है। परन्तु इस संदर्भ में इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि जहां आज की कविता में कुण्ठा, निराशा या जड़ता है, वहाँ आज का कवि भविष्य के प्रति आश्वस्त भी है। उसके मन में अडिग विश्वास और आस्था का स्वर भी है। वह इस यथार्थ से संघर्ष करना चाहता है—जीवन की कुरूपता और विषमता को आज की नयी कविता ने चरम परिणति के रूप में नहीं स्वीकारा है। कुछ दृष्टान्त यों हैं :—

(१)

ये दधीची - हड्डियाँ
हर दाह में तप ले,

न जाने कौन दैवी आसुरी संघर्ष बाकी हो अभी
जिसमें तपायी हड्डियाँ मेरी यशस्वी हों,

—कुँअर नारायण

(२)

माटी को हक़ दो—वह भीजे, सरसे, फूटे, अँखुआये,
इन मेड़ों से लेकर उन मेड़ों तक छाये

और उठती ही जाये
यह दूब की पताका—
नये आनंद के लिए

—केदारनाथ सिंह

(३)

वे हैं रत्न मुकुट के, गर्वित हैं अतीत पर
वर्तमान भी उनका ही,—मन क्यों उलझाऊँ ?
मैं तो मिट्टी की पर्तों में दबा बीज हूँ—
मेरा ही भविष्य है, फिर मैं क्यों घबराऊँ ?

—श्री हरि

नयी-कविता वस्तुतः सर्वाङ्गीण जीवन की कविता है। यथार्थ और आदर्श, विषमता और समता, कुरूप और रूप इन सभी को नयी कविता में अंकित किया गया है। टी० एस० इलियट के शब्दों में एक कवि के लिए यह आवश्यक है कि "वह केवल सुन्दरता के संसार में ही अपने को सीमित न करे, वरन् रूप-कुरूप तथा निराशा और आशा सभी को देखे।" और नयी-कविता में जीवन की उभय स्थितियाँ चित्रित हुई हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आज का सामाजिक संस्कार और नयी कविता

नित्यानन्द तिवारी

आज की कविता में एक बात बड़ी स्पष्टता से देखी जा सकती है कि उसमें दर्द, पीड़ा, छटपटाहट, कुण्ठा, घुटन की बातें जो बहुत हद तक उसे बदनाम करने में सहायक हुई है, प्रयत्न करने पर भी आज का कवि उसे छोड नही पाता, बल्कि वह वहीं से शुरू करता है और यह एक ऐसी बात है, जिस पर शायद कुछ दूसरे ढंग से सोचा जा सके। सभी कवियों का स्वर लगता है जूझ रहा है, जूझते-जूझते कही टूटता, दरकता और फिर किसी कोने से उगने की लगातार चेष्टा कर रहा है। "उगना" शब्द आज की कविताओं-कहानियों मे बराबर मिल जायेगा और यह अकारण नहीं है। लगातार संघर्ष करते-करते जब किसी नयी दिशा की संभावना जान पड़ती है तब उस प्रस्फुटन के साथ उसके पिछले संघर्ष की श्रृंखला को यह "उगना" शब्द शायद सबसे अधिक व्यंजित कर पाता है। और यदि छटपटाहट घुटन, दर्द, कुण्ठा ये शब्द न भी आये तब भी उस मनःस्थिति का अनुभव आज का प्रत्येक कवि किन्हीं न किन्ही शब्दो के माध्यम से करता ही है, जिन्हे ये शब्द प्रकट करते थे। कहने का मतलब कि जीवन में जो एक भारी दबाव और संघर्ष की स्थिति आज है वह संपूर्णतः आज की कविता मे प्रतिबिम्बित हो रही है। वस्तुतः हमारा आज का समाज एक ऐसी जगह पर आ पहुँचा है जहाँ से उसके विकास की दिशा बहुत-कुछ नयी है। सामाजिक, आर्थिक वातावरण इत्यादि से सम्बद्ध बहुत-सी स्थितियां होती है...जिसके द्वारा

समाज की सामूहिक ईकाई का संस्कार निर्मित होता है। वह विशेष दृष्टि-बिंदु से जीवन को स्वीकार करता है। देखना यह है कि यह संस्कार हमारा किस प्रकार का रहा है जो हमारे पिछले तमाम चिन्तन-मनन और साहित्य को एक विशिष्ट रूप देता रहा है और आज वही संस्कार किस रूप मे निर्मित होकर किस जगह से हमारे साहित्य को दिशा-संकेत दे रहा है।

इतिहास मे बराबर दुहराया गया तथ्य कि भारत छः ऋतुओ और प्रकृति की अनेक मनोरमताओ से युक्त एक नितात समृद्ध देश रहा है। जिसमे जीविका के लिए और देशों के मुकाबले मे संघर्ष की अपेक्षा कम क्या नगण्य आवश्यकता थी। इस बात ने इस देश के समाज को बहुत हद तक परंपरावादी बनाया है, इस अर्थ में कि साधारण जीवन मे निरन्तर संघर्ष से व्यक्ति में जो एक तीखापन और अपनी स्थिति के प्रति एक सजगता आ जाती है, वह यहाँ के सामान्य जन समूह की व्यापक मनोवृत्ति न बन सकी। बहुत हद तक यही बात चिन्तन-पद्धति के सामान्य संस्कार का कारण होती है और इसीलिए यहाँ की चिन्ताधारा (साधारण मनुष्य की सामाजिक स्तर पर बराबर परंपरावादी बनी रही।) हमारी सर्वाङ्ग पूर्ण वर्ण व्यवस्था में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की धारणा ने एक व्यापक और सतुलित जीवन दृष्टिकोण की स्थापना की थी, जिसमे जीवन के प्रति गहरी निष्ठा थी और जब तक व्यक्ति को समाज में रहना होता था उसको समुचित आनंदोपभोग की पूरी स्वतंत्रता थी। फलतः सब कुछ को स्वीकार कर चलते रहने का एक ऐसा मौजी सामूहिक संस्कार यहाँ के जन-समाज मे आ गया, जिसने व्यापक सामाजिक स्तर पर प्रतिक्रियात्मक विचार-धाराओं को जड़ नही जमाने दिया। प्रतिक्रिया के रूप में यहाँ धर्म-दर्शन और साहित्य में भी कोई संप्रदाय नही उठा और यदि कोई उठा तो इस देश से वह लुप्त हो गया, उतना देने के बाद जितना कि वह विशिष्ट प्रकार का समाज उससे ले सकता था। बौद्ध और जैन धर्म जो मूलतः समाजिक स्तर पर प्रतिक्रिया के रूप मे उठे तो थे लेकिन उन्होंने पृथक स्वतंत्र दर्शन का रूप धारण कर लिया, इसलिए कि जो पिछली समाज व्यवस्था थी उसके सामने उस प्रकार का वे कोई दूसरा विकल्प नही दे पाये। यह

थी कि मूलतः इन्होंने जीवन को दुःख रूप मान लिया था जिसके लिए हिन्दुस्तान का भौतिक दृष्टि से संपन्न समाज शायद तैयार न हुआ। प्रारंभ से ही वर्ण व्यवस्था के विरोध में बराबर प्रयत्न होते रहे लेकिन थोड़ी देर तक यहाँ के जनसमूह को चौंकाने के बाद सामाजिक स्तर पर वे अपनी पृथक् सत्ता न रख सके। साहित्य के क्षेत्र में उदाहरण के लिए संत साहित्य को ले सकते हैं। संतों ने पिछली समाज व्यवस्था के प्रति बड़ा आक्रोश और असंतोष प्रकट किया। सामान्य मानवता की बातें कीं। जाति-पाँत छुआछूत का खण्डन किया। बातें बड़ी अच्छी थीं, सबने आदर भी दिया। लेकिन सवाल यह उठता है कि हमारे समाज ने कितने रूप में उसे स्वीकार कर उसके अनुसार आचरण किया। स्पष्ट देख सकते हैं, सूर-तुलसी के सामने कबीर भारतीय समाज में उतने सम्मानित कभी नहीं हो सके। मतलब कि मूल्यवान होते हुए भी उन बहुत-सी चीजों को हमारे समाज ने स्वीकार नहीं किया जो परम्परागत समाज व्यवस्था में "फिट" नहीं बैठती थीं। जिनका स्वरूप प्रतिक्रियात्मक था, विरोधी था और उनमें से कुछ चीजों को स्वीकार भी किया तो बस प्रभाव रूप में, अपने ढंग से। लेकिन धीरे-धीरे समाज जटिल होता गया। उसकी समस्याएँ नयी और भिन्न स्वभाव की होती गईं। और फिर अंग्रेजों का राज्य विस्तार भी कई दृष्टियों से इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण रहा। "महाभारतकाल के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्यकाल में दूसरी बार इतनी बड़ी क्रान्ति हुई जो सामाजिक संस्कार को मूल से बदलने में कारगर हुई।" (गिरिजा कुमार माथुर)। साथ ही हम स्पष्ट देख सकते हैं कि धीरे-धीरे जीने के साधन जुटाना कठिन होता गया, जिन्दगी संघर्षों में भरती गई और आज सामान्य आदमी और जिन्दगी की लड़ाई सबकी आँखों के सामने किस तरह की है बहुत खोलने की जरूरत नहीं। मानसिक स्तर पर भी अनेक विचारधाराओं और मतों का संघर्ष बराबर चल रहा है और इसलिए हर ओर से एक तनाव की स्थिति के बीच से आज का आदमी गुजर रहा है। जिसके लिए कम से कम हिन्दुस्तान का आदमी आज के पहले कभी आदी नहीं रहा है।

फलतः इस संघर्ष से पूरे देश के समाज के सामूहिक संस्कार की दिशा

बदल रही है। शायद बुद्ध और संतों की बातें आज इसलिए भी आकर्षण का कारण बन रही हों कि उनका स्वरूप प्रतिक्रियात्मक था। उनकी आत्मा बहुत कुछ आज की-सी थी। हर व्यक्ति आज एक संघर्ष के बीच उस तीखे-पन और व्यक्तित्व की सजगता को भीतर ही भीतर महसूस कर रहा है, जिसके लिए वह कभी अभ्यस्त नहीं रहा है। आज वह अधिक प्रतिक्रिया-त्मक और नये प्राप्त मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए ज्यादा छटपटा रहा है। अपेक्षाकृत सब कुछ स्वीकार कर यों ही चलते रहने के। शहरों की बात अलग, गाँवों तक मे इस बात को हम बड़ी आसानी से देख सकते है, बशर्ते कि पूर्वाग्रह मुक्त होकर हम वास्तविकता को पकड़ने की कोशिश करें। आज का हर व्यक्ति सामाजिक स्तर पर इस पीडा को अनुभव तो कर रहा है लेकिन उसके प्रति उतना ही सचेत नही हुआ है, उसके स्वरूप को पूरी तरह समझ नही पाया है। इसीलिए अपने ही बीच उपजी परिस्थितियो को खुले गले से स्वीकार करने मे कठिनाई हो रही है। नयी कविता इन परिस्थितियों को पूरी तरह हृदयंगम कर उसे व्यक्त करने की चेष्टा कर रही है। फलतः जब भी यह सवाल उठाया जाता है कि नयी कविता आज के मनुष्य की, सामान्य जन समाज की पीडा को उसके दु:ख-सुख को नहीं व्यक्त कर रही है, वह व्यक्तिगत कुंठा और निराशा ही थोप रही है, तो यह बात मेरी समझ मे बहुत सीमा तक नहीं आती। यह तो सारे युग का सारे देश का संस्कार है। इसे पूरी तरह अनुभव करके कितने कवि व्यक्त कर रहे है, फिर यह दूसरी बात है। हर समय कविता मे कुछ ऐसे टकसाली शब्द बन जाते है जिनके सहारे बहुत-सा साहित्य सृजित किया जाता है, जो उसे और कुछ नही तो कम से कम बदनाम करने मे सहायक तो होते ही है।

सामान्य समाज के इस मूल संस्कार के बदलने से वे तमाम चेतना के स्तर जिन पर हमारे सारे पिछले चिन्तन मनन आधारित थे, अपने आप बदलेंगे और इसलिए उन तमाम चीजो के प्रति मोह हमें छोड़ना होगा जिन्हें हम शाश्वत मान कर पूजते आ रहे थे। फलतः हर युग की कविता या साहित्य की व्याख्या के लिए हमे तदनुकूल मान दण्डों का ही निर्माण

करना पड़ेगा। छायावाद को ही लीजिए। रस-सिद्धान्त के द्वारा छायावादी कविताओं की कितनी पूर्ण व्याख्या हो सकेगी या फिर छायावादी कविताओं के मूल्यांकन के लिए जो मान दण्ड अपनाया जाय उस पर प्रगतिवादी साहित्य को कसने मे हमें क्या हाथ लगेगा। एक बात यह कि आधुनिक युग का साहित्य लगभग एक दूसरे की प्रतिक्रिया के रूप मे उठ खड़ा हुआ है। मात्र शिल्प के स्तर पर ही नही बल्कि उनकी मूल स्पिरिट भी बहुत कुछ भिन्न रही है। द्विवेदी युगीन नव जागरण और सांस्कृतिक चेतना से भरी हुई सीधी-सादी सामाजिक कविताओं के बाद एकाएक छायावाद का नये शिल्प मे युक्त भिन्न आत्म केन्द्रित स्वर कैसे आ गया? और फिर अनगढ़ और छिछली सामाजिकता से युक्त प्रगतिवाद भी बहुत कुछ उसकी प्रतिक्रिया मे ही उठा। इस प्रकार हमारी सामान्य चेतना का यह प्रतिक्रियात्मक स्वरूप मनोवैज्ञानिक धरातल पर कम से कम इस बात को साबित तो करता ही है कि हम ज्यादा जागरूक और किसी चीज को यों ही ढोते चलने की आदत छोड़ते आ रहे है और नयी बात जिसे हमे कहनी है उसके प्रति ज्यादा साहसी बनते जा रहे है। इसीलिए आलोचकों द्वारा बराबर साहित्य न मानते रहने पर भी कविताएँ अपने ढंग से लिखी ही जाती रही। और यह तथ्य एक बड़ी बात है कि आधुनिक युग के पहले इस प्रकार के फतवे इतने जोर से कभी भी साहित्य या कविता के लिये नही दिये गये हैं कि वह साहित्य ही नहीं है और ऐसी बात तब तक नहीं कही जा सकती जब तक उनकी मूल आत्मा मे कोई बड़ी भिन्नता न हो। नयी कविता और आज की तमाम साहित्यिक विधाएँ एक ऐसे स्वर को व्यंजित करने लगी है जो पिछले साहित्यो से भिन्न है, कम से कम उसकी भिन्नता आज ज्यादा स्पष्ट हो गयी है। फलतः कुछ वरिष्ठ पत्रिकाओं के सम्पादकीय इसे रोकने के लिए ही लिखे जाते रहे हो तो हमे आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

यह एक विचित्र तथ्य है कि नाटकों में शायद उनके जीवन के व्यावहारिक पक्ष के अधिक निकट होने के कारण हम इस संघर्षात्मक संस्कार को स्वीकार कर चुके हैं, जिससे उनके मूल्यांकन के सभी अंग नवीनतम है

और कविता के लिए हम अब भी अपने वे ही ढाँचे लिये खड़े हैं और उन पर किसी टीका-टिप्पणी को सहन करने की बात तो अलग, दूसरे विकल्पों को अनर्गल तक मान लेने में नहीं हिचकते।

नयी कविता के सम्बन्ध में यह बहुत कहा जाता है कि वह पश्चिम का अनुकरण है, इसमें भारतीय आत्मा की हत्या हो रही है। ये उधार ली गयी अनुभूतियाँ हैं। वस्तुतः ये बातें अकारण नहीं हैं। कुछ ऐसा जरूर है जो पश्चिम से मेल खा जाता है, मात्र अभिव्यंजना के स्तर पर ही नहीं बल्कि मूल उत्स के रूप में भी। पश्चिम के देशों के समाज का सामूहिक संस्कार संघर्षात्मक रहा है। व्यक्तित्व के तीखेपन और अपेक्षाकृत अधिक आत्म सजगता ने वहाँ के हर व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर प्रतिक्रियात्मक बनाया है। वहाँ के दर्शन और साहित्य में प्रतिक्रियात्मकता बराबर दिखाई पड़ेगी। इस प्रकार भारत और पश्चिम के देश इस धरातल पर बहुत कुछ एक हो रहे हैं, फिर उनका साहित्यिक स्वर भी मिले तो यह स्वाभाविक है, उसका न मिलना ही अस्वाभाविक होता। फिर फर्क मात्र इनके व्यवहार का हो सकता है। इस अर्थ में नयी कविता पर जो यह दोष लगाया जाता है वह उसकी अनिवार्यता है।

देश के इस बदलते सामूहिक संस्कार ने साहित्य और कला के सृजनात्मक धरातल पर कुछ मौलिक प्रश्नों को उठाया है। मौलिक इस अर्थ में कि जीवन के प्रति अपनी पिछली परम्परा से भिन्न दृष्टिकोण अपनाने के कारण अपने विभिन्न सम्बन्धों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया मूलतः भिन्न स्वाभावा हो गयी है। कदाचित् यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं होगी कि दृष्टिकोण की यह भिन्नता उधार ली गयी नहीं है वरन् वह आज के समाज में विकसित विभिन्न परिस्थितियों के दबाव की अनिवार्यता के फलस्वरूप है। वस्तुतः सृजनात्मक धरातल पर यह बात उतनी बड़ी नहीं है कि हम कितना साफ कह रहे हैं। शायद यह बात ज्यादा महत्वपूर्ण है कि हम कितना सार्थक कह रहे हैं और सार्थकता के साथ सच्चाई के पूर्ण निर्वाह का जो नैतिक दायित्व आ जाता है वह "हाँ" "नहीं" की अभिधा द्वारा स्वीकार अस्वीकार नहीं करने देता। सृजन प्रक्रिया में विभिन्न परिस्थियों को धीरे-धीरे

हम अनुभव के आधार पर जानते चलते हैं और तब बाद में आकर उसका स्वरूप स्पष्ट सामने आ पाता है। आज वातावरण में तनाव के साथ हमारे मनोभावों में भी एक तनाव पैदा होता जा रहा है और वे किसी दूसरी ओर अभिमुख होते हुए से प्रतीत हो रहे है जिन्हें रेखा खींच कर अलग कर पाना न संभव ही है और न बहुत उचित ही। किन्तु अनुभूतियो को ग्रहण करने का हमारी चेतना का स्तर कुछ नया-सा अवश्य जान पड़ता है। एक कविता है—

एक घुंघरू नृत्य की गति से
छिटक कर
कहीं गहरे पंक में फँस गया।
मुखरता के लिये
पंकिल मौन का अनुभव विषम
था नया।

खुले होठो में
वही थी मधुर स्वर सामर्थ्य
पर संगीत विजड़ित रूद्ध,
अजब अपनापा लगा मुझको
कि सारी विवशता के बीच
केवल दर्द का एहसास होता रहा
आयी नहीं मन में दया।

—जगदीश गुप्त

दया की जगह दर्द का अनुभव होना मूलतः दो मनःस्थितियाँ हैं। दया बेचारे पर आती है, जिसमें हम अपनी पृथकता कायम रख सकें। और दर्द अपने भीतर महसूस किया जाता है। अलगाव में जिसकी स्थिति ही संभव नहीं। अनुभूतियो को ग्रहण करने की इस धरातल की भिन्नता अब काफी स्पष्ट होने लगी है और मनोभावों का यह अन्तर जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण में मौलिक भिन्नता के बिना कदाचित् नहीं आ सकता। इस बात ने सैद्धान्तिक स्तर पर आज की कविता की व्याख्या के लिए सौंदर्य

बोध के नय आयामों के स्वीकरण की माग की है। सौंदर्य में वस्तु का सादृश्य बोध अब तक प्राथमिक और कदाचित् सर्व प्रमुख परिचालक तत्व रहा है। रूप के साथ सभी अगों की अनुपातता और संगति उसकी मनोहरता का कारण बनती है और इस प्रकार आज के पहले सौन्दर्यानुभूति एक संपूर्ण रूपाकार मे प्रतिफलित होती थी। आज वस्तु को आन्तरिकता पर अधिक बल देने के कारण उसका सौन्दर्य के लिये कदाचित् अधिक महत्वपूर्ण और प्राथमिक हो उठा है और इसीलिए आज की सौन्दर्यानुभूति पहले-सी हर अंगों मे पूर्ण संभवत: न लग सके। वह जगह-जगह टूटी भी लग सकती है जिसका कारण शायद यही है कि उस का प्रवाह अत्यन्त आत्मीय स्तर पर हम बराबर एक निरन्तरता मे अनुभव करते रहे। किन्तु इस गति मे पूर्णता की वह स्थिति नही आ पाती जिसके लिये हम आदी रहे है। आज इस गति की निरन्तरता ही उस पूर्णता का प्रतिनिधित्व कर रही है, जहाँ सौन्दर्यनुभूति सार्थक रूप ग्रहण कर पाती है। इस प्रकार आज के समाज के सामूहिक सस्कार ने उन भिन्न स्थितियो को पैदा कर दिया है, जहाँ मौलिक रूप से हम सब कुछ पर फिर से विचार करने के लिए बाध्य हैं, शायद जिसके लिये आसानी से हम तैयार होना नही चाहते।

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी के कवि जब परिपाटीविहित और रूढिग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओ के कल्पित ऐश्वर्य और विलास मे डूबे हुए थे, ऐसे ही समय मे हिन्दी काव्याकाश मे भारतेन्दु का उदय हुआ। काव्य के क्षेत्र मे उन्होने भी बहुत बड़ी हद तक परम्परा अथवा मध्ययुगीन प्रवृत्तियो और शैलियो का पोषण किया, किन्तु उदात्त रूप मे। वास्तव मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रारम्भिक जीवन की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं, कि परम्परा-गत काव्य-धारा से एकदम विमुख हो जाना उनके लिए संभव नही था। एक तो स्वयं उनके पिता ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि थे। इसके अतिरिक्त वे काशी मे सेवक, सरदार, हनुमान, नारायण, द्विज, कवि मन्ना लाल आदि ब्रजभाषा के उच्चकोटि के कवियों के सम्पर्क मे आये। इसलिए यदि उन्होंने परम्परा के निर्वाह मे योग दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

परन्तु इस समय हिन्दी के कवि पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आ गये थे और उनका ध्यान प्राचीन काव्य परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारो तरफ की दुनिया की ओर भी जाने लगा था। कई शताब्दियो के बाद पहली बार हिन्दी कवि अपनी पुरानी संपदा छोड़ कर आगे बढा। उसका हृदय नवोदित राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आंदोलनो के फलस्वरूप उत्पन्न विचारो से आदोलित हो उठा। चारो ओर

सुधार और प्रगति की आवाज सुनाई देने लगी और सुहृद समाज को ब्रज-भाषा साहित्य का (शृंगारपूर्ण) आदर्श खटकने लगा। कवियों ने जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित अनीतियों और अनाचारों, कुरीतियों और कुप्रथाओं आदि का प्रचार देखा जिनसे देश की सामूहिक भलाई होने की कोई आशा नहीं थी। उनमें विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ और वे भारत की स्वाधीनता का स्वप्न देखने लगे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ऐसे ही आदर्श देश-भक्त कवि थे। उन्होंने देश-भक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्वार, स्वतंत्रता आदि की वाणी सुनाई, अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया।

(१) **मध्ययुगानुरूप काव्य**, भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ—

'भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर,
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।।'

अपने भक्त-हृदय की प्रतीक उपर्युक्त पंक्तियों का निर्माण करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परम्परानुरूप रचनाओं के अन्तर्गत उनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं का प्रधान और प्रमुख स्थान है। व्यक्तिगत रूप से वे बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। 'होली' 'रागसंग्रह', 'वर्षा-विनोद' 'विनय-प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-भक्ति' आदि अनेक ऐसी रचनाएं मिलती हैं जो उन्हें अनन्य वैष्णव सिद्ध करती हैं। वास्तव में वैष्णव धर्म (बल्लभी) उनका कुल धर्म था, यह उनकी जीवनी से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है। वे स्वयं गोस्वामी जी गिरधर जी महाराज की सुपुत्री तथा गोपाल मन्दिर की अधिष्ठात्री श्यामा बेटी जी के शिष्य थे। वे युगल मूर्ति के उपासक थे—

"सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के—
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के।"

वे मायावाद, वेदान्त, कर्मकाण्ड आदि के विरोधी थे। उदाहरणार्थ, अद्वैत के सम्बन्ध में उनका कहना है —

"जो पै सबै ब्रह्म ही होय।
तो तुम जोरू जननी मानो एक भाव सों सोय।।

ब्रह्म-ब्रह्म कहि काज न सरतो वृथा मरौ क्यों रोय ।
'हरीचन्द' इन बातन सों नहिं ब्रह्महि पैहो कोय ॥"

वास्तव में भक्ति के क्षेत्र मे वे ज्ञान-मार्ग के नही, प्रेम-मार्ग के अनुयायी थे, उन्होंने प्रेमा या रामानुग-भक्ति अपनायी । उनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में विनय, बाल-लीला, प्रेम-सम्बन्धी, सख्यभाव सम्बन्धी सभी प्रकार के पद मिलते है । यहाँ तक कि उन्होंने पुष्टि मार्ग की मूल राधारानी के बाल्य-काल सम्बन्धी आदि सभी प्रकार के पदों की सृष्टि की है । राधा-कृष्ण के प्रेम, मान और विरह, उद्धव-गोपी संवाद, विरह के अन्तर्गत मानी जाने वाली दशाओं, माया मोह इष्टदेव पर विश्वास, अपनी दीनता हीनता आदि अनेक विषय ग्रहण कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने हृदय की सरलता और तन्मयता प्रगट की थी । उनके भक्ति-सम्बन्धी अधिकतर पदो मे गीति कला के लगभग सभी तत्व पाये जाते है और इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी की एक महान् परम्परा के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते है । इतना ही नही, उन्होंने अपनी गीति-पद्धति को जन-गीतो के समीप ला बिठाया । 'नीलदेवी' के 'सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन' और प्यारी बिन कटत न कारी रैन' जैसे गीतो मे वैयक्तिकता की पूर्ण अभिव्यंजना है जो उनके गीतों को नूतनता प्रदान करती है । पदो के अतिरिक्त, होली, ठुमरी सोरठा तथा उर्दू की कविताओं में भी अनन्य भक्ति भावना-व्यक्त हुई है ।

भारतेन्दु की भक्ति पुष्टि मार्गीय भक्ति है । उनकी कविताओ मे एक ओर दीनता और हीनता है, दूसरी ओर उपालंभ और अक्खड़पन । वे भगवान की कृपा के आकांक्षी है । नीचे की पंक्तियो मे दाम्पत्य भाव और विरहोन्माद प्रगट किया है—

'मगल भयो भोर सुख निरखत
मिटे सकल निसि दाग ॥
'हरीचंद' आओ गर लागो
साँचो करो सुहाग ॥'

वैष्णव होने के कारण उन्होंने साम्प्रदायिक वैष्णव गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और राधा-कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य

देवी-देवता की आराधना नहीं की तदीय समाज की स्थापना भी उन्हो अनन्य वैष्णव होने के नाते ही की थी।

भारतेन्दु की भक्ति में दो बातें ऐसी विशेष पाई जाती है जो उन साम्प्रदायिकता के बंधन से अलगकर सच्चे मानव और भक्त के रूप मे प्रतिष्ठित करती है। इस रूप मे भारतेन्दु के स्वर मे कबीर, सूर, तुलसी मीरा, रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि सबका स्वर प्रतिध्वनित होता है उदाहरणार्थ, कबीर की भाँति ही तो उन्होंने कहा है—

'साँझ सबेरे पंछी सब क्या
कहते है कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे
यह दिन चार बसेरा है॥'

या लावानियों मे कहीं-कही सूफियों का-सा स्वर सुनाई देता है। इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि उन्होंने सब नियमों और बन्धनो, शास्त्र-मर्यादा आदि से भी अधिक महत्व दिया है प्रेम को। वास्तव मे उनका साम्प्रदायिक रूप प्रेम की व्यापक एवं विशाल भित्ति पर आधारित है और इसीलिए वह रस मे विष घोलने वाला सिद्ध नही हुआ। प्रेमाभक्ति की प्रधानता के अतिरिक्त विनय, वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि भक्ति-भाव विषयक रचनाओं का भी भारतेन्दु-साहित्य मे अभाव नहीं है। उन्होंने भारतीय कृष्ण परम्परा को भली भाँति समझा और उसका सार तत्व हृदयंगम किया। 'भीष्म तवराज' 'वेणु गीत,' और 'गीत गोविन्दानंद' मे इसी परम्परा की प्रतिच्छवि मिलेगी। अपनी भक्ति को उन्होंने कोई आवरण नही पहनाया। उनकी रूप लालसा, अनन्यता, विदग्धता, अन्तर्लीनता और अनुभूति, मधुर स्वर धारण कर मुखरित हो उठी है। कृष्ण-परम्परा के वे एक सरल-हृदय गायक थे। और केवल अपने ही लिए नहीं, वरन् देश की पीडित जनता के लिए भी उन्होंने कृष्ण का आह्वान किया। सच तो यह है कि एक विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हुए भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र साम्प्रदायिकता मे विश्वास नही रखते थे। कृष्ण के भक्त होते हुए भी वे सभी धर्मो के प्रति व्यापक और उदार दृष्टिकोण रखते थे।

अपने ही धर्म को सब कुछ और संसार में उसे ही सर्वोपरि समझने वाली संकुचित मनोवृत्ति और अंध विश्वास के पाश से वे मुक्त थे—

'नाहि ईश्वरता अँटकी बेद में।
तुम तो अगत अनादि अगोचर सो कैसे मतभेद में।'

×

'पियारो पैये केवल प्रेम मे।'

यही उनकी दूसरी विशेषता है। यह उनके प्रेममय व्यक्तित्व का सर्वोत्कृष्ट रूप है। हिंदी नवोत्थान के प्रतीक और नवयुग के संदेशवाहक भारतेन्दु हरिचन्द्र का यही सच्चा स्वरूप है। अपना अस्तित्व पहिचानते हुए भी वे समस्त विश्व को अपनी बाहो मे भरे हुए थे। राजनीति के दलदल से बाहर मनुष्यता के नाते उनमे इस्लाम, ईसाइयत या अन्य किसी मत से किसी प्रकार भी धार्मिक विद्वेष नही था। भारतीय होने के नाते उनसे यही आशा भी थी।

(२) रीति-शैली की रचनाएँ—

भारतेन्दु की भक्ति सम्बन्धी-रचनाओ के बाद उनकी रीति-शैली की रचनाओ का स्थान है। दोनों प्रकार की रचनाओ का स्थान है। दोनो प्रकार की रचनाओ का द्वारा उन्होंने मध्ययुग से अपना सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। अनन्य भक्त होने के साथ ही साथ वे अनन्य रसिक भी थे। रसिकता तो उनके रोम-रोम मे बसी हुई थी। यह उनके हृदय की रसात्मकता ही थी जो एक ओर उन्हे भक्ति और दूसरी ओर रीतिकालीन रचनाओं की ओर ले गयी। उनकी अनेक रचनाएँ तो ऐसी हैं जो प्रत्यक्षतः रीति-शैली के अन्तर्गत शृंगारिक रचनाएँ प्रतीत होती है। किंतु वास्तव मे वे भक्ति के अन्तर्गत शृंगारिक रचनाएँ हैं प्रतीकात्मक अर्थ अन्तर्निहित रहता है। 'होली,' 'मधु-मुकुल,' 'प्रेम-फुलवारी' आदि ग्रन्थों के समर्पण भी इसी ओर संकेत करते हैं। उनकी ऐसी रचनाओ मे शृंगार का आधार होते हुए भी व्यंजना भक्तिमय है। उनकी रीति शैली की रचनाओ को हम निश्चित रूप से प्राचीन रीतिकालीन कवियो का काव्य, परम्परा के अन्त-

गंत रख सकते हैं स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न ने ब्रजभाषा की महिमा का गान करते समय कहा है—

> 'केशव अरु मतिराम बिहारी देव अनूपम ।
> हरिश्चन्द्र से जासु फूल कुसुमित-रसाल द्रुम ।।'

उनके इस कथन का तात्पर्य यही है कि भारतेंदु हरिश्चन्द्र रीतिकाल के बड़े-बड़े कवियो की परम्परा मे थे । उनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाओ पर यदि कबीर, सूर, तुलसी, मीरा रसखान आदि का प्रभाव है, तो रीति-शैली की रचनाओं पर देव, घनानंद, ठाकुर, बोधा, हठी, पद्माकर आदि कवियो का प्रभाव मिलता है—विशेषत: घनानंद, आलम, ठाकुर आदि कवियो का । इन कवियों की भाँति भारतेन्दु हरिश्चंद्र की रचनाओ मे प्रेम की स्वच्छन्दता है, नूतनता और आतरिक भावनाओ की अभिव्यञ्जना है, न कि भाषा के साथ खिलवाड । यद्यपि भारतेन्दु की रचनाओ मे राधा-कृष्ण तथा सामान्य नायक नयिकाओ की केलि-क्रीडा पर आधारित सयोग और वियोग पक्ष, अथवा नायिका भेद आदि का वर्णन हुआ है । खण्डिता नायिका का एक उदाहरण लीजिए—

> 'श्याम पियारे आज हमारे
> भोरहि क्यो पगु धारे ।
> बिनु मादक ही आज कहो
> क्यो घूमत नैन तुम्हारे ।'

वास्तव मे भारतेन्दु हरिश्चद्र आचार्य-कवियो की परम्परा में न होकर केवल प्रेम की परिपाटी ग्रहण करने वाले रसिक कवियो की परम्परा मे थे । भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने आचार्य कवियो का अनुसरण नही किया । उनकी रीति शैली की रचनाओ मे उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार के स्थान पर रसानुभूति की प्रधानता है । रीतिकालीन ऊहात्मकता की प्रवृत्ति भी भारतेन्दु मे नही मिलती—

> 'एक ही गाँव मे बास सदा घर पास इहो नहि जानती है ।
> पुनि पाँचये सातये आवत जात की आस न चित्त मे आनती हैं ।
> हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिश्चन्द, महा हठ ठानती है ।

पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अखियां दुखियां नहीं मानती हैं

शृंगार के अन्तर्गत वियोग-पक्ष का लगभग सभी रीतिकालीन कवियों ने वर्णन किया है। किन्तु उनके विरह-वर्णन में नैसर्गिकता के स्थान पर नायिका के साथ खिलवाड़ किया गया मिलता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व्रज-भाषा काव्य-परम्परा में अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनके 'प्रेम माधुरी' 'राग-सग्रह,' 'वर्षा-विनोद' आदि काव्य ग्रन्थों में विरह-व्यथा का विशद वर्णन है। एक स्थान पर मान का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है—

'दौरि उठे प्यारी गर लावै गिरधारी किन
ऐसे पियहूं सों किन बोलै कलबादिनी।
देखु 'हरिचन्द' ठीक दुपहर नेरे हेतु
आयो चलि दूर सों पियारो री प्रमादिनी॥'

इसी प्रकार वियोग के अन्तर्गत प्रवास और विरह की दस दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मरण—के भी अत्यन्त कौशल के साथ चित्र चित्रित किये गये हैं।

वियोग-पक्ष के साथ-साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रीति-शैली की कविता में संयोग-पक्ष की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। शृंगार संयोग में ही प्रतिफलित होता है। काव्य-परम्परा के अनुसार श्रवण, गुण-कीर्तन आदि की गणना संयोग शृंगार के अन्तर्गत की जाती है। प्रथम भेंट का सुन्दर वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

'जा दिन लाल बजावत वेनु अचानक आय कढ़े मम द्वारे।
हौं रही ठाढ़ी अटा अपने लखि कै हँसि मो तन नन्द दुलारे॥
लाजि कै भाजि गई हरिचन्द हौं भौन के भीतर भीति के मारे।
ताही दिना ते चवाइनहूँ मिलि हाय चवाय कै चौचन्द पारे॥'

शृंगार के अन्तर्गत उद्दीपन के रूप में षट्ऋतुओं, हिंडोला, जल-क्रीड़ा, फाग, बन-विहार आदि का वर्णन किया जाता है। साथ ही शृंगार के अंग के रूप में नख-शिख-वर्णन की परम्परा भी पायी जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने परम्परानुसार विविध उद्दीपनों और नख-शिख के वर्णन में

चमत्कार प्रदर्शन किया है यद्यपि रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने अतिपूर्ण वर्णन नहीं किए। जो उद्दीपन संयोगावस्था में रति उत्पन्न करते है, वे ही वियोगावस्था में दुखदायी हो जाते हैं। वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

'कूकै लगी कोइलै कदम्बन पै बैठि फेरि
धोये धोये पात हिल मिल सरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि
देखि के सजोगी जन हिय हरसै लगे॥
हरी भई भूमि सीरे पवन चलन लागी
लखि 'हरिचंद' फेर प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि-झूमि बरषा की ऋतु आई
फेरि बादर निगौरे झुकि-झुकि बरसै लगे।'

नायिकाओं के अठाइस सात्विक अलंकार कहे गये है, जिनमे भाव, हाव, और हेला, अगज कहलाते है। 'हाव' का एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

'नव कुंजन बैठे पिया नंदलाल जू जानत है सब कोककला।
दिन मैं तहाँ दूती भुराय कै लाई महा छवि-धाम नई अबला।
जब धाय गही 'हरि चंद' पिया तब बोली अजू तुम मोहिं छला।
मोहिं लाज लगै बलि पाँव परौ दिन हीं हहा ऐसी न कीजै लला॥'

(३) प्राचीन परम्परा के अनुसार अन्य रचनाएँ—

रीति शैली की प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने समस्या-पूर्ति में भी अपनी रुचि प्रदर्शित की। समस्या-पूर्ति मे रचना-चातुर्य और उक्ति-वैचित्र्य को स्थान दिया जाता है। उसमे कवियो को संक्षेप मे सूझ प्रकट कर देनी पड़ती है। समस्या पूर्ति काव्य-कला के प्राचीन आदर्श के अनुसार है जिसमे दक्षता प्राप्त करने के लिये प्रतिभा, नैपुण्य, अभ्यास आदि की आवश्यकता पड़ती है और जिसमे सुहृदजनो का मनोविनोद होता है और कवियों मे प्रतियोगिता की भावना बढ़ती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आशु कवि तो थे ही। साथ ही उस समय काशी में अनेक प्राचीन कवि और कवि समाज थे। भारतेन्दु की समस्या-पूर्तियों में केवल चमत्कार ही नहीं, वरन् उनके हृदय की सरसता भी पाई जाती है। एक समस्या है—'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।'

'यह संग मैं लागियै डोलै सदा बिना देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै 'हरिचन्द' तौ चाल प्रलै की सुठानती हैं॥
बरुनी मे न झपैं उझपैं पल मै न समाइबो जानती है।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखिया दुखियाँ नहिं मानती है॥'

समस्या पूर्ति की भाँति भारतेन्दु द्वारा लिखित मुकरियों मे भी परम्परा का पालन हुआ है। अमीर खुसरो ने पहले-पहल मुकरियो की रचना की थी। भारतेन्दु ने अपनी मुकरियो द्वारा राजनीतिक, शासन-सम्बन्धी, शिक्षा-सम्बन्धी आदि समस्याओं पर मार्मिक चोट की है। उन्होंने एक प्राचीन काव्य-रूप के लिए नवीन विषय चुने। 'नये जमाने की मुकरी' नाम से उनकी मुकरियाँ सभा द्वारा प्रकाशित काव्य-संग्रह मे संगृहीत है—

'सब गुरजन को बुरो बतावै!
अपनी खिचड़ी अलग पकावै॥
भीतर तत्व न झूठी तेजी,
क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेजी॥

समस्या-पूर्ति और मुकरियो के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बहुत कुछ मध्ययुगीन परम्परानुसार अन्तर्लापिका, फूल बुझौवल, चतुरंग आदि की भी रचना की जिनमे उनका पाण्डित्य और शब्द-कौशल प्रकट होता है।

(४) नवीनोन्मुखी रचनाएँ—

भारतीय इतिहास के जिस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जन्म ग्रहण किया उस समय देश प्राचीन से नवीन मे पदार्पण कर रहा था। इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान जहाँ एक ओर परम्परागत मध्ययुगीन साहित्य की ओर, उसकी भावधारा और उसके उपादानो की ओर गया और

उन्होंने मौलिक उद्भावनाओं को जन्म दिया वहाँ देश की नव जागृति जीवन आकांक्षाओं और नवीन चेतना की ओर भी ध्यान गया और उन्होंने साहित्य को लोक-जीवन के समीप लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने अपने देश के जीवन को देखा और समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के प्राचीन और नवीन रूपों पर गंभीरतापूर्वक विचार कर उसके उज्ज्वल भविष्य निर्माण की चेष्टा की। भारत के प्राचीन गौरव और वीर कृत्यों को यादकर उनका देश-प्रेम उमड़ पड़ता था। जो भारत सारी पृथ्वी का शिरोमणि था, जो लोग किसी समय जगन्मान्य थे, उन्हीं की दुर्दशा देखकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अत्यन्त क्षोभ होता था—

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा देखी न जाई॥'......

'भारत-भिक्षा' 'भारत-वीरत्व' आदि में उन्होंने भारत के चारों ओर छाये हुए अँधियारे का वर्णन किया है और 'वर्षा-विनोद' 'प्रबोधिनी' 'मान-सोपायन' आदि ग्रंथों में पतन के कारणों में से फूट, विदेशी आक्रमण-कारियों के घातक प्रभाव, राजनीतिक अस्तव्यस्तता, धार्मिक अनाचार एवं अत्याचार आदि का उल्लेख किया है। मुसलमानी राज्य की अपेक्षा उन्होंने अंग्रेजी शासन कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रत्यक्षतः सुख-शांति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों से सुखोपभोग वैध शासन, सुन्दर न्याय पद्धति, नव्य शिक्षा आदि के कारण उन्होंने अंग्रेजी राज्य के गुण गाये—

'बृटिश सुशासित भूमि मे आनन्द उमगे जात'

किन्तु साथ ही उन्होंने वर्णभेद आर्थिक शोषण, कर आदि के रूप में बरती गयी अहितकारी सरकारी नीतियों का विरोध किया—

'अंग्रेज राज सुख साज सबै सुख भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री।

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सरकारी निरंकुशता का बराबर विरोध किया और इसीलिए वे सरकार के कोप-भाजन बने किन्तु जहाँ उन्होंने सरकारी अनीतियों का विरोध किया, वहाँ आलसी, निरुद्यम, कलह प्रिय और पतनोन्मुख देशवासियों को जीवन की चौमुखी उन्नति का संदेश सुनाया। वे चाहते थे कि भारतवासी विद्या, उद्योग-धन्धों, राजनीति, समाज, धर्म सभी क्षेत्रों मे उन्नति पथगामी बनें, वह भी उस समय जब कि वे पश्चिम की एक जीवित जाति के सम्पर्क मे आ चुके थे। सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों और कुप्रथाओं को वे एकदम मिटा देना चाहते थ। किन्तु इस सम्बन्ध मे वे न तो पश्चिम के अन्धानुकरण के पक्षपाती थे और न परम्परा की अन्ध-भक्ति के। वे परम्परागत सनातन धर्म मे ही काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार करने के पक्ष पाती थे। वे प्राचीन के प्रति मोह करने वाले और नवीनता का दम भरने वाले दोनो प्रकार के उग्रवादियो से सहमत न थे। सच्चे भारतीयत्व और हिंदू धर्म की पुनर्स्थापना ही उनका मुख्य ध्येय था। हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति की ओर उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का मूलाधार 'हिंदी भाषा की उन्नति' पर व्याख्यान ही है। जब तक यह व्याख्यान व्यावहारिक रूप में परिणत न होगा तब तक देश की प्रगति भी न हो सकेगी। क्योंकि भाषा ही सब प्रकार की उन्नति का मूल है। अंत मे उनका भारतवासियो के प्रति यही उद्बोधन है कि —

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ।।

रस :—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काव्य रचनाओ मे दो रसो की प्रधानता पाई जाती है—शृंगार और शांत। वे ईश्वरानुरागी, धर्मानुरागी और रसिक व्यक्ति थे। भक्ति के आवेश मे उन्होने प्रेम रस से सराबोर कविताओं की रचना

की और राधाकृष्ण की प्रेम मयी लीला सम्बन्धी वर्णन प्रस्तुत किये। इ
प्रकार की भक्ति-परक रचनाओं में शृंगार रस की निष्पत्ति मिलती है। कि
यह शृंगार लौकिक प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी अलौकिक है, औ
वह मीरा और सूर के शृंगार की कोटि में रखा जा सकता है। प्रेम-मार्ग
की स्थापना और प्रेमा-भक्ति की अभिव्यक्ति से उनकी केवल कविता-शक्ति
का परिचय ही प्राप्त नहीं होता, वरन् उनसे जीवों को शुद्ध और पवित्र
प्रेम-मार्ग में प्रवृत्त होने का प्रोत्साहन मिलता है। 'प्रेमप्रलाप' का एक
उदाहरण लीजिए—

'पिय तोहि राखौगी हिय में छिपाय।
देखन न देहौं काहु पियारे रहौगी कंठ निज लाय॥
पल की ओट होन नहि देहौं लूटौगी सुख-समुदाय!
'हरीचंद' निधरक पीओगी अधरामृतहि अघाय॥

अलौकिक शृंगार की भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रीतिकालीन शैली के अन्तर्गत लौकिक शृंगार की रचनाएँ भी की जिनमें उनके रसिक हृदय का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। लौकिक शृंगार सम्बन्धी रचनाएँ अश्लील न होकर शास्त्रीय परम्परा के अनुसार है। उन्होंने ज्ञात-यौवना, मुग्धा मध्या, प्रौढा, अभिसारिका, मानिनी, वासकसज्जा, खण्डिता, परकीया आदि अनेक प्रकार की नायिकाओं के वर्णन किये हैं। उनमें शास्त्रीय लक्षणों का रखना आवश्यक था। 'प्रेम-माधुरी' से एक उदाहरण देखिये—

'सिसुताई अजौं न गई तन तें तऊ जोबन-जोति बटोरे लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द्र' की कान कछूक दै भौंह मरोरे लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय ते दुरि घूंघट में दृग जोरे लगी।
दुलही उलही सब आँगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरे लगी॥"

शृङ्गार का एक सुन्दर उदाहरण लीजिये—

'आजु कुंज-मंदिर अनंद भरि बैठे स्याम;
स्यामा-संग रंगन उमंग अनुरागे है।
घन घहरात बरसात होत जात ज्यौं-ज्यौं,

त्यों ही त्यों अधिक दोऊ प्रेम-पुंज पाग हैं।
'हरीचंद' अलकै कपोल पैं सिमिट रहीं,
वारि बुंद चुअत अतिहि नीके लागे हैं।
भीजि-भीजि लपट लपट सतराइ दोऊ,
नील पीत मिलि भये एकै रंग बागे हैं।'

शृंगार के अन्तर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वियोग और शृंगार दोनो का और पूर्वानुराग प्रवास, मान, विरह की दशाओं, श्रवण-दर्शन, स्वप्न-दर्शन चित्र-दर्शन आदि का वर्णन किया है। विरह का वर्णन करते हुए उनका कहना है—

'हे हरि जू बिछुरे तुम्हरे नहि धारि सकी सो कोऊ बिधि धीरहि।
आखिर प्रान तजे दुख सो न सम्हारि सकी वा बियोग की पीरहि॥
पै 'हरिचंद' महा कलकानि कहानी सुनाऊँ कहा बल बीरहि।
जानि महा गुन रूप की रासि न प्रान तज्यो चहै वाके सरीरहि॥'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वैसे तो प्रकृति का वर्णन बहुत अधिक नहीं किया, किंतु जहाँ किया भी है वहाँ शृंगार के अन्तर्गत उद्दीपन की दृष्टि से किया है। 'चन्द्रावली में यमुना और वर्षा के वर्णन ऐसे ही है। काव्य-ग्रन्थो में प्रकृति-वर्णन व्रजभाषा काव्य-परम्परा के अनुसार है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बसंत, हेमंत, वर्षा आदि के वर्णन किये है किन्तु कम। 'वर्षा-विनोद' मे वर्षा का उद्दीपन रूप मिलेगा। 'प्रेम-माधुरी' से वर्षा का एक उदाहरण इस प्रकार है—

'कूकै लगी कोइलै कदंबन पै बैठि फेरि
धोये धोये पात हिलि-हिलि सरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि
देखि कै संजोगी जन हिय हरसै लगे।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
लखि हरिचंद फेर प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि झूमि बरषा की रितु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगै।'

वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शृंगार रस की रचनाएँ अत्यंत सरस, सरल और हृदयस्पर्शी है। इसलिए उनके जीवन-काल मे ही उनकी कविताओ का जन-साधारण तक मे प्रचार हो गया था।

भारतेन्दु की रचनाओ मे रस की दृष्टि मे शृ गार के बाद दूसरा स्थान शात का है। यह रस उनकी भक्तिपरक रचनाओ मे मिलता है जिनमे ईश्वरानुराग, धर्मानुराग, आत्म-ग्लानि आदि का प्रकटीकरण हुआ है यथा :—

'बृज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद-पकज पावन की रज जामै सिर भीजै॥
आवत जात कुज की गलियन रूप-सुधानित पीजै।
श्री राधे-राधे मुख यह बर 'हरिचंद' को दीजै॥'

शृ गार और शात के बाद हास्य और वीर का स्थान है और वह भी एक प्रकार से नवीनोन्मुखी रचनाओ मे। 'बकरी-विलाप' और 'बन्दर-सभा' जैसी रचनाएँ हास्य-रसात्मक है। वीर के अन्तर्गत युद्ध वीर या कर्म वीर का उल्लेख अधिक मिलता है। 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' से कुछेक पक्तियाँ इस प्रकार हैं -

'अरे वीर इक बेर उठहु सब फिर कित सोये।
लेहु करन करवाल काढि रन-रग समोये॥
चलहु बीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उडाओ।
लेहु म्यान सो खग-खीचि रन-रंग जमाओ॥

नवीनोन्मुखी रचनाओ मे जहाँ कवि ने भारत की दीह हीन पतित अवस्था का शोकाश्रु-पूर्ण वर्णन किया है वहाँ करुण रस की निष्पति पायी जाती है।

अलंकार—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अलकारो के भार से दबी हुई कविता को उस भार से मुक्त कर उसकी उसके नैसर्गिक रूप मे स्थापना की। उन्होंने भाव को महत्व दिया, न कि वाह्याडम्बर और चमत्कार को। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविता-कामिनी को निरलकृत रखा। वस्तुतः उन्होंने अलकारो और भावो का सुन्दर समन्वय किया। अलकारो का प्रयोग हुआ अवश्य है, किन्तु प्रधानता-रसात्मकता को मिली

है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे रसिक व्यक्ति के लिए अलंकारों के चमत्कार तक सीमित रह जाना सम्भव न था। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों में से उनके भक्ति-परक काव्य में अर्थालंकारों की प्रधानता है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा उनके सबसे अधिक प्रिय अलंकार प्रतीत होते हैं। वैसे अनुप्रास, उदाहरण, सन्देह, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति, दृष्टांत, परिकर, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिंदा आदि अलंकारों का भी प्रयोग पाया जाता है। अनुप्रास, यमक, श्लेष, आदि का प्रयोग रीति शैली की कविताओं में अधिक पाया जाता है। प्रकृति-वर्णनों में उनकी रुचि उपमान प्रस्तुत करने की ओर विशेष रूप से लक्षित होती है। 'प्रेम-माधुरी' नामक काव्य-ग्रन्थ से परिकर का एक उदाहरण इस प्रकार है—

'लै मन फेरिबो जानौ नहीं बलि नेह निबाह कियो नहिं आवत।
हेरि कै फेरि मुखै 'हरिचंद जू' देखनहू को हमै तरसावत।
प्रीत-पपीहन को घन-सावरे पापिन रूप कवौं न पिआवत।
जानौ न नेक बिथा पर की बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत।'

एक उदाहरण रूपकालंकार का देखिये—

'नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि
फूल माल गरें बन झालरि सी लाई है।
भवर गुंजार हरि-नाम को उचार तिमि
कोकिला सो कुहुकि वियोग राग गाई है।
'हरिचंद' तजि पतझार घर-बार सबै
बौरी बनि दौरि चारु पौन ऐसी धाई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कंत कै हिमंत अंत
तेरी प्रेम-जोगिनी वसंत बनि आई है।'

निम्नलिखित कवित्त संदेह का उदाहरण है—

'चंदन की डारन मैं कुसुमित लता कैधो
पोखराज माखन मै नव रत्न जाल है।
चन्द्र की मरीचिन मैं इन्द्रधनु सोहै कै
कनक जुग काभी मधि रसन रसाल है॥

"हरिचंद जुगुल मृनाल मैं कुमुद बेलि
मूंगा की छरी मै हार गूथ्यो हरिलाल है।
कैधौं जुग हँस एकै मुक्त-माल लीने कै
सिया जू करन माँह चारु जयमाल है।।"

छंद—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का छंद-चयन अधिकांश मे परम्परानुसार है। किंतु वे परम्परा तक ही अपने को सीमित नही रख सके। उन्होंने संस्कृत के वसंततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी और अनुष्टुप् छंदो का प्रयोग किया है। 'संस्कृत लावनी' और 'श्रीसीतावल्लभ स्तोत्र' मे उन्होंने क्रमशः लावनी और दोहो तक का संस्कृत मे व्यवहार किया है। संगीत में अधिक रुचि होने के कारण उन्होने मात्रिक छंदो—दोहा (१३,११), चौपाई, सार (१६,१२ सम), विष्णुपद (१६,१०) चौपाई (१५,८), छप्पय (रोला और उल्लाला), रोला, सोरठा (११,१३), कुंडलियाँ (दोहा और रोला) आदि का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने कजली, लावनी, बिरहा, मलार, रेखता, मुकरी, चैती आदि छंद-बंदो का व्यवहार कर कविता का जनता से सम्बन्ध स्थापित किया। रेखता और गजल लिखने वालों मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अच्छा स्थान है। रसात्मकता, भावुकता, मुहावरेदानी उक्ति-चमत्कार, रूपवर्णन, भाव-वर्णन आदि की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की लावनियाँ बहुत सुन्दर बन पड़ी है। 'प्रेम मालिका; 'प्रेम-प्रलाप', 'होली, 'प्रेमाश्रु-वर्णन' आदि मे १२ मात्राओ के दोहों, झूलना, प्लवंगम, राधिका, शृंगाश्रु विजया आदि के उदाहरण भी मिल जाते है। 'गीत गोविन्दानन्द' मे सार तथा संस्कृत के अन्य मात्रिक गीत छंद हैं। वर्णित छंदों मे, कवित्त, रूपघनाक्षरी और सवैया (दुर्मिल, किरीट, अरसात, मत्तगयन्द) के नाम उल्लेखनीय है। 'प्रात-समीरन मे बँगला के पयार' (८।६) नामक वर्णिक छंद का प्रयोग हुआ है। 'प्रेम मालिका' 'प्रेम-तरंग,' 'मधु-मुकुल', 'होली', 'वर्षा-विनोद' आदि मे उन्होंने अपने अनेक पदविभिन्न राग-रागनियों मे बाँधे है जिससे काव्य कला के साथ-साथ उनका संगीत प्रेम भी प्रगट होता है। इस प्रकार भारतेन्दु ने संस्कृत,

हिंदी उर्दू बंगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं और जनता में प्रचलित छंदों के प्रयोग में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समूचा काव्य मुक्तक के अन्तर्गत आता है। उन्होंने संस्कृत की स्तोत्र शैली ग्रहण की। उनकी नवोन्मुखी रचनाएं प्रबन्धात्मक या कथात्मक और मुक्तक दोनों प्रकार की हैं। यह प्रबन्धात्मकता घटनावली के स्थान पर विचारावली की दृष्टि से है। अर्थ-शक्तियों की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काव्य—प्रधानतः मध्ययुगानुरूप काव्य अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों से परिपुष्ट तथा प्रसाद गुण युक्त है। उसमें अनेक स्थानों पर हमें सरलता, अर्थ-गौरव, लालित्य आदि बातें कूट-कूट कर भरी गयी मिलती है। उसमें सुन्दर और मनोरंजक भाव हैं, चित्ताकर्षक कल्पना है, हृदय की गूढ़ वृत्तियों का समावेश ही नहीं वरन् चारु-चित्रण है और अभिव्यंजना-शैली में सजीवता है। भावपक्ष और कलापक्ष के बीच सन्तुलन, जीवन की सच्ची भावुकता, कला और हृदय की सरलता एवं सचाई, आडम्बरहीनता, युग की अनुभूतियों का प्रकृत रूप, कुछ हद तक प्रचारात्मकता, रसात्मकता, तन्मयता, सार्थकता, स्वाभाविकता लक्षणों के कारण भारतेंदु हरिश्चन्द्र का काव्य निश्चित रूप से सत्काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। उन्होंने अपने समय की ही काव्य-शैलियों का निर्वाह नहीं किया वरन् प्राचीन काव्य-शैलियों का भी अत्यंयत सफलतापूर्वक पालन किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों से भरपूर लाभ उठाया है। भाव-साम्य ही नहीं कहीं-कहीं तो शब्दावली तक में साम्य है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में मौलिकता का अभाव है और उनका काव्य अनुकरण मात्र है। भारतेन्दु पिछले युग की दृष्टि होते हुए भी नवीन युग के स्रष्टा थे। उनकी काव्य रचना में स्वच्छन्दता का प्रारम्भिक रूप मिलता है। भारतेन्दु ने प्राचीन और नवीन शैलियों में अत्यन्त सामंजस्य उपस्थित कर अपने युग के साकार प्रतीक बने। उनमें उनके युग की आत्माध्वनित हो उठी। और इसी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की महानता है।

भाषा—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस समय अपने साहित्यिक जीवन का सूत्रपात

किया। उस समय गद्य के क्षेत्र मे खड़ी बोली का स्थान निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका था। किन्तु उर्दू और अंगरेजी की भाषा नीति के कारण उसका स्वरूप विवाद का विषय बना हुआ था। सरकार की शिक्षा-नीति के फलस्वरूप भी हिंदी-उर्दू का संघर्ष उठ खड़ा हुआ था। ऐसे ही समय में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद ने शिक्षा-विभाग मे पदार्पण किया। हिंदी केवल उस भाषा का नाम रह गया था जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरो मे लिखी जाती थी और केवल हिंदी जानने वाले गवार समझे जाते थे। राजा शिवप्रसाद अरबी, फ़ारसी शब्दो के प्रयोग के पक्ष मे थे। हिंदी को 'फैशनेबुल' बनाते-बनाते वे यहाँ तक कह बैठे कि 'urdu is becoming our mother tongue' राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति की प्रतिक्रिया मे राजा लक्ष्मण सिंह विशुद्ध हिंदी का आदर्श लेकर आगे बढ़े।

वे हिंदी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएँ समझते थे और विदेशी शब्दो के पूर्ण बहिष्कार के पक्षपाती थे। वास्तव मे दोनों राजा अतिपूर्ण दृष्टिकोण लेकर चले और दोनों को ही सफलता प्राप्त न हो सकी।

ऐसे समय मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। भारतेन्दु जीवन के किसी भी क्षेत्र मे अतिवादी नही थे। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रो मे उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण ग्रहण किया। हिंदी और साहित्य के उस संक्रमण काल मे ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता भी थी। भाषा के क्षेत्र मे वे न तो संस्कृत की क्लिष्ट पदावली के प्रयोग के पक्ष मे थे और न अप्रचलित अरबी-फारसी शब्दो के पक्ष में। उन्होंने हिंदी की स्वाभाविकता, उसकी जातीय शैली की रक्षा करने की चेष्टा की। और यह निःसंकोच स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने इस पुनीत कार्य मे उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्य की भाषा का समन्वयात्मक स्वरूप ग्रहण किया। सामान्यतः उन्होंने अनलंकृत प्रसाद गुण युक्त भाषा स्वीकार की। उसमे उन्होंने तद्‌भव और देशज शब्दो तथा कहावतो और मुहावरो और संस्कृत के केवल सरल, सुबोध और लोक प्रचलित शब्दों के प्रयोग की ओर ही अधिक ध्यान दिया। 'नील देवी' मे

उन्होंने मुसलमान पात्रों के होने के कारण कठिन उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है। जहाँ भारतेन्दु को चोट करनी होती थी वहाँ वे कहावतों और मुहावरों का प्रयोग करते थे। जहाँ वे तात्त्विक विवेचन में संलग्न होते हैं, उनकी भाषा संयत और गंभीर हो जाती है। उनकी भाषा भावानुकूल, पात्रानुकूल, विषयानुकूल और परिस्थिति के अनुकूल होती है। कर्णकटु शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में नहीं के बराबर है। भावावेगपूर्ण स्थलों की भाषा विदग्धतापूर्ण है। भाषा माधुर्यशालिनी है। कवि होने के नाते उनकी भाषा में कवित्व के भी दर्शन होते हैं। उस समय उनकी भाषा रसपूर्ण हो जाती है। साथ ही उनकी भाषा में चित्र प्रस्तुत करने की अद्भुत शक्ति है। कहीं-कहीं तुकांत-युक्त भाषा का प्रयोग भी मिल जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी गद्य रचनाओं में सरल, सुबोध भाषा का प्रयोग किया है जो अनेक गुणों से मण्डित है।

वास्तव में मातृ-भाषा प्रेमी भारतेन्दु ने भाषा को न तो अकारण संस्कृत गर्भित कर दिया और न अकारण विदेशी शब्दों की भरमार कर उसे खिचड़ी बनाया उन्होंने हिंदी का 'हिंदीपन' बनाये रखकर उसे शिष्ट और परिमार्जित रूप प्रदान किया। मुहावरों और कहावतों का भी उन्होंने अत्यंत सुन्दर प्रयोग किया है। भारतेन्दु के वाक्य छोटे-छोटे किंतु भाव और विषयानुकूल शब्दावली से समन्वित, और सरल किन्तु मर्मस्पर्शी होते हैं। उनकी भाषा में रस रहता है, जो उनके सरस हृदय और जिन्दादिली का द्योतक है।

सामान्य विवरणात्मक शैली के अतिरिक्त भारतेन्दु की शैली, स्थूल और प्रधान रूप में, दो प्रकार की मानी जा सकती है। पहले प्रकार की भाषा-शैली विवेचनात्मक है जिसके द्वारा गंभीर विषयों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे प्रकार की शैली भावावेशपूर्ण है जिसके उदाहरण उनकी मौलिक नाट्य कृतियों में मिलते हैं। भावावेगपूर्ण शैली की भाषा पहली शैली की भाषा से अपेक्षाकृत सरल हुई है। किन्तु अभिव्यंजना शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

इन दो शैलियों के अतिरिक्त उनकी हास-परिहासपूर्ण व्यंग्यात्मक और

कवित्वपूर्ण अथवा आलंकारिक शैलियों के भी दर्शन होते है। पहला प्र की शैली मे वे कहावतो और मुहावरो का, और कवित्वपूर्ण शैली मे अ कारों और सरस शब्दों का अधिक प्रयोग करते है। कहीं-कहीं पर भारते हरिश्चन्द्र ने मुहावरेदार बोलचाल की भाषा मे संभाषण-शैली का व्य हार भी किया है। भारतेन्दु ने एक रचना मे समान रूप से एक ही शै का प्रयोग न करके कई शैलियो का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य मे भी खड़ी बोली का प्रयोग कर चाहा था, और स्वयं कुछ कविताओ की रचना भी की—

'कहाँ हो, ए हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़ मुझको सिधारे?
बुढ़ापे मे य' दुख भी देखना?
इसी के देखने को मै बचा था?'

साथ ही उनकी ब्रज-रचनाओ मे भी खड़ी बोली के रूप बराबर मिलते हैं। किंतु उन्हे खडी बोली की कविता भोड़ी प्रतीत हुई, और प्राय दीर्घ मात्रा के आ जाने के फलस्वरूप उन्हे वह मधुर भी न लगी। इस लिए कविता की भाषा उन्होने ब्रजभाषा ही स्वीकार की। वास्तव मे शता-ब्दियो के प्रयोग से ब्रजभाषा मज गयी थी, उसमे मुहावरेदानी आ गयी थी, और प्रत्येक शब्द के साथ एक भाव-परम्परा जुड़ गई थी। उस परम्परा से एकदम विमुख हो जाना भारतेंन्दु के लिए सरल नही था। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भी इतना जबरदस्त था कि उनके जीवन काल मे किसी को भी ब्रजभाषा के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस न हुआ।

भारतेन्दु ने काव्य मे ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। भारतेन्दु ने 'रत्नाकर' की तरह ब्रजभाषा का अध्ययन नही किया था। केवल अपनी प्रतिभा की बदौलत वे ब्रजभाषा का परिष्करण और परिमार्जन कर सके थे। भारतेन्दु की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, यद्यपि एकरूपता का उसमे अभाव है। उनके भाव और भाषा दोनो सबल है। उनकी ब्रजभाषा मानसिक भावों की यथार्थता स्पष्ट कर देती है। उन्होने भावो के अनुकूल शब्द चुन-चुनकर सुव्यवस्थित पदावली का निर्माण और भावव्यंजक वाक्य-विन्यास प्रस्तुत

किया। वाग-वैचित्र्य भी उनकी काव्य-भाषा की एक विशेषता है। उन्होंने अकाव्योपयोगी और दुरूह शब्दों का प्रयोग नहीं किया। भाषा सरल है। उनके काव्य मे प्रत्येक शब्द की अनिवार्य सत्ता है। प्रत्येक शब्द भावपूर्ण, सबल, और उपयुक्त है। प्रसाद और माधुर्य गुण दोनों उनके काव्य मे सर्वत्र पाये जाते है। वास्तव मे यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि आगे चलकर 'रत्नाकर' जी ने जो पच्चीकारी की उसका पूर्वाभास भारतेन्दु की भाषा मे मिलता है। उन्होंने भाषा की नैसर्गिकता का तिरस्कार नहीं किया, ब्रजभाषा का निजीपन बनाये रखा। उनकी भाषा में कलात्मकता और चमत्कार भले ही न हो, किन्तु उसमें सौन्दर्य है, रमणीयता है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

भारतेन्दु का स्थान—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी मे आधुनिकता के अग्रदूत थे। गद्य के क्षेत्र मे यद्यपि उनसे पहले विविध विषय-सम्बन्धी साहित्य का सर्जन हो चुका था, तो भी उसमे ललित साहित्य का प्रणयन भारतेन्दु द्वारा ही हुआ। उन्होने केवल साहित्य के प्राचीन युगो का प्रतिनिधित्व नहीं किया, वरन् नवोत्थान कालीन भारत को स्वर प्रदान किया, उसकी आशाओ, आकांक्षाओ की पूर्णरूपेण अभिव्यंजना की। साहित्य को उन्होंने विविध-विषय-सम्पन्न बनाया। गद्य मे खडी बोली को प्रोत्साहन दिया और काव्य मे ब्रजभाषा का परिष्करण और परिमार्जन किया। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से उन्होने साहित्य मे नवीन युग की अवतारणा कर उसकी अवरुद्ध गति को गति-शीलता प्रदान की। ऐसा करते समय उन्होंने प्राचीन तथा नवीन और पूर्व तथा पश्चिम का समन्वय कर अपनी दूरदर्शिता और चेतना का परिचय दिया। जीवन का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता न रह सका। वास्तव मे अपनी अल्पायु मे उन्होने जो कुछ किया, वह उन्हे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे अमर रखेगा।

कविवर 'रत्नाकर'

देवर्षि सनाढ्य,

श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (१८६६–१९३२ ई०) जब हिन्दी कविता के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तब देश में न केवल राष्ट्रीय भावना का जन्म ही हो चुका था, वह भारतीय जनता एवं राष्ट्र के संवेदनशील विज्ञ-जनों के मानस में घर भी कर चुकी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर राजनीतिक मंच से अंग्रेजी शासन के विरुद्ध रोष प्रकट किया जाता था, दूसरी ओर साहित्यिक पीठ से देश-जागरण का संदेश मुखरित होता था। अंग्रेजी राज्य की आर्थिक नीति के कारण देश के उद्योग-धंधे और खेती-बारी चौपट थे और भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो उठी थी। इस वैषम्य के कारण जहाँ सामान्य जनता पीड़ित थी, वहाँ जनता में शोषण द्वारा प्राप्त धन पर सामंत तथा पूँजीवादी आनन्द उड़ा रहे थे। इसके साथ ही देश में अकाल, रोग और बेकारी के कारण और भी दुरवस्था थी। एक ओर तो यह समाज की स्थिति थी, दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से भारतीय समाज भौतिक मान्यताओं की ओर आकृष्ट हो चला था और समाज-सुधार के पक्षपाती तथा साहित्यकार अपने समाज में फैली रूढ़ियों और अंधविश्वासी धारणाओं को मिटाने के लिए कृतसंकल्प हो रहे थे। आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार ने धार्मिक विचारों में क्रान्ति उपस्थित कर दी थी और भारत धर्म महामंडल तथा अन्य ऐसी ही संस्थाएँ प्राचीन परम्पराओं को नवीन रूप

देने का प्रयत्न कर रही थीं साहित्य और काव्य पर इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। परिणाम स्वरूप कविता में शृंगार की रस-राजता दुर्बल होने लगी और भगवद्भक्ति, देश-प्रेम, सामाजिक दुर्दशा एवं आर्थिक अवनति आदि विषय उभरने लगे। भाषा के क्षेत्र में भी नवीन परिवर्तन लक्षित हुआ—गद्य के समान ही खड़ी बोली हिन्दी-पद्य क्षेत्र में भी मान्य हुई और ब्रज तथा अवधी जैसी काव्यभाषाएँ पिछड़ने लगीं। इसका परिणाम दीखा सार्वधिक विविधता के रूप में। विविधता, भाव में, भाषा में, शैली में, छन्द-योजना में।

'रत्नाकर' पर भी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। भाषा तो उन्होंने ब्रज ही अपनायी, पर भावना की दृष्टि से उनके काव्य में विविधता है।

'रत्नाकर' के काव्य को समय को लक्ष्य में रखते हुए, दो भागों में बाँटा गया है—१८९४ से १९०७ ई० तक तथा १९१९ से १९३२ ई० तक। इस विभाजन को श्री उषा जायसवाल ने अपने अध्ययन में विशेष मान्यता दी है। प्रथम भाग में हिंडोला, हरिश्चन्द्र तथा कलकाशी प्रमुख रचनाएँ हैं और द्वितीय भाग में अनेक मुक्तकों के साथ-साथ 'गंगावतरण' तथा 'उद्धवशतक, जैसी अमर रचनाएँ। विषय की दृष्टि से 'रत्नाकर' का समस्त काव्य इस वर्गीकरण में आ जाता है।

(१) खंडकाव्य—हरिश्चन्द्र, गंगावतरण,
(२) प्रबंधमुक्तक—उद्धवशतक,
(३) वर्णनात्मक काव्य—हिंडोला, कलकाशी, समालोचनादर्श,
(४) मुक्तक—शृंगार लहरी, गङ्गालहरी, विष्णुलहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, प्रकीर्णक पद्यावली।

'हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' को आधार मानकर १८९४ ई० के उपरान्त रचा गया खंडकाव्य है। इसमें चार सर्ग हैं। यद्यपि यह काव्य भारतेन्दु जी के नाटक पर आधारित है, किन्तु इसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह काव्य अधिक मानवीय है। इसके राजा हरिश्चन्द्र पत्थर के देवता नहीं हैं, प्रत्युत आदर्श मानव हैं। इस योजना की दृष्टि से 'हरिश्चन्द्र' एक सुगठित काव्य

है। करुण रस के पूर्ण परिपाक के लिए तो इस काव्य की प्रसिद्धि है ही, वीभत्स का अपूर्व वर्णन भी इसमें है। अनुचित वर्णन-विस्तार से भी यह काव्य बचाया गया है। इतिहास संबंधी पूर्वापर ज्ञान का ध्यान भी रखा गया है। सामाजिक मर्यादा की ओर भी कवि असावधान नहीं है। ब्रजभाषा के खंडकाव्यों में इस चार सर्ग के काव्य का एक निश्चित स्थान है। हिन्दी खंडकाव्यों की आदर्श परम्परा स्थापित करने में भी 'हरिश्चन्द्र' का महत्त्व है।

'गंगावतरण' रत्नाकर का प्रशस्त प्राप्त अविस्मरणीय खंडकाव्य है। इसका रचना-काल १९२१–१९२२ ई० है। इस काव्य में तेरह सर्ग है। परम्परा के अनुसार तीन छप्पय छन्दों में आरंभ में मंगलाचरण किया गया है। संपूर्ण कथा रोलाछन्द में कही गयी है, प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर अंतिम छन्द उल्लाला है। समाप्ति-तिथि दोहा छन्द में है।

'गंगावतरण' की कथा का मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण है; हाँ स्थान-स्थान पर देवी भागवत तथा श्रीमद्भागवत का भी प्रभाव है। पाँचवें सर्ग की कथा देवी भागवत के नवम स्कन्ध से प्रभावित है तथा प्रसन्नता-पूर्वक फल देने को गंगा के उपस्थित होने के प्रसंग में श्रीमद् भागवत का आदर्श ग्रहण किया गया है। परम्परा की दृष्टि से यह कथा अत्यन्त प्राचीन है। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड एवम् महाभारत के वनपर्व में यह कथा प्राप्त होती है। गंगा की महिमा पर संस्कृत में अनेक रचनाएँ हैं, जिनमे पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' विशेष प्रसिद्ध है। हिन्दी मे भी गंगाजी के माहात्म्य पर पर्याप्त लिखा गया है। 'रामचरितमानस' मे यह कथा क्षेपक रूप में है, 'पद्माकर' की गंगालहरी तो प्रसिद्ध है ही, 'रत्नाकर' जी ने भी स्फुट रूप से गंगा-महिमा गायी है।

ब्रजभाषा के प्रबन्ध काव्यों मे 'गंगावतरण' का अविस्मरणीय स्थान है। एक ओर यह काव्य जहाँ अपने कृती के पुराणादि-अध्ययन का परिचय देता है, वहाँ दूसरी ओर उनकी मौलिक कल्पनाशक्ति, सूझ-बूझ तथा काव्यकला के सम्यक् ज्ञान को प्रमाणित करता है। ब्रजभाषा में 'गंगावतरण' से पूर्व प्रबंध की दृष्टि से इतना सर्वगुण सम्पन्न एवम् संतुलित

काव्य दूसरा नहीं लिखा गया। हिन्दी के उत्तम प्रबंधकाव्यों में इसकी गणना होती है। सामान्यतः यह एक खंडकाव्य है, परन्तु कई स्थानो पर इसमे महाकाव्य के गुण भी प्राप्त होते है। ब्रजभाषा-काव्य मे इससे पूर्व इतना सजीव तथा चित्रमय आलम्बनात्मक प्रकृति-वर्णन नहीं हुआ। इस दृष्टि से यह समर्थ कवि की रचना है। गंगावतरण' मे शृंगार, वीर तथा करुण रस के कई मार्मिक स्थल है। शिव को दलित करने की अभिलाषा से वीररस के उत्साह मे हरहराती गंगा किस प्रकार शृंगार रस के रतिभाव मे विमुग्ध हो जाती है, यह स्थल (वीररस का शृंगाररस मे परिवर्तित हो जाना) रत्नाकर ने अपूर्व कौशल के साथ चित्रित किया है। सामान्यत. शास्त्रो मे प्रकृति को रस का आलम्बन विभाव नही माना गया है, पर 'गंगावतरण' के प्रकृतिचित्र इसके साक्षी हैं कि प्रकृति भी मानव मन में रसप्रवाह करा सकती है। नवम सर्ग के प्रकृति-चित्र अत्यन्त रमणीय और मनोहर है। 'गंगावतरण' की परिष्कृत शब्द योजना तथा भावाभिव्यंजना पद्माकर, बिहारी आदि कवियो का स्मरण ही नही कराती, प्रत्युत कवि की प्रगति भी सूचित करती है। अनेक मुहावरे तथा शब्द 'गंगावतरण' में नयी सजधज के साथ प्रयोग में लाये गये हैं। रोला छन्द का सामर्थ्यवान् प्रयोग इस काव्य में हुआ है। 'गंगावतरण' ब्रजभाषा-दीप की अमन्द और कोमल आलोक फैलानेवाली आभा है।

१९२९ ई० में प्रकाशित 'उद्धवशतक' कवि रत्नाकर की प्रौढतम कृति है। एक ओर इसकी घनाक्षरियाँ स्वयं पूर्ण है, दूसरी ओर सब मिलकर एक कथानक का निर्माण भी कर देती है, अतः इसे 'प्रबंधमुक्तक' कहा गया है। परम्परा की दृष्टि से इसकी कथा 'भ्रमर-गीत' श्रेणी मे आती है। 'उद्धवशतक मे भ्रमर का प्रसंग केवल एक छन्द मे 'गुनगुन' शब्द की उपस्थिति मात्र है। श्रीमद्भागवत के ४६-४७ अध्यायो मे गोपी उद्धव संवाद हिन्दी मे 'भ्रमरगीत'—काव्य के रूप में उपस्थित हुआ है। सभी कृष्णभक्त कवियो ने इस प्रसंग पर कुछ न कुछ कहा अवश्य है। सूर तथा नंददास के अतिरिक्त अन्य अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन भक्त कवियो ने भी इस प्रसंग पर थोड़ा-बहुत लिखा है। कृष्णभक्ति शाखा के हिन्दी-

काव्य मे भ्रमरगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है रत्नाकर का उद्धवशतक श्रीमद्‌भागवत की अपेक्षा 'सूरसागर' के निकट अधिक है । 'उद्धव शतक' मे श्रीकृष्ण-दूत उद्धव गोपियो के निकट ब्रह्मज्ञान का सदेश लेकर जाते है और अन्त मे गोपियो के निश्च्छल तथा अनन्य प्रेम के सम्मुख पराजित हो वे गौरव का अनुभव करते है । भावना की दृष्टि से 'उद्धवशतक' मे और 'सूरसागर' मे अधिकाश समानता है । डा० श्रीकृष्ण लाल के शब्दो मे 'सूर की भक्तिभावना समुद्र की एक लहर है, जो अनायास ही उमड कर तटप्रान्त को जलमग्न कर देती है । प्रबल भक्ति की लहरें बंधनो के तट को तोड, असीमित हो जाती है और ज्ञान एक उच्च, गंभीर एव गहन पर्वत है, जो तटपर स्थित है । वह भक्ति की लहरो के इस आवेग को रोकने मे असमर्थ है तथा स्वयं ही जल-तरग मे तरल हो उठता है ।' रत्नाकर के 'उद्धवशतक' मे भी लगभग यही है । इसमे भी गोपियो के प्रेम-रत्नाकर की उमडती ऊर्मिमालाओ मे उद्धव का ज्ञान-गिरि-गौरव तरल होकर बह जाता है।

सूर के साथ इस रूप मे समान होने पर भी रत्नाकर के 'उद्धवशतक' की अपनी विशेषताएँ है । सूर के समान इसमे भ्रमर नहीं है । रत्नाकर की गोपियाँ सूर की गोपियो की अपेक्षा अधिक तर्कशीला है । सूर का रचना व्यास-शैली मे है, किन्तु इसके विरुद्ध 'उद्धव शतक' उचित सीमा के भीतर अत्यन्त अनुभूतिमयी कलापूर्ण मर्मस्पर्शिनी शैली मे रची गयी सरस रचना है, जिसमे कवि ने निर्गुण-सगुण अथवा ज्ञान-भक्ति के संघर्ष मे सरस तर्को की सहायता से निर्गुण पर सगुण की अथवा ज्ञान पर प्रेमा-भक्ति की विजय प्रतिपादित की है । 'उद्धवशतक' कलापक्ष की दृष्टि मे भी 'भ्रमर गीत' परम्परा के काव्यों मे ऊँचा स्थान रखता है ।

नन्ददास के 'भंवर गीत' तथा 'उद्धवशतक' की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है—

(१) नन्ददास के 'भँवर गीत' मे सूर के भ्रमर गीत के समान कृष्ण-संदेश आदि नही है, केवल गोपी-उद्धव-सवाद है । 'रत्नाकर' के 'उद्धव-शतक' मे कृष्ण का सदेश सूर के सदेश के समानलम्बा तो नही है, पर है, नन्द दास के 'भँवर गीत' की भाँति 'उद्धवशतक' मे उसका अभाव नहीं है ।

(२) नन्ददास के भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति का विवेचना अधिक होने के कारण भावपक्ष निर्बल है, 'उद्धवशतक' का भावपक्ष सरस और सबल है।

(३) रत्नाकर की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों की भाँति तर्क करने में चतुर नहीं हैं। इस विषय में रत्नाकर ने भावना और तर्क का समुचित समन्वय किया है।

(४) नन्ददास को कलापक्ष की प्रबलता के कारण 'जडिया' कहा जाता है; उनकी भाषा भी व्यापक, व्याकरण सम्मत तथा अपेक्षाकृत परिमार्जित है। 'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' में यह परम्परा विकसित हुई है।

भक्ति कालीन कवियों ने भ्रमरगीत-प्रसंग द्वारा भक्ति की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा की है। निर्गुण-उपासना की अपेक्षा सगुणोपासना की श्रेष्ठता स्वीकारी है। तथा गोपियों के विरह के माध्यम से भक्ति की सरस अभिव्यंजना की है। रीति काल में इसी प्रसंग की सहायता से वियोग शृंगार का शास्त्रीय निरूपण किया गया है तथा कृष्ण और गोपियों को नायक-नायिका बनाकर श्रेष्ठ उपालंभ-काव्यों की रचना हुई है। रस की दृष्टि से ये कृतियाँ भावात्मक हैं और इनके माध्यम से प्रेम की सुन्दर व्यंजना हुई है। आधुनिक काल के कवियों ने इस प्रसंग को चिन्तनशील और आदर्श प्रधान बनाया है। इस युग के कृष्ण अलौकिक न रहकर बौद्धिक तथा आदर्श राष्ट्रीय नेता है। उनके कृत्य बुद्धि-सम्मत है, और व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि—राष्ट्र का हित उनके द्वारा अधिक सम्पन्न हुआ है। 'प्रियप्रवास' के कृष्ण सफल लोक नायक हैं, उनका गोवर्द्धन-धारण उँगली पर नहीं हुआ है, उसकी बुद्धिगत प्रणाली है। सत्यनारायण कविरत्न के कृष्ण राष्ट्रीय भावनाओं के प्रतीक है।

'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धवशतक' में इन सब भावनाओं का समन्वय किया है। उन्होंने अपनी रचना में भक्ति, रीति-शृंगार और आधुनिक बुद्धिवाद का समन्वय किया है। 'उद्धवशतक' में इन सब प्रवृत्तियों की मौलिक अभिव्यक्ति है, उसमें प्राचीन विषय का नवीन निरूपण है; उसमें वाग्वैदग्ध्य के साथ चित्रोपमता तथा संगीतात्मकता का मौलिक योग है। इसी से कहा

गया है, "उद्धवशतक मे भक्तिकाल की आत्मा है और उस आत्मा का आवरण रीतिकालीन शरीर है। इसके साथ ही आधुनिक बुद्धिवाद का पूरा योग है।"

'हिंडोला' और 'कलकाशी' रत्नाकर के वर्णन प्रधान काव्य है। पहिले मे वैष्णव परम्परा के अनुसार राधा कृष्ण के हिंडोला-उत्सव का वर्णन है, दूसरे में काशी का। दोनो की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ वर्णन प्रधान काव्यो मे की जाती है।

'शृगार-लहरी' शृंगार रस के दोनों पक्षो का विशद वर्णन करने वाली कृति है, जिसमे विभिन्न अवस्थाओ के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किए गये है। 'गंगा लहरी' और 'विष्णु-लहरी' भक्तिपरक स्फुट छन्दो के संग्रह है।

'रत्नाष्टक' मे १६ विषयो पर स्फुट छन्द है। कला की दृष्टि से ये छन्द बहुमूल्य है। इन छन्दो मे रत्नाकर जी की धार्मिक भावना तथा प्रकृति को आलम्बन रूप मे उपस्थित करने के प्रयत्न से प्रेरणा प्राप्त हुई दीखती है। प्रभाव यद्यपि रीति कालीन है, परन्तु विधान आधुनिक शैली का है।

'वीराष्टक' मे १३ पौराणिक एवं ऐतिहासिक वीराङ्गनाओं की वीरता का वर्णन है। ब्रजभाषा मे वीररस-प्रधान रचनाएँ कम लिखी गयी थीं। इस अष्टक ने इस कमी को दूर किया। कवि ने मधुर ध्वनियुक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा इन अष्टको मे उत्साह का वर्णन कर एक नवीन परम्परा चलाई है।

रस की दृष्टि से रत्नाकर को रससिद्ध कवि कहना उचित है। उन्होंने शृंगार रस की प्रत्येक सीमा का स्पर्श किया है। उनकी रचना मे संयोग भी है, वियोग भी, नायिका भेद की परम्परा भी है, स्वानुभूति प्रधानता भी, ईश्वरोन्मुख रति भी है और अपत्योन्मुख प्रेम का भी अभाव नहीं। 'उद्धवशतक', 'गगावतरण' तथा अन्य रचनाओ से शृंगार रस के अनेक उदाहरण छाँटे जा सकते हैं। शृंगार के अतिरिक्त वीर, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत तथा शात रसो के अनेक उदाहरण उनकी रचनाओ

मे हैं इतना ही नही विभाव अनुभाव आदि के समुचित प्रयोग द्वारा रत्नाकर ने ऐसे जीवित चित्र उपस्थित किये है, जिनमे प्रखर और सचेतन कल्पना के योग से प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है। आलम्बन और उद्दीपन—दोनो विभावों के अनेक मनोहर चित्र रत्नाकर-काव्य मे प्राप्त होते हैं। प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप का वर्णन जिस रीति से 'उद्धवशतक' मे हुआ है, वैसा ब्रजभाषा-काव्य मे अन्यत्र कम है। आलम्बन रूप मे प्रकृति-वर्णन तो कवि रत्नाकर की ब्रजभाषा-काव्य को अमर देन है। 'हरिश्चन्द्र' और 'गगावतरण' में प्रकृति के अनेक आलम्बनात्मक चित्र है। 'गंगावतरण' मे जहा एक ओर लताओं पर फूलते फूल, उन पर गुजारते भौरे, नवपल्लव, फल-फूलो से विनम्र तरुवर, कूजते विविध खग, मन हरते कीर और कोकिल, सीटी देती श्यामा, चुटकी बजाता चटक और झूम-झूम कर गुटकता कपोत आनन्द और उल्लास के सवर्द्धक हैं, वहाँ 'हरिश्चन्द्र' का भयानक श्मशान—जिसमे एक ओर चिता बुझाई जा रही है, दूसरी ओर लगाई जा रही है, ज्वाला मे चरबी चटचटा रही है, शृगाल और गिद्ध मुरदो के अवशेषो पर जुटे हुए है, चारो ओर मज्जा, मास, रुधिर छितराये पड़े है—भय और घृणा से मन को हरहरा डालता है। 'रत्नाकर' का सिद्ध कवि शृंगार और विभीषिका, आनन्द और भय—दोषो का समान शिल्पी है।

'उद्धव शतक' मे कायिक और मानसिक अनुभावो का सफल प्रयोग किया गया है। कही-कही आश्रय की मूकता के द्वारा भी चरम भावानुभूति दिखाई गयी है। 'रत्नाकर' अलकारों के तो पारखी ही थे—वे सचमुच रत्नाकर है, जिनके रत्न-अलंकारो का लेखा-जोखा कठिन है। शब्दालंकारो की कृत्रिमता के प्रति कवि पूर्ण सावधान है। उनकी शब्दालंकार-योजना इतनी स्वाभाविक और मनोरम हुई है कि पहिली दृष्टि मे तो उस योजना पर रसिक पाठक का ध्यान जाता ही नहीं। उक्ति की विशेषता, भावो की गभीरता और उपस्थित चित्र का आकर्षण पहिले ही मनहरण कर लेते है। यमक और अनुप्रास जैसे अलंकारो द्वारा उनके काव्य मे विशेष रसानुभूति और स्वाभाविक मनोदशा का चित्रण हुआ है। अर्थालकारों मे रत्नाकर ने उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, प्रतीप, संदेह, विभावना

आदि का प्रयोग अधिक किया है। 'गंगावतरण' में उत्प्रेक्षा का भांडार है और 'उद्धवशतक' में रूपकों की बहार। इन दोनों काव्यों के आधार पर ही अलंकारों की पुस्तकें रची जा सकती हैं। 'शृंगार लहरी' के बाईसवें छन्द में कवि ने अलंकार चमत्कार को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। इस छन्द में अनुप्रास, यमक, प्रतीप, विभावना, भ्रम और सम अलकारों का समन्वय किया गया है। ऐसे प्रयोग रत्नाकर-काव्य में हैं तो, पर कम हैं, अधिकांश में उनकी अलकार-योजना भावोत्कर्ष की सहायिका ही है। यद्यपि रत्नाकर जी प्रेरणा रीतिकालीन परम्परा से लेकर ही चले हैं, पर उनके अलकारों ने रस-परिपाक में बड़ी सहायता की है। अलकारों के कौशल में उनका रस रमणीय बना है।

छन्दों की रसानुकूल योजना का रत्नाकर ने विशेष ध्यान रक्खा है। सभी छद सभी भावनाओं और रसों के अनुकूल नहीं होते, छन्दों के रसानुकूल प्रयोग के विषय में पूर्वीय और पाश्चात्य आचार्यों ने बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। रत्नाकर इस भेद को समझते थे। उन्होंने अवसर और रस के अनुकूल मुक्तक काव्यों में घनाक्षरी का उपयोग किया है और प्रबंधात्मक काव्यों में रोला छन्द का। विचार प्रधान तथा इतिवृत्तात्मक मुक्तकों में घनाक्षरी का प्रयोग उचित होता है। इस छन्द में वर्णन-कौशल, ओजगुण तथा वाग्वैदग्ध्य का प्रदर्शन भली-भाँति हो सकता है। रत्नाकर ने अपने सभी प्रकार के मुक्तकों में घनाक्षरी का अत्यंत सफल प्रयोग किया है। 'उद्धवशतक' के अतिरिक्त अष्टक, लहरी तथा अनेक स्फुट मुक्तकों में रत्नाकर की घनाक्षरियाँ बड़े निखरे रूप में प्रयुक्त हुई हैं। वीराष्टकों में ओज दर्शनीय है। घनाक्षरी छन्द के प्रयोग में 'रत्नाकर' पर 'पद्माकर' का प्रभाव स्वीकारा जा सकता है।

बहुत समय से प्रबंध काव्यों में रोला छन्द का प्रयोग होता रहा है। अपभ्रंश-काव्यों में इस छन्द का प्रयोग मिलता है। यह छन्द अपनी प्रवाहात्मकता के लिए श्रेष्ठ माना जाता है। रत्नाकर ने इस तथ्य को पहिचाना था, उनके 'गंगावतरण', 'हरिश्चन्द्र,' 'कलकाशी,' आदि प्रबंध काव्यों में रोला का सफल प्रयोग है। 'गंगावतरण' में रोला और

उल्लाला के योग से बने छन्द छप्पय का भी प्रत्येक सर्ग के अन्त में प्रयोग है। वास्तव में छप्पय की ओर रत्नाकर की प्रवृत्ति अधिक नहीं थी। रोला के प्रति उनका आग्रह तथा सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन कर देने की संस्कृत-परम्परा के कारण उन्होंने छप्पय छन्द का प्रयोग किया। यों सवैया और दोहा छन्द का प्रयोग भी कहीं-कहीं रत्नाकर ने किया है, पर उनके प्रिय छन्द रोला और घनाक्षरी ही है। 'छन्दों के संघटन-क्रम पर ध्यान देकर रत्नाकर जी ने अपनी कविता कारीगरी को पहिले से द्विगुणित शक्ति से बढाया।' उनके 'छन्द सर्वत्र भाव, भाषा और विषय के अनुकूल बन पड़े है।' डॉ० श्याम सुन्दर दास के अनुसार 'संगीत और छन्द-संघटन में ..यदि रत्नाकर की तुलना अँग्रेज कवि टेनीसन से की जाय तो बहुत अंशों मे उपयुक्त होगी।'

रत्नाकर जी देववाणी संस्कृति की विहारभूमि वाराणसी में उत्पन्न हुए थे। एम० ए० तक फारसी का अध्ययन उन्होंने किया था। संस्कृत और फारसी इन दोनों प्राचीन भाषाओं का ज्ञान होना इस कारण उन्हें स्वाभाविक ही था। ब्रजभाषा के समर्थ कवि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सपर्क में आकर वे काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए थे। सूर, नन्ददास, घनानन्द, पद्माकर, बिहारी जैसे ब्रजभाषा कवियों की परम्परा उन्हें प्राप्त हुई थी। इस सबके फलस्वरूप रत्नाकर जी की काव्य भाषा व्यापक, मधुर, कोमल, व्यवस्थित, प्रौढ, प्रवाहमयी तथा व्याकरण-सम्मत ब्रजभाषा है। यों उनकी कविता का आरम्भ उर्दू से हुआ था और प्रयोग के लिए लिखे गये दो खड़ी-बोली-छन्द भी उनके प्राप्त होते है, पर मुख्यता उन्होंने ब्रजभाषा को ही दी। 'ब्रजभाषा पर इनका व्यापक अधिकार था। आरम्भ की रचनाओं मे भी ब्रजभाषा का एक पुष्ट रूप है, किन्तु प्रौढ कृतियों में, विशेष कर 'उद्धव शतक' मे रत्नाकर का भाषा-पाण्डित्य प्रमुख रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

ब्रजभाषा को व्यापकता प्रदान करने के लिए इन्होंने संस्कृत पदावली का ब्रजभाषा के साथ सम्मिश्रण बडी कारीगरी के साथ किया था। यों उनकी भाषा में देशी प्रयोग भी है और अकाव्योपयोगी दुरूह शब्द भी, पर

उसका माधुर्य कम नहीं हुआ। मार्मिक प्रयोग शक्ति के द्वारा वह ब्रज-माधुरी से पूरित हो गई।' उनके स्फुट पदो मे शुद्ध ब्रजभापा का प्रयोग है और कथा काव्यो मे सस्कृत के तत्सम शब्दो मे युक्त पदावली का। भाषा के दो रूप स्पष्टत. पृथक है, पर दोनो मे न तो कोई विलष्ट है और न अग्राह्य। फारसी के शब्दों का प्रयोग भी है, पर प्रचलित और सरल शब्दो का; वह भी कम और विशेष स्थानो पर। 'रत्नाकर जी ने बडे संयम से काम लिया है; और न तो कही कठिन या अप्रचलित फारसी-शब्दो का प्रयोग किया है और न कही स्वाभाविकता का तिरस्कार ही किया है।'

भाषा की अभिव्यंजना शक्ति बढाने के लिए रत्नाकर ने लाक्षणिकता और वक्रता, मुहावरे तथा विशेष अर्थपूर्ण उक्तियो का भी प्रयोग किया है। उनके केवल दो काव्यो—गंगावतरण और उद्धवशतक—से इनके पर्याप्त उदाहरण खोजे जा सकते हैं। एक शब्द विशेष के प्रयोग से सम्पूर्ण भाव को स्पष्ट कर देना 'रत्नाकर' के लाक्षणिक प्रयोग की विशेषता है। मुहावरो का प्रयोग उन्होने प्रसंगानुकूल और चमत्कारपूर्ण किया है। उनके काव्य मे ऐसे मुहावरे और कहावतें है, जिनका प्रयोग साधारणतया प्रचलित है। रीति—विशेषभावो को स्पष्ट करने के लिए वर्णों के विशेष संघटन का भी रत्नाकर ने ध्यान रक्खा है। काव्य मे विशेष संगीतात्मकता लाने के लिए ही जैसे—उन्होंने यथावसर तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशी शब्दो का प्रयोग किया है। शब्दों के द्वारा चित्र प्रस्तुत करने की भी रत्नाकर मे अद्भुत सामर्थ्य थी। 'रत्नाकर' ने अपनी कविता मे ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप का प्रयोग ही नहीं किया है, उसे निखारा भी है। उन्हे ब्रजभाषा का शास्त्रीय अधिकारी मानना उचित होगा।

'रत्नाकर' कलापक्ष एवं भावपक्ष में उचित समन्वय के पक्षपाती थे। वे भावना के साथ कविता मे संतुलन भी चाहते थे और कलाकारी के साथ सहृदयता भी। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दो मे 'उनकी रचना मे उनका नया अभ्यास, नया प्रबन्ध कौशल और नये बुद्धिवादी युग का व्यक्तित्व दिखाई देता है।'

प्रिय-प्रवास की राधा

डॉ० गोपीनाथ तिवारी

कृष्ण काव्य परम्परा मे भावना की दृष्टि से राधा का महत्व कृष्ण से कम नही है। राधा के अभाव में कृष्ण का व्यक्तित्व अधूरा है। समय की गति के अनुसार कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व की धारणा मे परिवर्तन भले ही हुआ हो, किन्तु दोनो के चिरन्तन संबन्ध की उपेक्षा आज तक कोई कवि नही कर सका।

नवीन विचारों एवं भावनाओ के सन्दर्भ मे रचित प्रिय-प्रवास मे भी दोनो का व्यक्तित्व समान रूप से महिमामय दिखाया गया है। राधा का व्यक्तित्व वहाँ भी कृष्ण की तुलना में कम आकर्षक नही है। विश्लेषण करने पर स्पष्टत: प्रिय-प्रवास की राधा के दो रूप हैं—एक प्राचीन और दूसरा नवीन। प्राचीन रूप मे राधा सूर की राधा के समान है, हाँ उतनी शृंगारिक नही है। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम के दो आधार बनाये है—बचपन की खिलवाड प्रणय मे परिवर्तन होती है और दोनों गंधर्व विवाह कर लेते है। इन दोनों रूपो मे प्रिय-प्रवास की राधा भी दिखलाई पड़ती है। दो मित्र थे। उनके नाम थे नंद और वृषभानु। वे पास के ही रहने वाले थे। दोनो मित्रो के दो सन्तानें हुई। नंद के घर कन्हय्या ने जन्म लिया और वृषभानु के घर राधा ने। दोनों शिशु एक दूसरे के घर ले जाये जाते थे। शिशु अवस्था से ही दोनो साथ-साथ रहने लगे थे और बड़े हो जाने पर दोनो बालक स्वयं चले जाते थे और साथ-साथ खेलने

लगते थे। यशोदा और नंद, दोनों को साथ खेलते देखकर प्रसन्न होते थे तो वृषभानु और कीर्ति भी। बचपन का यह अनुराग, धीरे-धीरे प्रणय में परिवर्तित हो गया और दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लगे। स्वाभाविक था कि स्त्री होने के कारण राधा के हृदय में कन्हय्या के प्रति तीव्र अनुराग था और दूर होने पर वह कन्हय्या का स्मरण करती रहती थी। दोनों के माता-पिता एवं गाँव वाले जानते थे कि दोनों का विवाह हो जायेगा। कृष्ण से ही विवाह हो, इसके लिये राधा व्रत-उपवास, पूजा-अर्चना करती थीं। एक दिन सहसा अक्रूर जी कन्हय्या को लिवाने ब्रज में आ धमके। कृष्ण-बलराम को राजा कंस ने बुला भेजा था। कृष्ण प्रातःकाल चले जायेंगे। राधा रात भर रोई। वह अत्यन्त दुखी हुई। किन्तु कृष्ण न रुके। कृष्ण के वियोग में तो वह पागल-सी हो गयी। उन्माद और उद्वेग की अवस्था में वह पवन को दूती बनाकर कृष्ण के पास भेजती है। कृष्ण न लौटे। उसने सुना कि कृष्ण द्वारिका चले गये हैं। तब उसने हृदय में संतोष और धैर्य किया और ब्रज सेवा में अपने को लगा दिया। वह दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाती थी। यही है प्रिय प्रवास की राधा।

प्राचीन रूप—राधा बड़ी रूपवती है। उसके रूप का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

> रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना
> तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।
> शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी
> श्री राधा मृदुभाषिणी मृग दृगी-माधुर्य की मूर्ति थी॥६-४॥
> फूले कंज समान मंजु दृगता थी मत्तता कारिणी
> सोने की कमनीय कांति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।
> राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति-सी
> काली कुंचित लम्बमान अलकें थी मानसोन्मादिनी॥६-५॥
> लाली थी करती सरोज पग की भू पृष्ठ को भूषिता
> बिम्बा विद्रुम को अकांत करती थी रक्तता ओष्ठ की।
> हर्षोत्फुल्ल-मुखारविन्द गरिमा सौंदर्य आधार थी

राधा की कमनीय कांत छवि थी कामांगना मोहिनी ॥६-७॥

इन पंक्तियों में राधा की सुंदरता के साथ-साथ प्राचीन परिपाटी पर, नख-शिख वर्णन भी कर दिया है। उसका मुख चन्द्रमा के समान था, वह बिम्बानना भी थी। उसके नेत्र कमल एवं मृग के समान थे। केश काले, घुँघराले और लम्बे थे जो मन को तरंगित करते थे। पृथ्वी उसके कमल पगों से लाल हो जाती थी। होठ की लालिमा बिम्बाफल और मूँगे को लजाती थी। यह प्राचीन परिपाटी का नखशिख वर्णन ही तो है। इसके साथ ही सूर की राधा के समान प्रिय-प्रवास की राधा हृदयगत भावों को प्रगट करने में ही चतुर नहीं थी वरन् हाथों द्वारा प्रणय को विकसित करने में भी कुशल थी। सूर की राधा केवल बाँसुरी बजा लेती थी और नृत्य में निपुण थी। इधर प्रिय-प्रवास की राधा कई वाद्य-यंत्र बजा लेती थी।

नाना भाव विभाव हाव कुशला आमोद आपूरिता
लीला लोल कटाक्षपात निपुणा भ्रू भंगिमा पंडिता।
वादित्रादि समोद वादनपरा आभूषण भूषिता
राधा थी सुमुखी विशाल नयना आन्दोलन आन्दोलिता ॥४-६॥

यहाँ कवि ने राधा को "वादित्रादि समोद वादनपरा" कहा है। कवि का अभिप्राय है कि वह अनेक वाद्ययंत्र बजाती रहती थी। काव्य की दृष्टि से यह विशेषण बहुत सशक्त नहीं है। अच्छा होता, बाजों के नाम दे दिये जाते। इससे राधा में आधुनिकता की पुट आ गयी है। वह ग्रामीण गोप बालिका होते हुए भी बाजे बजाती रहती थी।

राधा के विरह वर्णन में सूर की भाँति उपाध्याय जी ने विरह की लगभग सभी दशाओं को दिखला दिया है। राधा प्रवत्स्यत्पत्तिका और प्रोषित पति का इन दो रूपों में विरह विधुरा दिखलाई गई है। कालिदास के यक्ष की नाईं राधा जी पवन को दूती बनाकर मथुरा में कृष्ण के पास भेजती हैं। महाकवि कालिदास का यक्ष पुरुष था, अतः उसने अपनी प्रेयसी के पास अपने सखा मेघ को भेजा। प्रिय-प्रवास में राधा पवन को दूती बनाकर भेजती है। यह उचित और स्वाभाविक है। प्रिय-प्रवास का यह स्थान अत्यन्त भावपूर्ण और मार्मिक है।

कृष्ण मथुरा चले गये है। राधा बड़ी दुखी है। उनके दिन बस रो-रोकर कट रहे थे—

रो रो चिंता सहित दिन को राधिका थी बिताती
आँखो को थी सजल रखती उन्मना थी दिखाती।
शोभा वाले जलद वपु की हो रही चातकी थीं
उत्कंठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी॥६-२६॥

इसी दशा में हवा चलने लगी। पवन स्पर्श से राधा और व्यथित हुई। वे हवा से बोलीं—पापिनी! मुझे क्यो सताती है। तू तो मेरी सखी है। क्या सखी का यही धर्म है कि अपनी सखी को पीड़ा दे? सखी! मेरा दुःख घटा, मुझे कुछ सहायता दे। सहायता क्या है? तुझे पुण्य मिलेगा और मेरा काम बन आएगा। तू मेरी दूती बनकर मथुरा मे श्याम के पास मेरा संदेशा ले जा। प्रिय-प्रवास की राधा अपने स्वार्थवश संसार की उपेक्षा नही करती है। वह दूसरो के दुःखो और कष्टो का ध्यान रखती है। कृष्ण भक्तों की राधा से यहाँ भिन्नता आ गयी है। वह पवन से कहती है—

जाते जाते अगर पथ मे क्लांति कोई दिखावे
तो जाके सन्निकट उसकी क्लांतियो को मिटाना।
धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना
सद्‌गंधो से श्रमित जन को हर्षितों-सा बनाना॥६-३९॥
संलग्ना हो सुखद जल के कांति हारी कणो से
ले के नाना कुसुम कुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना
आते जाते पथिक जिससे पंथ में शांति पावें॥६-४०॥

केवल पुरुष की थकावट ही नही मिटानी है, तू स्त्री है, अत: स्त्रियो की श्रांति को भी दूर करना। स्त्री, स्त्री की सहायिका बननी ही चाहिए। हाँ, सखी एक बात और है। देख, न अपनी मर्यादा खोना और न दूसरी स्त्रियों की लज्जा का अपहरण करना। देख :—

लज्जाशीला पथिक महिला जो कहीं दृष्टि आवे

होने देना विकृत बसना तो न तू सुन्दरी को।

जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रांति खोना,

होठों की औ कमल मुख की म्लानताएँ मिटाना ॥६-४१॥

मार्ग मे पुष्प-पत्रों को हिलाकर न गिरा देना। बेचारे पादपों को बड़ा कष्ट होगा। न उन पर बैठे पक्षियो के बच्चों को गिराना। यदि मार्ग में रोगी मिल जाय तो देख—

तेरी जैसी मृदु पवन से सर्वथा शांति कामी

कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।

मेरी सारी दुखमय दशा भूल उत्कण्ठ होके,

खोना सारा कलुष उसका शांति वस सर्वाङ्ग होना ॥६-४५॥

फिर उसे स्मरण होता है कि संभव है किसी उद्यान मे किसी एक पुष्प पर भ्रमरी-भ्रमर बैठे हो, तो तुरन्त अपनी दशा को ध्यान मे रखकर वह पवन से कहती है—

जो पुष्पो के मधुर रस को साथ सानन्द बैठे

पीते होवे भ्रमर-भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।

थोड़ा सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हो

क्रीडा होवे न कलुषमयी केलि मे हो न बाधा ॥६-४२॥

यह बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन है। राधा को ध्यान हो आता है कि अक्रूर ने राधा और कृष्ण के जोड़े को जो प्रेम रस पीने मे मग्न था, आकर अलग कर दिया है। अत: वह पवन को सावधान करती है। इसी प्रकार वह पवन से कहती है कि वे स्त्रियो के शरीर के पुष्पों की सुगंध से उनके पतियो को प्रसन्न करना ताकि वे पति अपनी पत्नियों पर प्रसन्न हो जाँय। राधा इससे कृष्ण की प्रसन्नता का संकेत करती है। वह कहती है—

जो इच्छा हो सुरभि तन के पुष्प संभार से ले

आते जाते सरुचि उनके प्रीतमो को रिझाना ॥६-५२॥

कृष्ण के मन मे अपनी स्मृति साकार कराने के लिए वह पवन को सांकेतिक किंतु विदग्धतापूर्ण कौशल का सहारा लेने के लिए कहती है। वह कहती है कि देख कृष्ण जब अपनी चित्रशाला मे बैठे हो तो किसी

विरह विधुरा के चित्र को जोर से हिला देना सभव है उनको मेरा स्मरण हो आवे । यदि इससे भी काम न चले तो एक और कौशल करना । तू एक मुरझाये फूल को उड़ाकर कृष्ण के चरणों पर डाल देना । सभव है उन्हें स्मरण हो आवे कि एक फूल सा शरीर मुरझा गया है और वह उनके चरणों को चूमना चाहता है । कोई कमल मिल जाय तो उसे पानी मे डुबोना । उस कमल पर पानी देखकर संभव है, श्याम मेरी आँखो के आँसुओ की कल्पना कर ले । यदि कृष्ण किसी वृक्ष के नीचे बैठे हो तो उसकी किसी एक पत्ती को जोर से हिला देना, स्यात् उन्हे ध्यान आ जावे । उनकी प्रेमिका उनके विरह मे इसी भाँति काँप रही है । कोई मलीन और सूखी लता कही पड़ी हो तो कृष्ण के पैरो के पास गिरा देना । शायद इसी से उन्हे स्मरण हो आवे कि कोई लता के समान मलीन हो सूखती जा रही है । यदि तुझसे ये काम न हो सके तो प्यारी सखी, एक काम तो अवश्य कर आना । क्या ? उनके पैरों की थोडी सी धूल ले आना । मै उस धूल से ही शांति पाने का प्रयास करूँगी—

> जो ला देगी चरण रज तो तू बड़ा पुण्य लेगी
>
> पूता हूंगी भगिनी उसको अंग मे मैं लगा के
>
> पोतूंगी जो हृदय तल मे वेदना दूर होगी
>
> डालूंगी मै शिर पर उसे आंख मे ले मलूंगी ॥६-७८॥

कवि इस स्थान पर प्रेम, करुणा और श्रद्धा का निर्झर प्रवाहित कर देता है ।

सूर की गोपियाँ जिनमे राधा भी छिपी है, बड़ी भोली और सरल बालाये हैं । वे अपने भोलेपन से उत्तर देती है—ऊधो, ठीक है तुम जो कहते हो । पर हम करे तो क्या करें । यह मन तो मानता ही नहीं । कभी वे कहती है—अच्छा, निर्गुण भी बड़ा सुन्दर और उत्तम है । भला यह तो बताओ उसके माँ बाप कौन है और उसकी स्त्री कौन है ? नंददास की गोपियाँ जो राधा को छिपाये रहती हैं, ऊधो को मुंहतोड़ उत्तर देती है और तर्क करती है । वे बडी मुखरा है । उपाध्याय जी और आगे बढ़े है और उन्होंने राधा को दार्शनिक, विदुषी, पण्डिता, अध्येता, शास्त्रज्ञा और उप-

देशिका बना दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कृत विश्वविद्यालय से उच्चतम डिग्री प्राप्त कर आई है और उसने उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है। वह ऊधो जी की बोलती बन्द कर देती है और उन्हें नवधा भक्ति का नवीन रहस्य समझाती है। प्रिय-प्रवास के राधा-ऊधो संवाद पर श्रीमद्‌भागवत् का कुछ प्रभाव है। सूर एवं अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने ऊधो के सर्वान्तिर्यामी निर्गुण ब्रह्म खण्डन गोपियों से कराया है। भागवत में गोपियाँ ऊधो के ब्रह्म के आगे सिर झुका लेती है। प्रिय प्रवास की राधा भी कृष्ण के विराट् रूप, विश्वात्मा रूप की पुष्टि करती है और उसी में लीन हो जाती है।

वह ऊधो से कहती है—

तारायों में तिमिर हर में वह्नि विद्युल्लता में,
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसी की।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में,
मैं पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में श्याम की ही ॥१६–१०१॥

राधा अपने को बहुत ऊपर उठा लेती है जब वह ऊधो से कहती है—

प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें ॥ १६–९८ ॥

राधा अपने दुख से दुखी नहीं है। वह व्यथित है ब्रजवासियों के दुखों से—

मैं ऐसी हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक मग्ना।
हाँ ! जैसी हूँ व्यथित-ब्रजवासियों के दुखों से ॥ १६–१३२ ॥

अतः अब मैं अपने को ब्रजवासियों के दुःख दूर करने और विश्वहित कार्य करने में लगा दूँगी। ऊधो, कह देना ! मैं अब विवाह न करूँगी और अपने जीवन को जनसेवा में अर्पित कर दूँगी—

सत्कर्मी है परम शुचि है आप ऊधो सुधी है
अच्छा होगा सनय प्रभु से आप चाहें यही जो।
आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ
मेरा कौमार व्रत-भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥ ६१–१३५ ॥

राधा ने यही किया भी। उन्होंने अपने आप को लोकहित में डुबो दिया।

एक ओर वह कृष्ण के माता पिता का बड़ा ध्यान रखती थी उनकी स प्रकार से सहायता करती थी। वह यशोदा के घर जाकर उनको समझात थी। यदि कभी यशोदा अस्वस्थ हो जाती थी तो राधा, आठों पहर उनके पलंग के पास बैठकर सेवा करती थी। शोकमग्ना माता यशोदा को राधा अपने अंक मे भर लेती थी, उनके चरणों को दबाती थी। मीठे-मीठे शब्दों से वह यशोदा को धैर्य देती थी। नन्द को वह शास्त्र पढ़कर सुनाती थी और संसार विभव की तुच्छता समझती थी।

एक विरह विधुरा बालिका चन्द्रमा से आग निकलती देखकर तड़प रही थी। राधा उसके पास गई। उसे धीरे से सहलाया और बोली—तू तो बड़ी बुद्धिमती है। क्या तू चन्द्रमा में प्यारे कृष्ण की मुख-कांति नही देख रही है। फिर क्यो व्यथित होती है। जैसे ही वहाँ से निकल रही थी, पास के घर मे एक अन्य गोप बाला को मुर्छित पाया। राधा ने उसके मुख पर शीतल जल के छींटे दिये। फिर पंखे मे हवा की। कमल पुष्प और पत्तों को बिछाकर विरह तप्त बाला को लिटा दिया। चंदन और अगर का ठण्ढा लेप बनाया और उसके शरीर पर लगाया। रात्रि हो गयी थी। एक बाला रो रही थी, तारो को कोस रही थी। उसे किसी भी प्रकार नींद न आ रही थी। राधा, रात भर उसके पास बैठकर उसे ढाढस देती रही। प्रातःकाल उसने कुछ गोपियों को गाय ले जाते देखा। आँसू बहा रही थी। राधा ने बाँसुरी बजाई, कृष्णलीला गाई, उन्हे कृष्ण की क्रीडाये सुनाई, उनके साथ नाची।

केवल स्त्रियों को ही नही, पुरुषों को भी वह ढाढस, उत्साह और प्रेरणा प्रदान करती थी। उसने एक दिन कई गोपों को खिन्न, उदास और सिर नीचा किये बैठे पाया। उनके पास जाकर बैठ गयी और मधुरवाणी बोली—भाइयो! यह क्या? आप पुरुष होकर निष्क्रिय और खिन्न बैठे हो; हमे देखो न? उद्योगी बनो। ऐसे कार्य करो जो हमारे प्यारे कृष्ण को प्रिय थे। गायों को ध्यान से चराओ, बन को हिंसक जन्तुओं से रिक्त करो। ऐसे ही कार्य तो उन्हें प्रिय थे। थोड़ी दूर आगे गयी थी कि कुछ गोप बालिकों को उदास बैठे पाया। राधा तुरन्त फूल तोड कर लाई।

पुष्पों के खिलौने बनाए। फिर उनसे बच्चों को खिलाया। उन्हें शिक्षा दी और उनसे कृष्ण लीलाएं कराई। यह बाला सर्वत्र देखी जाती थी—

इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में,
अति सरल स्वभावा सुन्दरी एक बाला।
निशि-दिन फिरती थी प्यार से सिक्त होके
गृह, पथ, बहु बागों, कुञ्ज पुंजो, बनो में ॥ १७—२६ ॥

कोई स्थान ऐसा न था जहाँ उसका वरद हस्त और सेवा भरा पैर न पहुँच पाता था। कवि राधा के इस कार्य की सराहना करता हुआ कहता है—

खो देती थी कलह जनिता आधि के दुर्गुणों को
धो देती थीं मलिन मन की व्यापिनी कालिमाएँ।
बो देती थी हृदय तल में बीज भावज्ञता का
वे थी चिन्ता विजित गृह में शान्ति धारा बहाती ॥१७—४७॥

वे व्रजवासियों की सहायिका बनी थी और सर्व प्रकारेण उनकी सहायता कर रही थी। किन्तु यदि कोई पुरुष कुमार्ग पर जाता दिखाई पड़ता था तो वे उसे डराती और धमकाती थीं। आवश्यकता पड़ती थी तो वे उसे दण्ड देने में न चूकती थी। उनके स्नेह-आँगन में मानव मात्र ही सुख-शाति पाने नहीं बैठते थे वरन पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी उनसे अन्न-पानी और सहायता पाते थे। फलतः व्रज-धरा में वे देवी के समान पूजी जाती थी—

वे छाया थी सुजन शिर की शासिका थी खलों की
कंगालों की परम निधि थी औषधि पीड़ितों की।
दीनों की थी बहन, जननी थीं अनाथाश्रितों की
आराध्या थी व्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं ॥१७—४९॥

जन जीवन को कृष्ण रूप मानने वाली महिमामयी ऐसी राधा ही उपाध्याय जी के प्रिय-प्रवास की नायिका है।

राष्ट्र कवि गुप्त जी और उनकी 'यशोधरा'

डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र

आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। गुप्त जी के व्यक्तित्व ने खड़ी बोली हिन्दी कविता के समूचे काव्य-विकास को प्रभावित किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके द्वारा संपादित 'सरस्वती' के द्वारा न केवल खड़ी बोली काव्यभाषा के रूप में स्थापित हुई वरन् उसका परिष्कार और परिमार्जन कार्य भी सम्पन्न हुआ। भारतेन्दु-युग में कविता की भाषा ब्रजभाषा ही थी। स्वयं भारतेन्दु ने भक्ति और श्रृंगार प्रधान रचनाएँ प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत की। यद्यपि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जन-जागरण सम्बन्धी गीतों की सृष्टि भी की परन्तु प्रधानता उनके काव्य में श्रृंगार-प्रधान रचनाओं की ही रही। द्विवेदी-युग के प्रारम्भ के साथ ही देश में नवजागरण का वातावरण उपस्थित हो गया था। १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी और भारतीय जनता अपनी दीनता और दासता के प्रति सजग हो चुकी थी। भारतीय जनता राजनीति, धर्म साहित्य और कला के क्षेत्रों में अपनी नगण्य स्थिति को समझने लगी थी। सामाजिक जीवन की विषमता और कुरीतियों ने भी उसे अपनी ओर आकृष्ट किया था और वह इन सबसे मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील हो उठी थी।

राष्ट्रकवि गुप्त जी ने काव्य-क्षेत्र में जब प्रवेश किया तो भारतीय जन-जीवन में अनेक प्रकार के उथल-पुथल हो रहे थे। अंग्रेजों की "विभाजन-

नीति" का रहस्योद्‌घाटन हो चुका था और समस्त हिन्दू जनता एक राष्ट्रीय संगठन बनाने मे प्रयत्नशील थी। भारतीय जनता ने अनेक गाढे अवसरों पर अंग्रेजो का साथ दिया था परन्तु उसका कुछ भी फल उन्हे प्राप्त न हो सका था। अनेको बार के आश्वासन झूठे पड़ गये थे अस्तु अब वह सहज ही अंग्रेजो पर विश्वास भी नहीं कर सकती थी। अनेको बार अंग्रेजो ने उनकी भावनाओं को आघात पहुँचाया था अस्तु अब वे उसका मूल्य चुकाना चाहते थे। अंग्रेजो शिक्षा धीरे-धीरे भारतवासियो के हृदय मे सामाजिक और राजनीतिक चेतना को जाग्रत कर रही थी। वर्तमान स्थिति दयनीय होने पर भी वे भारतीय स्वर्णिम अतीत की सुखद कल्पना मे आनन्दित होने लगे थे। सदियो से चली आती हुई पराधीनता के कारण भारतीय समाज छिन्न-भिन्न और विशृंखल हो रहा था। मानव-जीवन मूल्य-मर्यादाओ से विघटित हो रहा था। फूट, कलह और अशिक्षा के कारण उनका जीवन अत्यंत शोचनीय और दयनीय हो रहा था। समाज मे स्त्रियो की दशा विशेष चिंतनीय थी। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, बहु-विवाह और अनमेल विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों की वे शिकार थी। अशिक्षा पर्दा-प्रथा और अंधविश्वासो के कारण वे पशुतुल्य नारकिक जीवन व्यतीत कर रही थी। भारतीय किसान दीनता और अभावो का जीवन जी रहे थे। उन पर करों का बोझ लाद दिया गया था, उनकी कमर ही मानो तोड दी गयी थी। इतना सब होते हुए भी अंग्रेजो शिक्षा उनमे सामाजिक और राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर रही थी। भारतीय जनता मे अपनी संस्कृति और सभ्यता, कला और साहित्य के प्रति गौरव की भावना जागृत होने लगी थी।

धार्मिक दृष्टि से गुप्त जी का युग सुधारों का युग था। कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बरों के प्रति अश्रद्धा का भाव व्यक्त किया जा रहा था। कोई जन्म का न तो ऊँचा है और न नीचा। गुण और कर्मानुसार समाज मे उसका स्थान निर्धारित होना चाहिए। कर्म का ही विशेष महत्व है, जन्म का नही। वर्ण-व्यवस्था का महत्व धीरे-धीरे कम हो रहा था। महर्षि दयानंद और राजाराम मोहन राय आदि सुधारकों के द्वारा धर्म को अधिक उदार

और व्यापक रूप प्रदान किया जा रहा था। धर्म को सर्वसुलभ बनाकर उनके द्वारा चरित्र-निर्माण का कार्य सम्पन्न किया जा रहा था।

उपरिलिखित सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में लोचन प्रसाद पाण्डेय, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय आदि गुप्त जी के सम-सामाजिक कवि साहित्य-सृजन का कार्य कर रहे थे। इन कवियों की शैली में प्राचीन शैली की तन्मयता और नवीन शैली की सजीवता का हम एक साथ दर्शन कर सकते है।

अनुवादों द्वारा हिंदी साहित्य प्रांतीय और विदेशी साहित्यों के सम्पर्क में आ रहा था। श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी साहित्य से कुछेक कृतियों का अनुवाद किया। स्वयं गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाथ-वध' का सफल अनुवाद किया।

बंगला से बंकिम, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत्चन्द्र के साहित्य का अनुवाद भी हिन्दी में हो रहा था। इस प्रकार अनुवादों के द्वारा हिन्दी साहित्य अंग्रेजी और बंगला के विशेष सम्पर्क में आया। छायावादी हिन्दी कविता भी जन्म ग्रहण कर चुकी थी जिसमें लौकिकता और पारलौकिकता का सुन्दर समन्वय था।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप ही खड़ी बोली हिन्दी काव्य-भाषा के रूप में स्थापित हुई। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी के स्वरूप का निर्धारण किया और भाषा को यथोचित परिष्कृत और परमार्जित किया। मैथिलीशरण गुप्त उन कवियों में से एक है जिन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली के माध्यम से काव्य-रचना प्रारम्भ की। उनकी रचनाएँ सर्वप्रथम 'सरस्वती' के माध्यम से प्रकाशित हुईं। भाषा के साथ ही साथ द्विवेदी-युग में छन्दों में भी परिवर्तन हुआ। कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि के स्थान पर नवीन संस्कृत वृत्ति अथवा रसानुकूल छंदों का व्यवहार किया जाने लगा।

गुप्त जी की साहित्य-साधना लगभग आधी शताब्दी से अबाध गति से चली आ रही है। आपने अब तक कुल मिलाकर लगभग चालीस ग्रन्थों

की रचना की है। आपने पौराणिक धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। आपने इन विविध-विषक प्रधान रचनाओं में मुक्तक, चम्पू, खण्ड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य तथा नाटकीय शैलियों का प्रयोग किया है। गुप्त जी प्रधान रूप से एक कलाकार हैं। भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है, जिसकी सहायता से वे अपने लक्ष्य तक सरलतापूर्वक पहुँच जाते है।

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' का प्रकाशन सन् १६३२ मे हुआ था। 'साकेत' महाकाव्य के प्रणयन की मूल प्रेरणा कवि को द्विवेदी जी के 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख से मिली थी। द्विवेदी जी का यह लेख कवीन्द्र रवीन्द्र के लेख' काव्येर उपेक्षिता' से प्रेरित होकर लिखा गया था। इस प्रकार कवियो ने जिस उर्मिला की उपेक्षा की थी उसी को काव्य का वर्ण विषय बनाकर गुप्त जीने उसके चरित्र को प्रतिष्ठापित किया। साकेतकार ने 'साकेत' मे उर्मिला को आवश्यकता से अधिक रुला दिया है। स्वय महात्मा गाँधी जी का भी ऐसा ही अभिमत था। साकेत मे कुल मिलाकर बारह सर्गो मे कथानक का विस्तार हुआ है। विशेषता इस बात मे है कि जहाँ रामायण की कथा उत्तर भारत मे लेकर लंका तक फैल हुयी है वहाँ साकेतकार ने 'साकेत' के अन्तर्गत ही सारी कथा को समेट लिया है। कथानक वर्णन प्रधान है। साकेत मे लक्ष्मण काव्य के नायक और उर्मिला काव्य की नायिका है, इसीलिए कवि को लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र का उद्घाटन ही अभीष्ट है। और उर्मिला के चरित्र को आवश्यकता से अधिक उभार देने के कारण लक्ष्मण का चरित्र भी दब गया है। उर्मिला का विरह-वर्णन भी अतिरंजनापूर्ण है। उसके विरह मे यह सामर्थ्य नही कि वह साकेतवासियो को भी रुला सके। कदाचित् गुप्त जो ने उर्मिला विषयक त्रुटियो के परिहार के लिए 'यशोधरा' की रचना की। यशोधरा को विरह और कर्त्तव्य के बीच डालकर आदर्श नारी रूप की प्रतिष्ठा की गयी है।

'यशोधरा' गुप्त जी की एक प्रौढ रचना है। इसका प्रकाशन सन् १६३३ मे हुआ था। 'यशोधरा' की कथा वस्तु का सम्बन्ध भगवान बुद्ध से

श्रौर व्यापक रूप प्रदान किया जा रहा था। धर्म को सर्वसुलभ बनाकर उनके द्वारा चरित्र-निर्माण का कार्य सम्पन्न किया जा रहा था।

उपरिलिखित सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में लोचन प्रसाद पाण्डेय, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय आदि गुप्त जी के सम-सामाजिक कवि साहित्य-सृजन का कार्य कर रहे थे। इन कवियों की शैली में प्राचीन शैली की तन्मयता और नवीन शैली की सजीवता का हम एक साथ दर्शन कर सकते है।

अनुवादों द्वारा हिंदी साहित्य प्रांतीय और विदेशी साहित्यो के सम्पर्क मे आ रहा था। श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी साहित्य से कुछेक कृतियो का अनुवाद किया। स्वयं गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाथ-वध' का सफल अनुवाद किया।

बंगला से बंकिम, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत्चन्द्र के साहित्य का अनुवाद भी हिन्दी मे हो रहा था। इस प्रकार अनुवादों के द्वारा हिन्दी साहित्य अंग्रेजी और बंगला के विशेष सम्पर्क मे आया। छायावादी हिन्दी कविता भी जन्म ग्रहण कर चुकी थी जिसमे लौकिकता और पारलौकिकता का सुन्दर समन्वय था।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सतत प्रयत्नो के फलस्वरूप ही खड़ी बोली हिन्दी काव्य-भाषा के रूप में स्थापित हुई। उन्होने खडी बोली हिन्दी के स्वरूप का निर्धारण किया और भाषा को यथोचित परिष्कृत और परमार्जित किया। मैथिलीशरण गुप्त उन कवियों मे से एक है जिन्होने सर्वप्रथम खड़ी बोली के माध्यम से काव्य-रचना प्रारम्भ की। उनकी रचनाएँ सर्वप्रथम 'सरस्वती' के माध्यम से प्रकाशित हुई। भाषा के साथ ही साथ द्विवेदी-युग मे छन्दो में भी परिवर्तन हुआ। कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि के स्थान पर नवीन संस्कृत वृत्ति अथवा रसानुकूल छंदों का व्यवहार किया जाने लगा।

गुप्त जी की साहित्य-साधना लगभग आधी शताब्दी से अबाध गति से चली जा रही है। आपने अब तक कुल मिलाकर लगभग चालीस ग्रन्थों

की रचना की है आपने पौराणिक धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषयो पर अपनी लेखनी चलाई है। आपने इन विविध-विषक प्रधान रचनाओ में मुक्तक, चम्पू, खण्ड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य तथा नाटकीय शैलियो का प्रयोग किया है। गुप्त जी प्रधान रूप से एक कलाकार है। भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है, जिसकी सहायता से वे अपने लक्ष्य तक सरलतापूर्वक पहुँच जाते है।

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' का प्रकाशन सन् १९३२ मे हुआ था। 'साकेत' महाकाव्य के प्रणयन की मूल प्रेरणा कवि को द्विवेदी जी के 'कवियो की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख से मिली थी। द्विवेदी जी का यह लेख कवीन्द्र रवीन्द्र के लेख' काव्येर उपेक्षिता' से प्रेरित होकर लिखा गया था। इस प्रकार कवियों ने जिस उर्मिला की उपेक्षा की थी उसी को काव्य का वर्ण विषय बनाकर गुप्त जीने उसके चरित्र को प्रतिष्ठापित किया। साकेतकार ने 'साकेत' मे उर्मिला को आवश्यकता से अधिक रुला दिया है। स्वय महात्मा गाँधी जी का भी ऐसा ही अभिमत था। साकेत मे कुल मिलाकर बारह सर्गो मे कथानक का विस्तार हुआ है। विशेषता इस बात मे है कि जहाँ रामायण की कथा उत्तर भारत से लेकर लंका तक फैल हुयी है वहाँ साकेतकार ने 'साकेत' के अन्तर्गत ही सारी कथा को समेट लिया है। कथानक वर्णन प्रधान है। साकेत में लक्ष्मण काव्य के नायक और उर्मिला काव्य की नायिका है, इसीलिए कवि को लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र का उद्घाटन ही अभीष्ट है। और उर्मिला के चरित्र को आवश्यकता से अधिक उभार देने के कारण लक्ष्मण का चरित्र भी दब गया है। उर्मिला का विरह-वर्णन भी अतिरंजनापूर्ण है। उसके विरह मे यह सामर्थ्य नही कि वह साकेतवासियो को भी रुला सके। कदाचित् गुप्त जी ने उर्मिला विषयक त्रुटियों के परिहार के लिए 'यशोधरा' की रचना की। यशोधरा को विरह और कर्त्तव्य के बीच डालकर आदर्श नारी रूप की प्रतिष्ठा की गयी है।

'यशोधरा' गुप्त जी की एक प्रौढ़ रचना है। इसका प्रकाशन सन् १९३३ मे हुआ था। 'यशोधरा' की कथा वस्तु का सम्बन्ध भगवान बुद्ध से

है गौतम बुद्ध के गृह त्याग से कथा का आरम्भ होता है, और यशोधरा के वियोगिनी और जननी रूपो मे इसका विकास होता है। गौतम बुद्ध के घर प्रत्यागमित होने के साथ ही कथा का अन्त होता है। कथानक अत्यन्त स्वल्प है, घटनाओ का विस्तार न होकर भावनाओ का ही विस्तार है। जिन कुछ घटनाओ को आयोजित किया है, उन्हे मानस शैली मे रखा गया है। संक्षेप मे कथानक इस प्रकार है :—

मंगला चरण मे कवि ने राम की वन्दना की है। कवि ने अमिताभ के विशिष्ट विशेषण को राम के साथ प्रयुक्त करके राम और बुद्ध मे अभेद स्थापित किया है। इसके पश्चात् 'महाभिनिष्क्रमण' के पूर्व गौतम के हृदय के उद्वेलन का चित्रण किया गया है। संसार को असार बताकर गौतम गृह-त्याग करते है। सोती हुई पत्नी और पुत्र को छोड़कर छन्दक से अश्व मँगवाकर अर्ध-रात्रि मे प्रस्थान करते हैं। इसके उपरान्त वियोगिनी यशो-धरा जिसके वियोग की अवधि भी नही है के वियोग का, उसके हृदय की ग्लानि और लज्जा का चित्रण किया गया है। सौतेली माँ महाप्रजावती अपनी आकुलता मे अपने को स्वयं कैकेयी के समकक्ष रखती है। यद्यपि उसका स्थान कौशिल्या का ही है। शुद्धोधन दशरथ के सदृश्य है। पुर-जन अयोध्या के उन नागरिको के सदृश्य है जो राम के रथ के पीछे बहुत दूर तक चले गये थे। छन्दक सुमंत्र के स्थान पर है। इस प्रकार कथा का प्रारम्भ मानस के ढंग पर चलता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसके बाद यशोधरा के विरह और मातृत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यशोधरा विर-हणी के रूप मे वैष्णव भक्तो की तरह अपने स्वाभिमान की रक्षा भी करती है और अपने लाल राहुल का पालन पोषण भी करती है। गुप्त जी ने यशोधरा को विरह की स्थिति मे मानिनी रूप मे चित्रित किया है। यहाँ तक कि गौतम के सिद्धि-लाभ करके वापस लौटने पर भी वह अपने कक्ष से बाहर नही निकलती है। स्वयं गौतम को आकर के उसके स्वाभिमान की रक्षा करनी पड़ती है और उसे गौरव प्रदान करना पड़ता है। मानिनी यशोधरा भी अपने सारे उलाहने भूल जाती है। और फिर जब भगवान ने ही आकर भक्त से मान भंग की प्रार्थना की तो फिर क्यों न उसका मान भंग

हो ? गौतम उसे नारी-महत्व की शिक्षा देते हैं।

यशोधरा अपने राहुल को उन्हे सौपती है, गौतम उसे दीक्षा देते है और इस प्रकार कथा का अंत होता है।

'यशोधरा' की कथावस्तु का संगठन कवि ने बड़े कौशल पूर्ण ढग से किया है। कथानक मे मार्मिक स्थलो को प्रधानता दी गयी है। गौतम की गौरव-गाथा की पृष्ठभूमि मे कवि ने यशोधरा की करुण कहानी बड़े ही मार्मिक ढग से कही है। गौतम की आरम्भिक जीवन-कथा को यशोधरा की स्मृति मे लाकर, आगे की कथा का सूत्र कलापूर्ण ढग से जोड़ दिया गया है। राहुल को कहानी सुनाने के बहाने देवदत्त द्वारा शरविद्ध हंस की प्राण-रक्षा की घटना कह दी गयी है। विवाहोत्सव के अवसर पर चित्र प्रस्तुत करके राहुल की माता की किशोरावस्था का आभास करा दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि मार्मिक स्थलो का चित्रण ही कवि को अभीष्ट है। कवि का ध्यान प्रबन्ध निर्वाह की ओर अधिक न होकर मार्मिक स्थलो के चयन की ओर विशेष है। इसलिए इस काव्य मे गीति काव्य के तत्वो की प्रधानता है। गेयता, संगीतात्मकता, अनुभूति की सघनता ध्वन्यात्मकता आदि गीति तत्वो का सम्यक स्फुरण इस काव्य में हुआ है। इसलिए 'यशोधरा' को 'गीतात्मक-प्रबन्ध' की सज्ञा प्रदान की गयी है। कवि ने वियोग और वात्सल्य रसो के स्थलो को विशेष मार्मिकता के साथ ग्रहण किया है।

'यशोधरा' एक चरित्र प्रधान काव्य है। गौतम, यशोधरा और राहुल प्रमुख पात्र पात्र है। 'यशोधरा' काव्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पात्र है, जिसके नाम के आधार पर काव्य का नामकरण हुआ है। वियोग और वत्सल्य ही उसके चरित्र के प्रधान अंग है। यशोधरा की रचना के मूल मे नारी जीवन की पूर्णता का चित्रण ही कवि को अभीष्ट रहा है। वियोगिनी उर्मिला से उठकर वात्सल्यमयी माता के रूप मे चित्रित करना भी कवि का उद्देश्य है। इसके साथ ही भारतीय नारी की कारुणिक स्थिति का उद्‌घाटन भी, यशोधरा के माध्यम से, कवि को अभीष्ट है। मध्ययुगीन सतो ने नारी को माया का पर्याय बताकर उसे आध्यात्मिक विकास के मार्ग

मे बाधक बताया था। रीति युग मे उसे क्षणिक वासना का प्रेरक मानकर केवल नायिका रूप मे स्वीकार किया था। अतः आधुनिक युग मे उसकी दयनीय विवश मूर्ति की ओर सभी का ध्यान जाना स्वाभाविक था भारतेन्दु युग मे नारीत्व के गौरव को स्वीकार किया गया था तो द्विवेदी युग ने उसके जीवन मूल्य को स्वीकार किया था। गुप्त जीने भी युग से प्रभावित होकर उपेक्षित नारी पात्रो का चरित्रांकन कार्य प्रारम्भ किया। 'यशोधरा' का चरित्र युग की इन्ही प्रवृत्तियो की छाया मे निर्मित हुआ था। गुप्त जी ने यशोधरा के चरित्र मे विगत सहस्रा वर्षों की विवशता की रेखाओ का अकन किया है। नारी को या तो पति के वियोग मे रोने का अधिकार है या सन्तान के प्रति हृदय का समस्त स्नेह और दुलार अर्पित करने का। नीचे की दो पंक्तियो मे कितनी मार्मिकता के, साथ गुप्त जी ने नारी की दयनीय स्थिति का चित्रांकन किया है, देखते ही बनता है—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल मे है दूध और आँखों में पानी।"

'यशोधरा' का चरित्र सम्पूर्ण भारतीय नारी जाति का प्रतिनिधित्व करता है। जीवन की सम्पूर्ण वेदना को चुपचाप पी लेना, यही भारतीय नारी का आदर्श रहा है। यशोधरा वियोग की ज्वाला मे तिल-तिल जलती है। मरण का भी वह स्वागत करने को तत्पर है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यशोधरा को अपनी व्यथा को प्रकट करने का अधिकार भी नही है। उसे बराबर इस बात की चिन्ता बनी रहती है कि कहीं उसकी यह दुर्बलता उसके पुत्र पर प्रकट न हो जाय। उसका हृदय बराबर रोता रहता है परन्तु पुत्र के लिए बराबर वह हंसने का अभिनय किया करती है। पति की अनुपस्थिति मे पुत्र की मंगल कामना ही उसका एकमात्र कर्तव्य है। वह उसी की नींद सोती है, उसी की नींद जगती है। उसका वियोग कर्तव्य की छाया मे पवित्र हो उठता है।

पति के पुनरागमन पर भी यशोधरा अपने गौरव को सुरक्षित रखती है। यशोधरा के मन मे वैष्णव भक्ति की परम विरहासक्ति तथा पातिव्रत का सहज तेज एक साथ साकार हो उठा है। उसके मान की प्रतिष्ठा अन्ततः

गौतम के द्वारा करायी गया है अभिमानी भक्त हठी बालक क या मानिनी नायिका का रूप ले लेता है। भगवान को बरबस खिचकर भक्त के पास आना पड़ता है और उस उचित गौरव और सम्मान देना पड़ता है। "मानिनी मान तजो, लो रही तुम्हारी बानि' मे मानो युग-युग की उपेक्षित नारी को पुरुष जाति के द्वारा समर्थन प्राप्त हुआ है। यशोधरा का विरह बड़ा ही मार्मिक और औचित्य पूर्ण है। गोपियों का विरह सैद्धान्तिक आदर्शों की उद्भावना के लिए विस्तार पा सका है, न कि परिस्थितिगत औचित्य के आधार पर। सीता के विरह मे परिस्थितिगत औचित्य के होते हुए भी मर्यादा का औचित्य अधिक है। नागमती क वियोग मे प्रकृति और पुरुष के चिरन्तन वियोग की स्फुट रहस्यात्मक छाया मे शुद्ध काव्य न्याय की प्रतिष्ठा मे यत्किंचित बाधा उपस्थित की है। उर्मिला का वियोग अवधि की सीमा मे बँधा है। यशोधरा के सामने न तो अवधि का आधार है और न आशा की रेखा। जब कभी प्रकाश की ज्योति फूटी भी है तो वह परिस्थितियो से उद्भूत न होकर यशोधरा के अन्तस से ही प्रकाशित हुई है। यशोधरा के विरह की सबसे बड़ी विशेषता इस बात की है कि न तो इसमे रीति कालीन हिंदी कवियो की भाँति आत्मकता है और न अस्वाभाविकता।

इस विरह की ही दूसरी सीमा रेखा वात्सल्य है। यह वात्सल्य वर्णन स्वतंत्र न होकर विरह की स्थिति का आधार बनकर आया है। विरह की विपरीत परिस्थितियों मे राहुल का आधार यशोधरा को सान्त्वना देता रहा है। यशोधरा के वात्य वर्णन मे अधिक ध्यान आलम्बन की चेष्टाओं के वर्णन मे लगाया गया है। यशोधरा के वात्सल्य वर्णन मे सूर के बाल-वर्णन का प्रभाव भी स्पष्ट है। कुल मिलाकर विरह और वात्सल के माध्यम से चित्रित यशोधरा का चरित्र युग की मान्यताओं से एक कदम भी आगे नही बढ़ सका है। कवि ने उसके विवश रूप को ही स्वीकार किया है। यशोधरा के व्यक्तित्व की मूल प्रेरणा मध्य-युग के विरह-कातर भक्त की स्थिति से ली गई है। मध्ययुगीन भक्त का विरही रूप युगजनित विवशता का ही सांकेतिक रूप है। भगवान का आकर भक्त को गौरव

प्रदान करना मात्र एक सुखद कल्पना थी, जिससे आज की स्वतंत्र नारी का सृजन नहीं हो सकता।

'यशोधरा' काव्य का दूसरा महत्वपूर्ण चरित्र राहुल का है। गुप्त जी ने राहुल के बाल-चित्रण में बहुत सफलता नहीं पायी है। उसके चरित्र में स्वाभाविकता कम है। उसके वार्तालाप साधारण बालक के वार्तालाप नहीं हैं। वह माँ से प्रश्न करता है कि माँ मेरी बात तू समझ कैसे जाती है? इसी प्रकार अन्य और प्रश्न करता है जिससे प्रकट होता है कि राहुल मध्ययुग का भोला बालक न होकर आधुनिक युग का प्रबुद्ध बालक है। कहीं-कहीं वर्णन बहुत ही स्वाभाविक और सजीव है। वय के साथ उसकी बुद्धि भी प्रौढ़ होती गयी है। वह माँ की तुलना पिता से करता हुआ काव्यात्मक प्रतिभा का परिचय भी देता है। वह एक मेधावी, कविता और कला प्रेमी बालक है। राहुल के चरित्र की स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता, दोनों मिलकर उसके चरित्र को असाधारण बना देते हैं। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राहुल राजकुमार है, असाधारण माता-पिता की संतान होने के कारण उसमें भी असाधारणता है।

गौतम के चरित्र में कोई विशेष नवीनता नहीं है। वे एक निस्पृह, लोक सेवक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। उनके चरित्र में गांधीवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। गौतम का चरित्र यशोधरा के चरित्र को ही विकसित करता है।

रस की दृष्टि से, 'यशोधरा' एक मौलिक कृति है। यशोधरा का वियोग और वात्सल्य इस कृति के प्रमुख रस हैं, जो शांति के सम्पुट में सन्निहित कर दिये गए हैं। कथारम्भ गौतम के निर्वेदात्मक विचारों से होता है। उन्होंने वृद्ध और मृत व्यक्तियों को देखकर घर का त्याग किया अस्तु ये ही कारण उनके गृह-त्याग के उद्दीपन हैं। असार संसार के प्रति उनके हृदय में विरक्ति का भाव जाग्रत हुआ। ग्लानि, तर्क, विचरण, उत्साह आदि संचारी निर्वेद को व्यक्त करते हैं। वियोग-शृंगार की आश्रय यशोधरा है और आलम्बन गौतम। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत वे परिस्थितियाँ आती हैं जो भावनाओं को उद्दीप्त करती हैं। अनुभाव के रूप में यशोधरा की

विविध चेष्टाय है बा सन का आश्रय यशोधरा है और आलम्बन राहुल बाल क्रीडाय उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत आता है । माता के हृदय का हर्ष, पुत्र के ऊपर उसका अभिमान, गर्व आदि संचारी भाव है । शृंगार और वात्सल रसों की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि दोनों एक दूसरे के संचारी भावों के रूप में प्रयुक्त किए गए है । यशोधरा के इस कथन में—

"स्वामी मुझको मरने का भी दे न गए अधिकार ।
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार ॥
जिये जल-जल कर कायर सी ।
मरण सुन्दर बन आया री !!"

उसके वियोग की विवशता राहुल के प्रति ममता द्वारा उद्दीप्त होती है । यशोधरा का हृदय यद्यपि स्वामी के लिए रोता है परन्तु अपने राहुल के लिए वह हँसती है । वियोग वात्सल द्वारा उद्दीप्त होता है—

"क्यों न हँसू-रोऊँ-गाऊँ मैं, लगा मुझे यह टोना ।
आर्य पुत्र आओ, सचमुच मे, दूँगी चाँद खिलौना ।"

यशोधरा की वियोग-भावना स्वामी की मूर्ति देखकर उद्दीप्त हो उठती है । लुका-चोरी के खेल में राहुल जीत जाता है और माता हार स्वीकार कर लेती है । इस प्रकार वत्सल्य की सृष्टि वियोग-शृंगार की भावना द्वारा हो जाती है । अन्त में कवि शृंगार, वात्सल्य और शांत का अद्भुत रसायन प्रस्तुत करता है । गौतम और यशोधरा का मिलन, यशोधरा का राहुल को पिता के चरणों में अर्पण, राहुल का दीक्षा ग्रहण करना आदि दृश्य सम्पूर्ण वातावरण को शांति मय कर देते है ।

'यशोधरा' कला के स्तर पर भी एक श्रेष्ठ कृति है । गुप्त जी एक सहृदय और भावुक कवि है । वे एक सजग कलाकार है, उनकी कृतियों की यशभित्ति का आधार उनकी कला है । वे बुद्धि के माध्यम से हृदय का स्पर्श करते है । 'यशोधरा' के निर्माण में कवि की कल्पना का प्रमुख हाथ रहा है । मानस की कथा पर यशोधरा की कथा को सफलतापूर्वक चलाना उनकी कल्पना शक्ति का ही चमत्कार है । रामायण युग की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि को बुद्ध-युग के साथ संयुक्त कर देते मे कवि की कल्पना का ही हाथ

प्रदान करना मात्र एक मुग्धकर कल्पना थी, जिससे आज की स्वतंत्र नारी का सृजन नहीं हो सकता।

'यशोधरा' काव्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र राहुल का है। गुप्त जी ने राहुल के बाल-चित्रण में बहुत सफलता नहीं पायी है। उसके चरित्र में स्वाभाविकता कम है। उसके वार्तालाप साधारण बालक के वार्तालाप नहीं है। वह मा से प्रश्न करता है कि माँ मेरी बात तू समझ कैसे जाती है? इसी प्रकार अन्य और प्रश्न करता है जिससे प्रकट होता है कि राहुल मध्ययुग का भोला बालक न होकर आधुनिक युग का प्रबुद्ध बालक है। कहीं-कहीं वर्णन बहुत ही स्वाभाविक और सजीव है। वय के साथ उसकी बुद्धि भी प्रौढ होती गयी है। वह माँ की तुलना पिता से करता हुआ काव्यात्मक प्रतिभा का परिचय भी देता है। वह एक मेधावी, कविता और कला प्रेमी बालक है। राहुल के चरित्र की स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता, दोनों मिलकर उसके चरित्र को असाधारण बना देते है। सक्षेप मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राहुल राजकुमार है, असाधारण माता-पिता की सतान होने के कारण उसमे भी असाधारणता है।

गौतम के चरित्र मे कोई विशेष नवीनता नहीं है। वे एक निस्पृह, लोक सेवक के रूप म हमारे सम्मुख आते है। उनके चरित्र मे गाधीवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। गौतम का चरित्र यशोधरा के चरित्र को ही विकसित करता है।

रस की दृष्टि से, 'यशोधरा' एक मौलिक कृति है। यशोधरा का वियोग और वात्सल्य इस कृति के प्रमुख रस है, जो शाति के सम्पुट मे सन्निहित कर दिये गए हैं। कथारम्भ गौतम के निर्वेदात्मक विचारो से होता है। उन्होने वृद्ध और मृत व्यक्तियो को देखकर घर का त्याग किया अस्तु ये ही कारण उनके गृह-त्याग के उद्दीपन है। असार संसार के प्रति उनको हृदय मे विरक्ति का भाव जाग्रत हुआ। ग्लानि, तर्क, विचरण, उत्साह आदि संचारी निर्वेद को प्रकट करते है। वियोग-शृंगार की आश्रय यशोधरा है और आलम्बन गौतम। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत वे परिस्थितियाँ आती हैं जो भावनाओ को उद्दीप्त करती है। अनुभाव के रूप मे यशोधरा की

विविध चेष्टायें है। वात्सल की आश्रय यशोधरा है और आलम्बन राहुल बाल-क्रीड़ाये उद्दीपक विभाग के अन्तर्गत आती है। माता के हृदय का हर्ष, पुत्र के ऊपर उसका अभिमान, गर्व आदि संचारी भाव है। शृंगार और वात्सल रसों की सबसे बडी विशेषता इस बात मे है कि दोनो एक दूसरे के संचारी भावो के रूप मे प्रयुक्त किए गए है। यशोधरा के इस कथन मे—

"स्वामी मुझको मरने का भी दे न गए अधिकार।
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार॥
जिये जल-जल कर कायर सी।
मरण सुन्दर बन आया री!!"

उसके वियोग की विकलता राहुल के प्रति ममता द्वारा उद्दीप्त होती है। यशोधरा का हृदय यद्यपि स्वामी के लिए रोता है परन्तु अपने राहुल के लिए वह हँसती है। वियोग वात्सल द्वारा उद्दीप्त होता है—

"क्यो न हँसू-रोऊँ-गाऊं मै, लगा मुझे यह टोना।
आर्य पुत्र आओ, सचमुच मैं, दूँगी चाँद खिलौना।"

यशोधरा की वियोग-भावना स्वामी की मूर्ति देखकर उद्दीप्त हो उठती है। लुका-चोरी के खेल मे राहुल जीत जाता है और माता हार स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार वत्सल्य की सृष्टि वियोग-शृंगार की भावना द्वारा हो जाती है। अन्त मे कवि शृंगार, वात्सल्य और शात का अद्‌भुत रसायन प्रस्तुत करता है। गौतम और यशोधरा का मिलन, यशोधरा का राहुल को पिता के चरणो मे अर्पण, राहुल का दीक्षा ग्रहण करना आदि दृश्य सम्पूर्ण वातावरण को शांति मय कर देते है।

'यशोधरा' कला के स्तर पर भी एक श्रेष्ठ कृति है। गुप्त जी एक सहृदय और भावुक कवि है। वे एक सजग कलाकार हैं, उनकी कृतियो की यशभित्ति का आधार उनकी कला है। वे बुद्धि के माध्यम से हृदय का स्पर्श करते हैं। 'यशोधरा' के निर्माण मे कवि की कल्पना का प्रमुख हाथ रहा है। मानस की कथा पर यशोधरा की कथा को सफलतापूर्वक चलाना उनकी कल्पना शक्ति का ही चमत्कार है। रामायण युग की सांस्कृतिक-पृष्ठ-भूमि को बुद्ध-युग के साथ संयुक्त कर देने मे कवि की कल्पना का ही हाथ

स्वीकार किया जायेगा। यशोधरा के विरह-वर्णन में कवि की कल्पना शक्ति ने पर्याप्त काम किया है। वियोग की दशाओं का चित्र प्रस्तुत करने के लिए कितनी ही घटनाओं की कल्पना की गयी है।

वियोग की 'मरण दशा' का स्वरूप इस प्रकार चित्रित किया गया है—

'मरण सुन्दर बन आया री !
शरण मेरे मन भाया री !
अपने हाथों किया विरह ने उसका सब शृंगार।
पहना दिया उसे उसने मृदु मानस मुक्ताहार।
विरुद विहगों ने गाया री !
फूलों पर पद रख, फूलों पर रच लहरों से रास।
मंद पवन के स्पन्दन पर चढ़, वह आया सविलास।'

मृत्यु के आंतक पूर्ण रूप का इतना मधुर रूप प्रस्तुत करना, कवि की कल्पना शक्ति का ही परिचायक है।

राहुल के बाल-स्वभाव के चित्रण में भी कवि ने कल्पना का सुन्दर उपयोग किया है। यद्यपि कहीं-कहीं कल्पना अस्वाभाविक भी प्रतीत होती है—

"उलट पड़ा वह दिव रत्नाकर, पानी नीचे ढलक रहा।
तारक रत्नहार सखि, उसके खुले हृदय पर झलक रहा।
"निर्दय है या सदय हृदय वह ?" मैंने उससे ललक कहा।
हँस बोला 'ग्रह-चक्र' देख ले पर न उठे ये पलक ह हा।"

उपरोक्त पद्य का भाव इतना असाधारण है कि साधारण पाठक उसके कल्पना-चित्र को सुगमता पूर्वक नहीं समझ सकता।

'यशोधरा' में अलंकारों की छटा भी दर्शनीय है। स्थान-स्थान पर अनुप्रास, यमकश्लेष आदि का कवि ने सफल प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर 'जोड़ूँ-जोड़ूँ', 'तोड़ूँ-तोड़ूँ' का अनावश्यक रूप भी परिलक्षित होता है। कवि को भाषा और उनकी शब्दावली पर पूर्ण अधिकार है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, सन्देह आदि कितने ही अर्थालंकारों का कवि ने सरलतापूर्वक

प्रयोग किया है। विरहिणी यशोधरा अपने केशो के सम्बन्ध में कहती है :—

> "जाओ मेरे सिर के बाल।
> आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले काले बाल ?
> "उसे न हाय ! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल।"

उपरोक्त उदाहरण में भ्रम और सन्देह का कितना स्वाभाविक प्रयोग है। उपमा और व्यतिरेक का उदाहरण गद्य मे प्रस्तुत किया है। राहुल कहता है | "हाँ माँ, मैंने जो आम के पौधे रोपे थे उनमे नयी कोपले निकली है—बडी सुन्दर, लाल, लाल।" माता कहती है—"जैसी तेरी अँगुलियाँ।" राहुल इस उपमा से सन्तुष्ट न होकर कहता है "मेरी अंगुलियाँ तो धनुष की प्रत्यंचा भी खीच लेती है। वे हाथ लगते ही कुम्हला कर तेरे होठो से होड करने लगेंगी।" वर्ण्य कोपलो का उत्कर्ष शीघ्र कुम्हला जाने की सुकुमारता दिखा कर किया है, अस्तु यहाँ व्यतिरेक है।

शैली की दृष्टि से यशोधरा एक गीतात्मक-प्रवन्ध रचना हैं। यशोधरा मे वर्णन और संवेदन का अपूर्व सयोग है। कथा-प्रवाह मे प्रधानत: कवि ने संवाद-शैली का प्रयोग किया है। संवाद-शैली की प्रधानता के साथ कवि ने मुक्त-छन्द का प्रयोग तो किया ही है, साथ ही साथ नाटकीयता का भी आयोजन कर दिया है। सवादों मे प्रलाप, विनोद, ओज और तर्क आदि से पूर्ण शैलियो का प्रयोग किया गया है। गीति-शैली मे संवेदनशीलता का प्राधान्य होते हुए भी अलंकार शैली का ही प्रयोग है। जहाँ पर कवि के गद्य-संवादो मे सामाजिक दृष्टि की प्रधानता है, वह उपदेशात्मक झलकती हैं। यशोधरा मे कवि ने शैलीगत समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। यही दृष्टिकोण छन्दो के क्षेत्र में भी प्रगट हुआ है। पद, दोहा, सोरठा, छायावादी शैली मे लिखे हुए गीत, सभी यशोधरा मे मिलते हैं। मुक्त छन्द का प्रयोग भी हुआ है। भावो के अनुकूल कवि ने छन्दों का चयन किया है।

भाषा की दृष्टि से भी 'यशोधरा' एक पूर्ण सफल कृति है। कवि ने रस के अनुकूल भाषा का निर्माण सफलतापूर्वक किया है। हमारा कवि

भाषा का माहिर है। भाषा उसके सकेतों पर चलती है। कहीं-कहीं भाषा में प्रान्तीयता और रूक्षता भी प्रकट होती है परन्तु सामान्यतः वह प्रौढ और परिमार्जित है। गुप्त जी की भाषा मे ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुण पाये जाते है। 'ओज' का उदाहरण लीजिए—

'बैठ रहती मै ? छान डालती धरि भी को।
सिहनी-सी काननो मे, योगिनी-सी शैलो मे,
शफरी-सी जल मे, विहगिनी-सी व्योम मे,
जाती तभी और उन्हे खोज कर लाती मैं।'

प्रसाद गुण का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"उनका यह कुज कुटीर वही
झडता उड अंशु—अबीर जहाँ।
अलि कोकिल, कीर, शिखी सब है
सुन चातक की रट पीव कहाँ ?
अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि जा पहुँचे सुध-संग कहीं,
यह अन्य सुगन्ध समीर वहाँ।'

भावव के स्थल 'यशोधरा' मे स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते है। वसन्त, के आगमन पर, यशोधरा माली से कहती है—

"समय स्वयं यह सजा रहा है, डगर डगर मे डाली।
मृदु समीर यह बजा रहती है, नीर नीर पर ताली।
❀
लता कण्टकित हुई ध्यान से ले कपोल की लाली।
फूल उठी है हाय ! मान से प्राण भरी हरियाली॥
ओ मेरे बनमाली।"

गुप्त जी की भाषा मे मुहावरों और लोकोक्तियो का भी प्रयोग किया गया है। भाषा मे चुस्ती और अलकरण आ गया है। नीचे के दो तीन उद्धरणों से मेरा कथन सिद्ध हो जायेगा—

पानी भर आया फूलों के मुँह से आज सवेरे
"बस मै यही है बस आँखो भर लाऊँगी ।"
"पर उस अमर मूर्ति के आगे ..सौ सौ बार मरूँगी मै ।"

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि गुप्त जी की भाषा पूर्ण और प्रौढ है । उसमे परिमार्जन परिष्कार है । वह सर्वगुण सम्पन्न है ।

'यशोधरा' की कथा यद्यपि भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक आरम्भ-काल की कथा है लेकिन फिर भी युगीन परिस्थितियों की पर्याप्त झलक उसमे मिलती है । गुप्त जी परम वैष्णव भक्त है । "यशोधरा" के मंगला-चरण मे कवि ने राम, विष्णु और गौतम तीनो की प्रार्थना की है । यशोधरा के व्यक्तित्व का विकास भी मध्ययुग के भक्त के आधार पर ही विकसित हुआ प्रतीत होता है । गुप्त जी ने अपनी गाधीवाद के प्रति दृढ आस्था को गौतम के चरित्र द्वारा व्यक्त किया है । माता और राहुल के वार्तालाप मे उपनिषदो के सन्दर्भ भी है । गुप्त जी के प्राचीन साहित्य के प्रति यदि अपार ममता है तो नवीन साहित्य के प्रति प्रबल आकर्षण भी । वस्तुत. उनका काव्य प्राचीनता और नवीनता के संगम-द्वार पर स्थित है । गुप्त जी अपने जीवन को, जीवन के सर्वस्व को अपने उपास्यदेव के प्रति समर्पित कर देना ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते है ।

संक्षेप मे, 'यशोधरा' भारतीय संस्कृति की मनोरम झांकी, प्रस्तुत करती है उसमे परम्परा और प्रगति दोनो का स्वरूप सन्तुलन है । उसमे परम्परा का गौरवपूर्ण उद्घाटन भी है और नवनिर्माण का स्वस्थ प्रयास भी । 'यशोधरा' हिन्दी साहित्य मे गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है ।

जयशंकर प्रसाद

सत्यनारायण त्रिपाठी

काव्य-विकास

छायावाद के प्रवर्तक कवि प्रसाद को कविता का प्रारंभ ब्रजभाषा से करना पड़ा। इस अनजानी विवशता के पीछे परम्परा, युग और निजी संस्कार का प्रबल आग्रह था। मध्ययुगीन भक्ति और शृंगार-परक काव्य-साधना को भारतेन्दु-युग अपनी समूची विज्ञान-प्रसूत बौद्धिक विषमता मे उलझा न सका। प्रेम अब भी मानव के हृदय से दूर अलंकारों की कारा में बन्द था। जहाँ तक युग का सवाल है उसने चोट की। कवियों का अंतर भी छटपटाया किन्तु वह प्रकृति और देश पर स्वानुभूति के थोड़े से आँसू ही बहा सका। जीवन के नवोन्मेश और स्वच्छन्द स्वानुभूति के प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो पायी। आगे का द्विवेदी-युग प्रतिक्रिया की झोंक मे परम्परा को उखाड़ फेंकने का जन्म भर आग्रही रहा और अनुवादों एवं सुधारों की धुन मे भाषा तथा विषयो मे हेर-फेर करता रहा। उसकी नैतिकता ने रीतिकालीन ऐन्द्रियता पर काफी नाक-भौंह सिकोड़ी। उससे पीछा छुड़ाने के लिए आदर्श की सादगी मे जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ पर काव्य-चेतना को उतार कर नीरस भी बना डाला। फिर भी युगों के भीतर घुस कर मजबूती से जमी हुई ब्रजभाषा काव्य की जड़ हिलती सी प्रतीत नहीं हुई। खड़ी बोली मे काव्य के नये विषय, नूतन दृष्टियाँ और अभिनव शैलियाँ उगने तो लगी किन्तु सम्मेलनों और गोष्ठियों मे ब्रजभाषा का ही दौर चलता रहा।

ऐसे ही दोहरे (प्राचीन-जीवन, ब्रजभाषा-खड़ी बोली) वातावरण मे प्रसाद जी ने काव्य-रचना शुरू की थी। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों मे है जिनका प्रथम संकलन 'चित्राधार' है। आगे चल कर इसके दूसरे संस्मरण मे केवल ब्रजभाषा की रचनाएँ ही संकलित हुई। ये कविताएँ विषय के आधार पर चार प्रकार की है—पौराणिक एवं ऐतिहासिक व्याख्यान, प्रकृति विषयक, प्रेम संबंधी और भक्ति परक। पौराणिक आख्यान शील और सद्भाव के योग से भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा करते है। ऐतिहासिक कथानक भारतीय गौरव को उद्बुद्ध कर राष्ट्रीयता को सचेत करते है। इनमें कवि की मौलिकता नूतन उद्भावनाओ मे नही अपितु अभिनव दृष्टि मे है। प्रकृति विषयक कविताओ मे ब्रजभाषा की अलंकारिकता को पीछे ढकेल कर कवि की सहज अनुभूति उभर आई है। प्राचीन छन्दानुबंध तोडकर एक शीर्षक के अन्तर्गत एक साँस मे मन चाहे ढंग से सब कुछ कह देने मे कवि का साहस स्तुत्य है। उद्दीपन मे आगे बढ़कर कवि ने सस्कृत कवियों की भाँति स्वतंत्र आखों से प्रकृति को निहारा है। पश्चिम के स्वच्छन्दतावादी कवियो की तरह उसकी धडकनों में परोक्ष सत्ता के इशारो पर रीझा है और और अपनी आंतरिक अनुभूति मे खो गया है। किन्तु उसकी जिज्ञासा ने उसे तन्मय नही होने दिया है। यही जिज्ञासा आगे चलकर एक नवीन दर्शन का आकार पाती है। जिसमे प्रकृति चेतना से अनुप्राणित होकर मानव भावना में समा सकी है। रीझ प्रकृति की रमणीयता से रति का नाता जोडकर उसका विविध रूपों से शृंगार कर सकी है।

प्रेम के गीतो मे प्रेम नीरवता, विस्तार, विसर्जन, विदाई और कल्पना सुख की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। गीतो का कायिक सौन्दर्य परम्परागत शृंगारिकता से संपृक्त तो अवश्य है किन्तु आत्मिक सौन्दर्य गीतकार का अपना निजी है। इसके सहारे प्रेम मानव से छलककर प्रकृति को भी अभिसिंचित करता है। हृदय का प्रेम और फूल का सौरभ एक है। भक्ति संबंधी रचनाओं मे हार्दिक भावना कम संस्कारगत आस्था अधिक है।

इसलिए भावुक भक्त की तन्मयता के स्थान पर एक आस्तिक कुतूहल मात्र मिलता है जो प्रकृति में भासित होने वाली विराट सत्ता की स्वीकृति का परिचायक है। इस तरह चित्राधार में भावाभिव्यंजन की नवीनता, परिष्कृत शृंगार भावना, नैसर्गिक सौन्दर्य, गीति एवं प्रबंध-शक्ति, रहस्य भावना आदि के दर्शन होते है जो कवि के काव्य विकास की दृष्टि में बड़े काम के हैं।

कानन कुसुम—

कानन कुसुम खड़ी बोली की कविताओं का पहला संग्रह है। विषय इसके भी चित्राधार के ईश्वर, मानव और प्रकृति ही है। परम्परा अब भी बहुत हद तक जीवित है। भाव, विषय, भाषा शैली सभी के एक अनगढ़ प्रयोग है। किन्तु प्रकृति बढ़कर मानव के समीप आ गयी है और अपने विविध रूपों में मानवीय भावनाओं से अनुरंजित है। ईश्वर की रहस्यमयता भी कुछ साफ हो चली है। उसकी विराटता का आभास प्रकृति के पीछे मिलने लगा है। विनय की कविताओं में भक्ति-भावना के बीच दर्शन-चिन्तन फूट रहा है। किन्तु इस क्षेत्र में प्रसाद जी की सबसे बड़ी विशेषता अपने युग (द्विवेदी-युग) की सुधारवादी भावना के अनुसार ईश्वर को विश्व गृहस्थ का बाना देने और विश्व मंदिर में बसाने में है—

उस मंदिर के नाथ को, निरुपम निरमय स्वस्थ को
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व-गृहस्थ को।

कानन-कुसुम में गीति सृष्टि के साथ चित्रकूट, भरत, कुरुक्षेत्र आदि आख्यानक प्रयोग भी चल रहे है। इस प्रकार विभिन्न शैली प्रयोग, अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्फुटित करने की अन्तर्मुखी वृत्ति, भावनात्मक आदर्श और दार्शनिक एवं सामाजिक विचार इस संग्रह के विशेष आकर्षण है। किन्तु इन सबसे ऊपर की बात कवि की आंतरिक बेकली और कथन के संकोच की है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार में "चित्राधार, कानन-कुसुम आदि रचनाओं के पढ़ने से लगता है जैसे कवि कुछ कहना चाहता है, पर कह नहीं पाता।" किन्तु आरम्भ से ही भावों की सलज्ज स्थापना में प्रसाद का सचेत व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है।

करुणालय और महाराणा का महत्व—

करुणालय एक काव्यात्मक है और महाराणा का महत्व एक ऐतिहासिक वीरगीत। करुणालय शैली की दृष्टि से गीतिनाट्य है और अपने अतुकान्त छन्द-विन्यास में एक नवीन प्रयोग। इसकी कथा पौराणिक है किन्तु कवि का प्रमुख लक्ष्य कथा के माध्यम से करुणा का निरूपण है जो आगे के काव्यों में एक दर्शन का रूप ग्रहण करती है। यहाँ भी कवि ने विश्व-करुणा की स्थापना की है जो उमड़कर मानव के सम्पूर्ण बंधनों को तोड़ती हुई उसे विश्वात्मा तक ले जाती है। भावविकास की दृष्टि से इसकी करुणा का आदर्श एक महत्वपूर्ण सोपान है। 'महाराणा का महत्व' में राणाप्रताप के आत्मबलिदानी त्याग में एक ऐसी राष्ट्रीयता सामने आयी है जिसके अनिवार्य तत्व है—शौर्य, कर्मठता, त्याग सत्यनिष्ठा आदि।

प्रेम-पथिक—

प्रेम पथिक पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था किन्तु बाद में चलकर उसे खड़ी बोली के माध्यम से तुकान्तहीन छन्दों में प्रस्तुत किया गया। उसमें आवश्यकता अनुसार परिवर्तन कर नये अंश भी जोड़े गये। प्रेम-पथिक मानव के शाश्वत प्रेम का स्वच्छन्द आख्यान है। प्रेम की आदर्शवादी उदात्त कल्पना ने उसे मानव के वासनामय उद्‌गारों से मुक्तकर प्रकृति और जगत में रमाती हुई ईश्वर तक ले गयी है और तादात्म्य की अवस्था में सब कुछ प्रेममय होने के नाते प्रकृति, जगत और ईश्वर एकात्म हो गये है। किन्तु इतना होते हुये भी प्रेम लौकिक है। उसकी विशेषता प्रेमी के सुख-दुख दोनों को समष्टिगत बनाकर आनन्द उपलब्धि में है। यह प्रेम त्यागपूर्ण, अपरिमित शाश्वत चेतना है और साथ ही प्रभु का स्वरूप भी—

> प्रेम पथिक पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
> इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति-मात्र में बना रहे,
> क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।

इस तरह प्रसाद जी ने इस कृति में प्रेम को जीवन-दर्शन और शाश्वत तत्व के रूप में स्वीकार किया है।

आँसू

आँसू के दो रूप [illegible] के मूल रूप जो विशुद्ध मानवीय विरह काव्य है और दूसरा परिवर्धित रूप जिसमें सांकेतिक रहस्यमयता का संस्पर्श है। इस विरह-गीतिका का विषय कवि की वैयक्तिक अनुभूति से प्रसूत निजी वेदना है। उसमें अतीत की स्मृति, वर्तमान के आह भरे आँसू और भविष्य की मंगलाशा का आत्मपरक प्रकाशन है। कवि की वेदना एक शाश्वत चेतना के रूप में स्वानुभूति का व्यापक प्रसार करती है। विरह जनित दुःख, निराशा और जड़ता का विनाश कर आशा भरी क्रियाशीलता का संचार करती है। वेदना की यही सचेतन सूक्ष्मता भिन्न-भिन्न मुक्त मनःस्थितियों को व्यक्त करने वाले स्वतंत्र भावचित्रों को एक प्रबन्धात्मक तारतम्य एवं अनुक्रम प्रदान करती है। साथ ही इस वेदना ने आँसू के प्रणय-निवेदन को सूफी कवियों जैसी तन्मयता में खोकर उसकी प्रेमपीर को व्यापक कर दिया है। फलतः वैसी ही सांकेतिक प्रतीक योजना, प्रेम-गाम्भीर्य और पलकों को मुकुलित करने वाली मधुचर्या इसमें भी मिल जाती है। किन्तु 'आँसू' की विशिष्टता उसके आदर्श में है जो व्यष्टिवेदना के सार्वभौमिक प्रसार द्वारा समष्टि की पीड़ा का अनुभव कराकर जीवनवेदी पर विरह-मिलन के परिणाम में सुख-दुःख के सामंजस्य की उपलब्धि का विधान करता है। इसी आदर्श ने मानवीय व्यथा को जीवन के घोर यथार्थ से ऊपर उठाकर अलौकिक बना दिया है। नियति से प्रताड़ित व्यक्ति के आँसू में अंत में 'चिर-दग्ध दुखी वसुधा' की शांति के लिये करुणा की बूँद के रूप में विश्व सदन में बरसने का आग्रह है—

> सबका निचोड़ लेकर तुम
> सुख से सूखे जीवन में
> बरसो प्रभात हिमकन-सा
> आँसू इस विश्व-सदन में।

आँसू अपनी भावना में कवि के मनस् की सच्ची अनुकृति है। उसकी इस स्वीकारोक्ति में कवि के हृदय और बुद्धि, राग और चिन्तन दोनों मिल-जुल कर भावभूमि तैयार करते हैं। विरह की अनुभूति करुणा की छौंक पाकर

और तेज हो गयी है। और उसकी करुण संवेदना विश्वव्यापी विस्तार पाकर मानवता के दुख से स्पंदित हो उठी है। इस तरह "आँसू कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है।" वह प्रारम्भिक साधना प्रयोगों की प्रौढ़सिद्धि है। 'चित्राधार' का कुतूहल इसमें अपना समाधान पा लेता है। 'प्रेम पथिक' का भटकता हुआ रोमांस अपनी निदिष्ट 'राह' पर आ जाता है और सुख-दुख के समरस समझौते का संबल लेकर कामायनी के असीम आनन्दलोक की ओर उन्मुख होता है। इसी प्रकार ईश्वर के चरणों पर ढुलकनेवाली करुणालय की करुणा 'आँसू' में डूब कर विश्व सदन में 'कल्याण की वर्षा' करती है। कानन-कुसुम की पुरातन परंपराएँ भी आ गयी हैं और नूतन भावछायायें पनप उठी है। भावनात्मक विकास के अतिरिक्त आँसू का कलात्मक सौष्ठव भी अत्यन्त प्रौढ़ और संगठित है। अंत में, भाव और कला दोनों दृष्टियों से प्रसाद जी की 'आँसू' अपनी स्वानुभूति के लयात्मक प्रकाशन, स्वच्छन्द भाव-गाम्भीर्य, चिन्तना-परक भावुकता, रहस्यानुभूति, उच्च प्रेमादर्श, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मक, संकेतिकता, सूक्ष्म-अमूर्त सौन्दर्यांकन और कल्पना-वैभव आदि में एक सफल करुण-विप्रलंभ गीतिसृष्टि है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों की काव्य साधना में उसका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसकी करुणामंडित आदर्श-वादी स्वच्छन्दप्रेम-कल्पना दोनों की शर्तें पूरा करती है।

झरना और लहर—

झरना कवि के मानसिक परिवर्तन का प्रतिफलन है। उसकी बहुत-सी कविताओं में ऐसे संकेत है जिनसे लगता है कि प्रसाद जी अब तक की काव्य-साधना में विभिन्न सिद्धान्तों और आदर्शों के सहारे जिन मानवीय सत्यों को बटोर सके हैं उनका जीवन की कठोर वास्तविकता पर परीक्षण करना चाहते है। किन्तु मन का संकोच हृदय खोलकर ऐसे प्रयोग नहीं करने देता। इसमें संदेह नहीं कि संकोच की झिझक में भावनाएँ कहीं-कहीं सूक्ष्म और अशरीरी होकर रहस्यमयी ओढ़ लेती है और कवि का बौद्धिक विवाद कथन के बाँकपन को शिथिल कर देता है। जिसके कारण भावनाओं की गहराई उतर-सी जाती है। किन्तु सबसे बड़ी बात नवीन

भावदशाओ, छन्दो, मानवीय संबंधो आदि के संबध मे किये गये विभिन्न प्रयोगो की है। जीवन को निकट से देखने के लिए कवि मे सहज तत्परता है। क्या अव्यक्त सत्ता, क्या प्रकृति और क्या मानव—सर्वत्र वह नई विकास दिशा की तलाश मे है। 'लहर' की अनुभूति प्रणय, इतिहास और दर्शन की है। उसकी करुणा नवीन दर्शनो से भी प्रेरणा ग्रहण करती है। शैव के साथ बौद्ध-दर्शन भी यहाँ पर्दे के पीछे मिलेगा। किन्तु आदर्श कवि का वही है। लहर के गीतो मे आँसू के कवि का भीतरी झझावात सो गया है। उसके स्थान पर भाव लहरियो का शात मृदुल संचार है जो अपने छाया चिन्हो से भाव-सागर की गहराई स्पष्ट कर सका है। यहाँ आकर कवि का प्रेम-प्रिय को अपने हृदय मे पा लेता है। उसमे निराशा या बाहरी भटकाव नही। ऐतिहासिक गीतों मे सास्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्रीय भावना का प्रकाशन है। रहस्यवादी कविताओं मे कोई दार्शनिकवाद न होकर जीवन के सत्य को पकड़ने वाली रहस्य-प्रवृत्तिमात्र है। आध्यात्मिकता की जगह एक स्वस्थ जीवनदर्शन और मानसिक विश्लेषण है। प्रसाद की अन्तर्दृष्टि प्रेम, करुणा, सौन्दर्य, प्रकृति, जीवन के सुख-दुख सभी मे व्यापक सत्य को ढूँढ कर सामजस्य मे शिवत्व की स्थापना करती है। उनका यही समाहार उनकी गीति-प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है। लहर की कविताएँ कवि के प्रौढ एवं चिंतनशील क्षणो की सृष्टि है और अपने कलात्मक सौष्ठव मे छायावाद की एक उत्कृष्ट रचना।

कामायनी—

कथानक के लिये इतिहास और पुराण के आधार पर सृष्टि के प्रारम्भिक काल की घटनाएँ चुनी गयी है। प्रमुख पात्र मनु, श्रद्धा और इड़ा है जो मूलरूप मे वैदिक होते हुए भी अभिनय रूप मे कवि की मानसी सृष्टि है। देश-काल सास्कृतिक हैं। किन्तु कामायनीकार का लक्ष्य इन घटनाओं या पात्रो को चित्रित करना नही, अपितु इनके माध्यम से दो चीजें प्रस्तुत करना है—'चेतना का सुन्दर इतिहास' और 'अखिल मानव-भावों का सत्य।'[1] अर्थात् प्रसाद जी एक ओर मानव के सास्कृतिक एव

ऐतिहासिक विकास को रखना चाहते है और दूसरी ओर भावात्मक। इसी लिए "मनु,श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक व्यक्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो उन्हे कोई आपत्ति नही। इसमे सदेह नही कि कामायनी इस दुहरे लक्ष्य की पूर्ति कर सकी है और इस दृष्टि से वह एक सफल भावात्मक 'एलिगरी' है। उसमे मनु, कामायनी, और इडा के भावनात्मक रूप मन, श्रद्धा और बुद्धि के रूप मे मानव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गयी है। साथ ही जीवन की समूची समस्याओ के मूल मे छिपी हुई विषमता का उद्घाटन कर समरसता अथवा समन्वय मे सच्चे आनन्द की उपलब्धि बताई गई है। यह समरसता और आनन्दवाद कवि के निजी चिन्तन एवं अनुभूति का प्रतिफलन है। किन्तु इसकी मूल प्रेरणा भारतीय दर्शन (विशेषकर शैवो का प्रत्यभिज्ञान दर्शन) से प्राप्त हुई है। इस प्रकार "कामायनी मनु और श्रद्धा की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास मे सामञ्जस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है।"—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

कायामनी एक सफल प्रबंध काव्य है किन्तु परम्परा से आगे बढ़कर नवीन वैज्ञानिकता को स्वीकारने के नाते उस मे अनेक असगतियाँ प्रतीत होती है—घटनाओंमे विविधता का अभाव, चरित्र न्यूनता आदि। लेकिन उसका असली रूप भावात्मक आख्यान का है और इस दृष्टि से उसमे सम्यक् भाव-विस्तार एवं जीवन की अनेक अतर्दशाएं है जो उसके कलात्मक कृतित्व के प्रमाण है। मतलब, कामायनी का महाकाव्यत्व एक विवाद की वस्तु है। किन्तु यह सारी खीच-तान परम्परा (संस्कृत महाकाव्य अथवा पाश्चात्य आख्यानक काव्य) की दृष्टि से देखने के कारण है। मेरे विचार से तो आत्मपरक गीतिमत्ता एवं वस्तुपरक प्रबधात्मक काव्य तत्वो के मेल से उपजी हुई कामायनी बिलकुल एक नयी चीज है। वह हिन्दी की अपनी है और आज के वैज्ञानिक युग मे बौद्धिक आनन्द की वस्तु है। और फिर आधुनिक स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले मानव के प्रतीक मनु के जीवन की अनुकृति भी तो है, भला तमाम परम्परा के बंधनो

को कैसे कबूल कर सकती है। इसलिए हिन्दी के अपने समीक्षा-शास्त्र पर उसकी परख होनी चाहिए। कुल मिलाकर कामायनी एक श्रेष्ठ कृति है जिसमें स्वानुभूति, कल्पना, जीवन-दर्शन, आध्यात्मिकता, प्रकृति का चेतनीकरण, मूर्तिमत्ता, लाक्षणिक विभिन्नता आदि की चित्रमयता आदि छायावादी काव्य की विशेषताएँ अपने चरमोत्कर्ष पर हैं।

अनुभूति—

'प्रसाद जी मूलत: प्रेम और सौन्दर्य के कलाकार हैं। उनकी प्रमुख अनुभूति प्रेम की है और उनका काव्य प्रणय की मधुचर्या। वे प्रवृत्ति से अनासक्त भोगवादी थे और संसार की वस्तुओं को भगवान शंभो का प्रसाद समझ कर ग्रहण करते थे। इसीलिए उनके प्रणय का विकास विलास की छाया में हुआ है। किन्तु उसमें कायिक वासना नहीं, आत्मिक स्फूर्ति है जो प्रेम को उदात्तकर आनन्द तक ले जाती है। प्रसाद की कविताओं में प्रेम के तीन रूप है—रति, चेतन प्रेम और काम रूप। पहला रूप प्रारंभिक और संकुचित है। उसमें ऐन्द्रियता अधिक है। उनकी प्रारम्भिक—विशेषकर ब्रजभाषा की कविताओं में रीतिकालीन 'रति' का चित्रण हुआ है। वैसा ही मादक विलास, उपालंभ और विरहानुताप है। यह सब परंपरा का आग्रह है। किन्तु कवि ने शीघ्र रति का परिष्कार कर प्रेम के पवित्र रूप को प्रस्तुत किया। प्रेम एक चेतनशक्ति बनकर 'प्रेम-पथिक' में अवतरित हुआ। उसने जगत का संचालन कर ईश्वर की समकक्षता पाली। यह रूप उदात्त और स्वच्छन्द तो है किन्तु साथ ही आदर्शवादी भी। प्रेम का व्यापक रूप काम का है। कामायनी में वह मानव-मन (मनु) की प्रेरक शक्ति है और उसे आनन्द-लोक तक ले जाने वाली हृदय की मूल वृत्ति श्रद्धा भी काम की तनया है। काम रूप में प्रेम व्यक्ति को कर्म में नियोजित करता है। सृष्टि मंगलमय काम का परिणाम है। प्रेम अपनी उदात्तता एवं व्यापकता में वासना की सीमा से निकल कर विश्वजनीन हो गया है। चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन नारी से जुट गया है।

इस प्रेम की कुछ अपनी निजी विशेषताएँ है जो उसे एक ओर परंपरा से मुक्ति दिलाकर स्वच्छन्दता प्रदान करती हैं और दूसरी ओर अन्य छाया-

वादी कवियों की प्रणय-भावना से पृथक करती है। पहली बात यह है कि वह केवल मानव हृदय की वस्तु है। न तो शृंगारिक कवियों की भाँति ऐंद्रिक और न तो भक्तों की भाँति आत्मिक है। प्रेम कायिक सौन्दर्य की आसक्ति, रूपजन्य मोह या वासना नहीं, अपितु त्याग, उत्सर्ग एवं आत्मसमर्पण का नाम है—

इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग झलकता है।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है—कामायनी

तीसरी विशेषता इसके करुणामूलक होने में है। इसका आदर्श भारतीय है जिसमें परुष पुरुष नहीं, सेवा, दया, माया, ममता, मधुरिमा की पुतली श्रद्धा-रूप नारी आत्मसमर्पण करती है। प्रेम की आत्मा करुणा है। इसीलिए 'नित्य यौवन छवि' से दीप्त श्रद्धा जैसी नारी में भी जड़ में स्फूर्ति पैदा करने की शक्ति इसलिये है कि वह 'विश्व की करुणा कामना मूर्ति' है। निस्सन्देह यह करुणा-कलित प्रेम शरीरी सौन्दर्य से अधिक शील एवं भावगत सौन्दर्य का विषय है। एक बात और खास है, और वह यह कि प्रसाद के प्रेम में स्नेह की बूँद का विस्तार है। वह व्यष्टि के अन्तर्बाह्य को उदार बनाकर समष्टि को समाहित कर लेता है। यह आत्मप्रसार मानवतावादी धरातल पर व्यक्ति से विश्व तक है और आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा से विराट सत्ता तक। इस तरह इस प्रेम में बंधनमयी स्वच्छन्दता है। अर्थात् विकास स्वच्छन्द है, किन्तु गति और स्वरूप जीवन की सामाजिक मर्यादाओं को स्वीकार करते हैं। कवि ने 'जीवन-वेदी' पर विरह-मिलन दोनों का परिणय कराया है। सुख दुःख का यही मेल जीवन-दर्शन के रूप में समरसतावाद का सिद्धान्त है।

शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रेमानुभूति के दोनों पक्ष प्रसाद के काव्य में हैं और विरह-मिलन के अनेकों चित्र बहुत-सी कविताओं में मिलेंगे। लेकिन 'प्रेम-पथिक' की मिलन कामना कामायनी में श्रद्धा और मन के संयोग में मादक प्रकृति से उद्दीप्त होकर रस-दशा को पहुँच जाता है और उसका

विच्छेद आँसू मे दुःखभोग जनित वेदना से करुणा विप्रलंभ की सृष्टि करना है। इनके अतिरिक्त प्रेम की अनुभूति मे पड़ने वाले हर्ष, विषाद, आँसू या, कामना, उल्लास, वासना, आशा, निराशा आदि नवीन ढंग से चित्रित कर प्रमुख अनुभूति में तिरोभूत कर दिया गया है। आलंबन नारी, मानव के विकास की बाधा नही अपितु साधिका है। वह जीवन को समतल कर बहनेवाली केवल श्रद्धा मात्र है। वह ऐसी दिव्य शक्ति है जो प्रेमी को प्रेम के कैलाश पर आनन्द के दर्शन कराती है। उसका अलौकिक सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है।

अन्यभाव—

कामायनी में आकर भाव-भूमि का विस्तार हुआ है। उसके व्यापक काव्यत्व मे शात, करुण, भयानक, अद्भुत, वात्सल्य आदि रसों का भी समावेश हो गया है। शात का स्थायी भाव निर्वेद 'निर्वेद' सर्ग मे उदित होता है और दर्शन, रहस्य सर्गों के बीच विकसित होता हुआ आनन्द सर्ग मे रसत्व की उपलब्धि कर लेता है। कामायनी का आरम्भ मनु की चिंता से होने के नाते शक्ति का सृजन करता है और उसकी करुण भावना असलक्ष्य-क्रम से व्यजित होती है। इसी तरह प्रलय, युद्ध एवं रहस्य प्रसंगों मे भयानक 'नटेश' के तांडव एवं 'त्रिपुर-मिलन' मे अद्भुत और 'स्वप्न', 'दर्शन', 'निर्वेद' सर्गों में 'मानव' की उक्तियों तथा चेष्टाओं से वात्सल्य रस अभिव्यंजित हुआ है। किन्तु प्रसाद की सफलता एव नवीनता इनके परिपाक मे नही है। वह तो काव्य के अंतर्गत वर्णित मानवीय अंतर्दशाओं के बीच निसर्गतः हो गया है। नवीनता तो भावों को स्वतंत्र रूप से खड़ा करने मे है, उन्हे वह स्वरूप और शक्ति देने मे हैं, जिससे वे व्यापक विस्तार पाकर रसों को ध्वनित करते है। प्रसाद जी ने जहाँ भाव विशेष को रसत्व प्रदान किया है वहाँ भावसमष्टि की चरम परिणति आनन्द मे की है। भावों का साध-रणी करण तो हुआ ही है, उनका मानवीकरण एवं समाजीकरण भी किया गया है। साथ ही उनका मनोवैज्ञानिक सामंजस्य भी कम महत्व का नही है। अस्तु, निष्कर्षतः प्रसाद के 'भावनिरूपण' के संबध में कुल तीन बातें कही जा सकती है। एक, भाव स्थायी एवं संचारी भाव के अतिरिक्त अपना स्वतंत्र

अस्तित्व भी रखते हैं। दो, भाव रसदशा में आनन्द की संज्ञा पा लेते हैं और इस तरह रस और आनन्द पर्याय हैं। तीन, भावाभिव्यक्ति में रसवादियों की रसनिष्पत्ति और ध्वनिवादियों की रसध्वनि दोनों प्रकार के विधान हैं।

चिंतन—

प्रसाद जी चिंतन-मनन के कवि हैं। चिन्तन ने उनकी स्वच्छन्द भाव-धारा को गहराई दी है, मानव-मन के रहस्यों का उद्घाटन किया है और व्यक्ति की सामाजिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं को सुलझाया है। प्रसाद जी की आध्यात्मिक भावना में एक आस्थावान चिंतन मिलता है। वे ब्रह्म, जीव, जगत, माया सभी को आस्था की दृष्टि से देखते हैं। जहाँ तक श्रद्धा का सवाल है, उनका उपास्य भी मध्यकालीन भक्तों के 'राम-कृष्ण' की भाँति 'दीनबन्धु', 'करुणासागर', 'सच्चिदानन्द' है, किन्तु जब स्वीकृति की बात आती है तो वे उन भक्तों की भाँति अपने और उसमें लघुत्व एवं महत्व की दीनता-महानतावाली असमानता नहीं स्वीकार करते। उनका विश्वास है कि आत्मा अपने पूर्ण विस्तार में ब्रह्मत्व है। प्रसाद जी के व्यक्तित्ववादी आत्मप्रसार की मूल प्रेरणा उपनिषदों के अद्वैतभाव—'अहं ब्रह्मास्मि' की है। यही अभेदभावना जब जीवन और जगत की व्यावहारिकता में आई तो उसे दोनों के बीच 'संचालित' एवं संचालक के भेद का दर्शन हुआ। जिज्ञासा और कुतूहल से मन भर गया और उसने जगत और प्रकृति में रमने वाली एक 'विराट सत्ता' के दर्शन किये। जगत भी कवि के लिए मिथ्या नहीं, अपितु उस विराट सत्ता का चेतन रूप है। सबसे बड़ी बात यहाँ पर आत्मा, विश्व (जगत) और 'विराटता' के एकात्मभाव की है। आत्मा उस परमसत्ता का अंश है और इसी आत्मांश रूप इकाई का समष्टि रूप विश्व है। इसलिए *व्यष्टि का समष्टिगत आत्मविस्तार* विश्वात्मा है और वही परम सत्ता भी। इसी अभेदत्व को मध्यकालीन भक्तों ने भी 'सब जग को सिया-राममय जानकर' स्वीकार किया है। किन्तु दोनों में बड़ा भेद है, भक्त ने 'सिया-राम को महत्व देकर जगत को उसका रूप बताया है और प्रसाद ने अपने विश्व को महत्ता प्रदान कर उसे 'विश्वात्मा' माना है।

इस तरह भारतीय दर्शन ने जिस ब्रह्म को आत्मा के रूप में खंडित कर

जगत में बिखरा दिया था, प्रसाद ने उन बिखरी हुई आनन्दराशि को आत्म-प्रसार के आधार पर विश्वात्मा रूप में जीवन और जगत की व्यावहारिकता के बीच प्रतिष्ठापित किया। यही विश्वात्मा अपनी रहस्यमयता में कभी 'विश्वसुन्दरी', कभी 'काम' और कभी 'नटराज' के रूप में भासित होती रहती है। प्रसाद जी के काव्य में 'माया' की चर्चा भी हुई है। वह प्रसाद की कला का स्पर्श पाकर 'जीव' की 'दुष्ट, अनिशय दुखरूप।' माया मानव के लिए मंगलमयी शक्ति के रूप में अवतरित हुई। नारी उसकी प्रतिकृति है जो दया, माया, ममता, श्रद्धा, विश्वास आदि की अक्षय निधि है और पुरुष को जीवन के संपूर्ण संघर्षों से उबार कर आनन्द-लोक तक ले जाती है। कामायनी की श्रद्धा मनु की ऐसी ही माया है—

नारी माया ममता का बल
वह शक्तिमयी छाया शीतल।

प्रसाद जी की यह शक्ति-रूपिणी माया प्रकारान्तर से शैव-दर्शन की शाश्वत 'परानिशा' माया ही है।

मानसिक चेतना—

आधुनिक-युग व्यक्ति का युग है। जीवन की इस व्यक्ति-निष्ठा ने साहित्य में कला को व्यक्तित्व-प्रकाशन का माध्यम बनाया। यही कारण है कि प्रसाद के पूर्व भारतेन्दु युग और द्विवेदीकाल ने भी मानव के सुख-दुःख आदि की समस्याओं को बहुत कुछ व्यक्तिगत आधार पर रखकर देखा। जीवन की बाहरी उलझनों ने उन्हें अपने भीतर की ओर मोड़ा। साहित्यकार अन्तर्मुखी हो गया और बाहर से अधिक उसे अपना अन्तर्जगत आकर्षक और महत्व का लगा। कवियों ने जहाँ भावों को स्वतन्त्र रूप से काव्य का विषय बनाया वहाँ लेखकों ने भी उन्हें अपनाया। शुक्ल जी ने तो करुणा, ग्लानि, लोभ, क्रोध इत्यादि लगभग सभी प्रमुख मनोविकारों की प्रौढ़ व्याख्या जीवन के आधार पर की। प्रसाद जी ने भी इस मनोमय जगत को पहचाना और बराबर उसके विश्लेषण में उलझे रहे। व्यक्ति की समूची भावनाओं का संबंध उसकी दिव्य और अदिव्य दो वृत्तियों से है। मनुष्य की दिव्य प्रवृत्तियाँ दैवी और सात्विक हैं तथा अदिव्य आसुरी एवं तामसी। दोनों अपने में सम्पूर्ण

है और इसीलिए दोनो में शाश्वत संघर्ष है। मानव में दोनों है और वह असली रूप ये दिव्यादिव्य है। शुक्ल जी के मनोविकारो का सुखात्मक और दुखात्मक वर्गीकरण भी ऐसा ही है।

यो तो मानसिक विश्लेषण प्रसाद जी के प्रायः सभी प्रमुख कृतियो मे है किन्तु कामायनी मे उसका अधिक प्रौढ एवं स्पष्ट रूप प्रस्तुत हुआ है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा आदि से लेकर आनन्द तक के भावो का कारण-कार्य एवं पूर्वापर संबंध तथा उनके स्वरूप, प्रभाव आदि का विश्लेषण किया गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि भावों का निरूपण जहाँ एक ओर व्यक्ति के भाव-विस्तार को उपस्थित करता है, वहाँ मानव की जय-यात्रा के साथ मानवता के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक मानसिक विकास की ओर भी संकेत करता है। प्रसाद के मनु की चिंता और आनन्द जहाँ आदि मानव के है, वहाँ आज के भी। इसलिए वे व्यक्ति विशेष के भी है और चिरन्तन मानव के भी। जिस प्रकार व्यक्ति आनन्द को ज्ञान, कर्म और इच्छा के समन्वय अथवा 'समरसता' मे पाता है, उसी प्रकार विश्व भी। प्रसाद जी ने मन, को श्रद्धा और इडा या हृदय और बुद्धि से समन्वित कर बौद्धिक रागात्मिकतावृत्ति की मूल अन्तश्चेतना स्वीकार किया है, जिसमे आज के बुद्धिजीवी युग का आग्रह स्पष्ट है।

समरसता—

प्रसाद जी की समरसता शैवों के 'प्रत्यभिज्ञान दर्शन' की देन है जो उपनिषदो के अद्वैतभाव से लेकर शंकराचार्य के अद्वैतवाद, अनात्मवादी बौद्धों के (राग-विराग की अतियो के मध्यस्थ) मध्यम प्रतिपदा मार्ग तथा सांख्यदर्शन के सत्, तम्, रज् की सामजस्यभावना तक सभी भारतीय दर्शनो मे विद्यमान है। समरसता का अर्थ है—समन्वय, सामजस्य, संतुलन, जिसमे विपरीतता विरोधी, विषमता आदि अपनी असमानता खोकर समता तथा एकरसता ग्रहण करते है। प्रसाद जी का कृतित्व समरसता को सिद्धान्त या वाद बनाने मे नही है अपितु जीवन के सर्वांगीण वैषम्य को दूर करने के लिए उपादेय सिद्ध करने मे है। आज यह विषमता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही नही है, बल्कि व्यक्ति के भीतर-बाहर चारों ओर है। बिम्बसार के शब्दो में

प्रत्येक असम्भावित घटना के मूल में यही बवण्डर है सच तो यह है कि विश्व भर में स्थान-स्थान पर   है जल में उसे भवर कहते हैं स्थल पर उसे बवन्डर कहते है, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृंखलता और धर्म मे पाप कहते हैं।" अजातशत्रु—८७।

मनुष्य के दु:ख की जड मे यही वात्याचक्र है और इसी को संतुलित करने मे आनन्द की प्राप्ति होती है। प्रसाद के काव्य मे इन तमाम विषमताओ को दूर करने के लिए समरसता के विभिन्न रूप मिलते है। पहला रूप आध्यात्मिक है। यहाँ विषमता से उत्पन्न संघर्ष पुरुष और प्रकृति का है। कामायनी के मनु और प्रलय रूपा प्रकृति के बीच यही संघर्ष प्रारम्भ मे दिखाया गया है। किन्तु अन्त मे दोनों के बीच समन्वय उपस्थित कर अखंड आनन्द का विधान किया गया है—

समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।

दूसरा समन्वय आंतरिक है। मनुष्य के अन्तर्जगत मे यह संघर्ष दो तरह का होता है। एक, हृदय और बुद्धि का और दूसरा आशा, निराशा, हर्ष-विषाद के बीच सुख-दुख का। कामायनी की रूपकात्मक भावना मे मन (मनु) के उभयपक्ष हृदय (श्रद्धा) और बुद्धि (इडा) का यही द्वन्द्व चित्रित है जो मनु को बराबर संघर्षशील बनाये रहता है। संघर्ष का शमन श्रद्धा, हृदय की रागात्मिका वृत्ति कर सकती है; बुद्धि तो उलझनो की जाली बुनती रहती है। इसलिए 'तर्कमयी' बुद्धि को श्रद्धामयी करके सामंजस्य लाया जा सकता है और इस तरह आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। शुक्ल जी भी इसके महत्व को स्वीकार करते है। "ग्रंथ (कामायनी) के अन्त में जो हृदय, बुद्धि और कर्म के मेल या सामंजस्य का पक्ष रखा गया है, वह तो बहुत समीचीन है।" दूसरी बात सुख-दुख के समन्वय की है। सुख-दुख तो प्रसाद के काव्य में जीवन-दर्शन बन जाते है। कवि प्रसाद ने योग जनित सुख के ऐन्द्रिक कामरूप को जीवन की ज्वाला से जलाकर अशरीरी आत्मिक

आनन्द कर दिया। उसका विलास विष के साधना कंठ में पहुँचकर शिवत्व पा लेता है। यह आनन्द भावनामूलक होने के नाते संसार से विराग नहीं चाहता, संसार को कर्मस्थल मानकर कर्म के भोग और भोग के कर्म का विश्वासी है। इसी तरह दु:ख भी कवि के जीवन की प्रयोगशाला में ढलकर अपने वेदना रूप में एक व्यापक और शाश्वत चेतना है जो जीवन का अखंड सत्य है। सुख तो उसका स्वीकारात्मक रूप है। लेकिन यह वेदना निराशा की जननी नहीं, करुणा और आशा की धात्री है। इसी अखंड वेदना की नीलिमा में समरसता के कारण सुख भास्वरमणियों की भाँति निखरता है—

नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।—कामायनी

तीसरे प्रकार की समरसता व्यावहारिक जीवन की है जिसका प्रतिनिधित्व स्त्री और पुरुष का एकात्मभाव करता है। कवि के अनुसार पुरुष और स्त्री—जीवन के एक अंक है—पुरुष दहाई है तो स्त्री इकाई। दोनों एक दूसरे के पूरक है। प्रसाद जी की पूरी काव्य-साधना स्त्री और पुरुष की उलझन दूर करने में व्यस्त रही। उन्होंने इस उलझाव की सुलझन का मान कामरूप प्रेम को माना है। समझौते या सन्तुलन का काम श्रद्धामयी नारी को सौंपा है। इसमें सदेह नहीं कि इस श्रद्धा रूप नारी ने पुरुष के 'विश्वास रजत-नग पगतल' में अपने को पीयूष स्रोत सी बहाकर जीवन को सुन्दर और समतल बनाया है।

इसके अतिरिक्त आकांक्षा-तृप्ति, राजा-प्रजा, अधिकारी अधिकृति, शासक-शासित और व्यक्ति-समाज के बीच समरसता का व्यावहारिक रूप रखा गया है। इस तरह समरसता मनुष्य के आध्यात्मिक, मानसिक और व्यावहारिक सभी प्रकार की समस्याओं का शाश्वत हल है।

नियतिवाद—

प्रसाद जी की नियति एक नियामक सत्ता है और विश्व को संचालित करती है। यह नियतिवादी कल्पना धार्मिक-प्रारब्ध, भाग्य अथवा कर्मवाद से

भिन्न है। उसका भिन्नता ब्रह्मा जैसी महान् शक्ति हो कर नियमन करने में है। तुलसीदास के 'विधि' की भाँति 'हानि-लाभ, जीवन-मरन, यश-अपयश' तो उनके हाथ में है ही, वह सृष्टिकारिणी शक्ति और शिवत्व विधायनी भी है। वह मानवता को मंगलमय आनन्द वितरती है किन्तु साथ ही रुद्र की भाँति प्रलयकरी है। सृष्टि में उच्छृंखलता अहंकार की अतिशयता आने पर उसका संहार भी करती है। कामायनी का जल-प्लावन देवसृष्टि की ऐसी ही उच्छृंखलता का परिणाम है। मतलब यह कि नियति एक महान सत्ता है जो केवल मनुष्य के सुख-दुख का विधान न कर सृष्टि का सर्जन, पालन और संहार भी करती है। उसकी चेतन शक्ति प्रकृति के क्रिया-व्यापारों में साकार एवं सक्रिय है। उसके प्रत्येक ध्वंस निर्माण का हेतु मंगलमय विकास है।

प्रसाद की नियति के दो रूप हैं—संकुचित, व्यापक, वैयक्तिक, निर्वैयक्तिक। संकुचित नियति एकांगी है। वह दुष्ट, निष्ठुर, निर्मम और प्रपीड़क है। भीषण परिस्थितियों में जीव को फाँसना उसका पेशा है। नियति का यह दुखवादी रूप कवि की वैयक्तिक असफलता, दुःख और जीवन की निराशामयी कठोर परिस्थितियों का प्रतिपालन है। दूसरा रूप उदात्त और दिव्य है। कवि के गहन अध्ययन और स्वस्थ चिन्तन ने उसकी आसुरिकता का शोध कर उसे व्यापक और उदार बना दिया है। वह एक दिव्य शक्ति है जो जगती के 'कर्म-चक्र' का संचालन करती है। उसके संकेतों पर मानव क्या समूची प्रकृति नाच सकती है। उसका अनुशासन व्यक्ति के कर्म और भाव दोनों क्षेत्रों पर है। प्राणी दुःख-सुख उसकी इच्छा के अनुसार पाता है। उसका स्वभाव अतिशयता-नियंत्रण का है। वह अपने विराट रूप में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व, प्रकृति आदि सबको प्रभावित करती है। सारांश यह कि "प्रसाद जी की दृष्टि में नियति प्रकृति का नियमन और विश्व का संतुलन करने वाली शक्ति है जो मानव अतिवादों की रोक-थाम करती है और विश्व का संतुलित विकास करने में सहायक होती है।"—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

सुमित्रानंदन पंत

राजेन्द्र बहादुर सिंह

राजनीति मे जिन परिस्थितियों ने गाधीवाद को जन्म दिया था, साहित्य मे लगभग उन्ही परिस्थितियो ने छायावाद को जन्म दिया। छायावाद न तो निहायत विदेशी कलम था और न बंगला का छायानुवाद। छायावाद का जन्म एक ऐतिहासिक अनिवार्यता के बीच हुआ था। द्विवेदी-युगीन सुधारवादी मनोवृत्ति, गुरुकुल कांगड़ी की सी दमघोट नैतिकता और उपदेशात्मकता से ऊबकर छायावादी कवि ने विद्रोह के स्वर फूंके। द्विवेदी स्कूल की स्थूलोपासना के विद्रोह मे उसने वस्तु और शिल्प दोनो स्तरो पर सूक्ष्मता को प्रतिष्ठापित किया। द्विवेदी युगीन पौराणिकता के स्थान पर लौकिकता को, नीतिमत्ता के स्थान पर शृंगारिकता को, उपदेशात्मकता के स्थान पर रागात्मकता को, इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर लाक्षणिकता को और रूढिप्रियता के स्थान पर स्वच्छन्दतावादी भावनाओं को उसने प्रतिष्ठित किया।

प्रसाद, पत और निराला छायावादी युग मे 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध रहे है। 'प्रसाद' की 'खोलोद्वार' कविता मे यदि छायावाद का जन्म हुआ था तो 'निराला' से उसे पौरुष और पत से माधुर्य मिला था। प्रसाद ने प्रेम और नारी, पत ने सौदर्य और प्रकृति तथा निराला ने पुरुष के प्रति अधिक आकर्षण व्यक्त किया है। पत जी के सम्बन्ध मे एक बात नोट करने की है, कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व मे कोई अतर नही है। जो उनका जीवन है वही उनका काव्य है और जो उनका काव्य है वही उनका

जीवन है। यद्यपि साहित्य के इतिहास म ऐसे सयोग विरल हैं। शातिप्रिय द्विवेदी के शब्दो में पंत जी का व्यक्तित्व पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। निराला जी उन्हे एक कुशाग्र बुद्धि और नाजुक अन्दाज कवि मानते हैं। महादेवी उन्हे चिर कुमार महर्षि नारद की कोटि का चिर कुमार कलाकार मानती है।

पंत जी की कृतियो का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व हम उनकी रचनाओ को निम्नलिखित चार चरणो मे बॉट लेना चाहते हैं—

प्रथम चरण : वीणा से गुजन तक (वीणा, ग्रन्थि, पल्लव और गुंजन)

द्वितीय चरण : युगात से ग्राम्या तक (युगात, युगवाणी और ग्राम्या)

तृतीय चरण : स्वर्ण किरण से उत्तरा तक (स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि-और उत्तरा)

चतुर्थ चरण कला और बूढा चॉद।

प्रथम चरण मे कवि भावुक और सवेदनशील कवि के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होता है। वह प्रकृति के सौंदर्य का गायक है। कवि ने भावनाओं को वाणी दी है। इस काल की रचनाओ में विवेकानन्द, रवीन्द्र-नाथ टैगोर और अंग्रेजी, संस्कृत के कवियो से प्रभावित है। द्वितीय चरण मे कवि बौद्धिक हो गया है और वह विचारो का गायक है। वह मननशील और चिंतनशील हो गया है। प्रकृति की रंगीनियो से मुख मोडकर छाया-वादी कुहासे को छोड़कर अब वह मानव का कवि हो गया है।

कवि इन कृतियो के रचनाकाल मे महान् विचारक मार्क्स और युग-पुरुष गाधी के महिमामण्डित व्यक्तित्वो से प्रभावित है। और उन दोनो के जीवन-दर्शन मे जो कुछ संग्रहणीय प्रतीत हुआ है उसे उसने वाणी दी है। कवि का तृतीय चरण उसके आत्म-दर्शन का चरण है। कवि अपने इस चरण को चेतनावाद का चरण कहता है। कवि ने इन रचनाओं मे अरविंद के दर्शन की स्थान-स्थान पर भावात्मक व्याख्या हैं। वह योगी अरविंद के उर्ध्वगामी दर्शन मे बुरी तरह प्रभावित है। कवि ने दिव्य मानवता का स्वप्न देखा है। उसे मानव का भविष्य आशा और विश्वासमय दीखता है। कवि का चतुर्थ चरण, 'कला और

बूढ़ा चाँद के प्रकाशन के साथ उठा है जिसमे कवि ने नयी भूमि पर सच रण किया है। कवि ने इसे 'रश्मिपदी काव्य' कहा है। कवि बोध के ऐसे शिखर पर पहुँच गया है जहाँ भाव और भाषा उसका साथ नही दे पा रहे है। इसीलिए वह प्रतीको मे बोल रहा है। कवि कहता है कि 'नवसूर्योदय' हो चुका है और उसकी आलोक-रश्मियाँ जीवन के अंध-तमस को समाप्त कर देंगी।

प्रथम चरण

वीणा : (१६१८-२०) :—

'वीणा' की दो-एक को छोड़कर, अधिकांश रचनाएँ १६१८-१६ ई० की लिखी हुई है। तोतली बोली मे यह एक बालिका का मृदु उपहार या वीणा की अस्फुट झंकार है। स्वयं कवि ने इसे एक 'दुधमुँहा प्रयास' कहा है। कवि ने ये गीत बालिका बनकर लिखे है। यह कवि के प्रयोग-काल की रचना है।

वीणा का मूल स्वर आध्यात्मिक है। अधिकाश कविताएँ प्रार्थना-परक गीत है। वीणा की रचनाओ पर रवीन्द्रनाथ टैगोर का व्यापक प्रभाव है। १६१३ मे टैगोर को उनकी गीताजलि पर 'नोबुल पुरस्कार' मिल चुका था और उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व समूचे हिन्दी-जगत् पर छाया हुआ था। पंत जी ने अपने काशी के निवास-काल मे टैगोर की रचनाओ का गहन अध्ययन किया था। फलतः कवि ने टैगोर से भावबोध, सौंदर्य-बोध, भावुकता, काल्पनिकता और रहस्यमयता के क्षेत्र में प्रेरणा ग्रहण की। कही-कही तो कविताएँ छायानुवाद-सी लगती है। कवि का 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' वाला गीत गीतांजलि की 'अंतर मम विकसित' रचना से प्रभावित है। 'अप्सरा' में रवीन्द्र की 'उर्वशी' की छाया है। विवेकानद के आध्यात्मिक विचारो का स्पष्ट प्रभाव वीणा की वीणा, अभिलाषा, आकांक्षा आदि रचनाओं मे परिलक्षित होता है। प्रकृति के कोमल रूप—बादल, इन्द्रधनुष, सरिता, निर्झर, ऊषा, सन्ध्या आदि के प्रति कवि मे आकर्षण का भाव विद्यमान है। प्रकृति मे उसे एक रहस्यमयता भी झलकती

है। कवि जुगुनू से प्रश्न करता है कि पीपल के पेड तले तुम किसे खोज रहे हो ? वीणा की अबोध बालिका प्रकृति के प्रत्यक रहस्य को जान लेने के लिए बेचैन है। उसके लिए प्रकृति एक रहस्य है जो अपने मे अनन्त रहस्य छिपाए हुए है। वह स्वयं रहस्य मे भरी और विस्मय से अभिभूत है—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना
कहाँ-कहाँ हे बाल विहगिनि
पाया तूने यह गाना।"

साकेतिक रूप मे कवि अपनी कल्पना से भी प्रश्न करता है कि कैसे उसने युग की नव्य सांस्कृतिक चेतना का स्पर्श किया। प्रस्तुत कविता कवि की सर्वोत्कृष्ट कविताओं से से है। इसमे अनुभूति, कल्पना और संगीत तीनो की त्रिवेणी प्रवाहित है। भाषा तोतली न होकर प्रांजल है। वीणा की कविताओं मे अनुभूति और कल्पना का जो संयोग है वह पंत जी की बाद की रचनाओं मे दुर्लभ है। वीणा की कुछ कविताएँ शुद्ध गीति-काव्य की उदाहरण है। उनमे अनुभूति की सघनता, गेयता, ध्वन्यात्मकता और संगीतात्मकता आदि गीतिकाव्य के सभी तत्व विद्यमान हैं। 'छाया' का चित्रण देखिए—

"कौन-कौन तुम परहित वसना
म्लानमना, भू पतिता सी— ?
धूल-धूसरित, मुक्त कुतला,
किसके चरणों की दासी ;"

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि 'वीणा' कवि की साहित्य-वीणा की अस्फुट झंकार है।

ग्रन्थि :—

'ग्रन्थि' की रचना जनवरी सन् १९२० मे हुई थी। इस रचना पर सस्कृत के कवियो, विशेषकर कालिदास और भवभूति तथा हिन्दी रीतिकारों

का प्रभाव लक्षित होता है। ग्रन्थि एक वियोग-शृंगार प्रधान गीति-काव्य है। नायक अपनी कहानी आप सुनाता है। 'आँसू' की तरह पंत की 'ग्रन्थि' का आलम्बन भी लौकिकता और अलौकिकता के द्वन्द्व से पीड़ित है। 'ग्रन्थि' की प्रणय-कहानी का सम्बन्ध कवि के वैयक्तिक जीवन से है या नहीं इस पर कोई निश्चयात्मक मुहर नहीं लगाई जा सकती। 'उच्छ्वास' की सरल बालिका लौकिक धरातल का ही बोध कराती है। 'आँसू' की बालिका के प्रति व्यक्त प्रणय, प्रणय-निवेदन ही है। अस्तु इतना ही कहना अलम् होगा कि 'ग्रन्थि' कवि के प्रणय की ऐसी 'ग्रन्थि' है जो कभी खुल न सकी। "......इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी 'उच्छ्वास,' 'आँसू' और 'ग्रन्थि' ये तीनों कविताएँ किसी विशेष प्रणय-भार से दबकर लिखी गयी है और इनमे आत्म-जीवन सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य है।"[1]

'ग्रन्थि' का कथा-भाग अत्यन्त स्वल्प है। एक बार नायक की नौका जल मे डूब जाती है। नायक चेतना-शून्य हो जाता है। जब नायक की चेतना लौटती है तो वह क्या देखता है कि उसका शीश एक बालिका की सुकोमल जाँघ पर है। नायक-नायिका का यह प्रथम दर्शन और परिचय प्रकारान्तर से प्रेम में परिणत हो जाता है। लेकिन समाज की सड़ी-गली मान्यताएँ दो तन को एक प्राण होकर जुड़ने नहीं देतीं। नायिका का गठ-बधन उसकी इच्छा के विपरीत किसी अन्य के साथ हो जाता है। असफल और निराश प्रेमी के हृदय मे वियोग की अग्नि सुलगने लगती है। उसके इस कथन मे कितनी निराशा घनीभूत है—

> "शैवालिनि जाओ मिलो तुम सिंधु से
> अनिल आलिंगन करो तुम गगन का
> चन्द्रिके चूमो तरंगों के अधर
> उडुगनो गाओ पवन-वीणा बजा
> पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।"

"ग्रन्थि, एक प्रेम कहानी है। उसमे वियोग शृंगार का चरम विकास

---

1. सुमित्रानंदन पंत—डॉ० नगेन्द्र

है। कथानक का अंत भी वियोगान्त है कहानी के प्रथम चरण म पूर्व राग का अच्छा विकास हुआ है। शृंगार के प्रमुख संचारियो की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'ग्रन्थि, की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे अनुभूति की कमी नही है जिसकी कमी उनकी प्रायः रचनाओ मे इंगित की गयी है। अनुभूति और कल्पना का जैसा मणि-काचन योग यहाँ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गेयता, गतिमयता, सगीतमय प्रवाह, अनुभूति की सघनता आदि सभी गीतितत्व प्रस्तुत रचना मे मिलते हैं। 'ग्रन्थि' के रचनाकाल मे कवि की कला अलकृत है। इसके दो कारण है। प्रथम तो यह कि 'ग्रन्थि' कवि की प्रारम्भिक रचनाओ मे से है और प्रारम्भ मे प्रत्येक कवि चमत्कार प्रिय होता है और दूसरे यह कि उन दिनो कवि सस्कृत के कवियो का अध्ययन कर रहा था जिनकी अलकृत शैली का प्रभाव उस पर पडना स्वाभाविक था। 'ग्रन्थि' की विरह-विलाप शैली, कालिदास के 'रघुवश' की अजविलाप शैली से प्रभावित है। टैनीसन के ध्वनिबोध का प्रभाव भी कवि स्वीकार करता है। 'ध्वनि चित्रण' का एक उदाहरण लीजिए—

'विरह अहह कराहते इस शब्द से
विधि ने स्वयं अश्रुओ से है लिखा।

पल्लव :—

'पल्लव' मे १६१८ से १६२५ के बीच लिखी गयी रचनाएँ प्रकाशित है। ये रचनाएँ प्रायः 'सरस्वती' और 'श्री शारदा' पत्रिकाओ मे समय-समय पर प्रकाशित हो चुकी है। 'पल्लव' के प्रकाशन के एक वर्ष पूर्व प्रसाद का 'आँसू' प्रकाशित हो चुका था। जिस प्रकार प्रसाद की साहित्यकार के रूप मे प्रतिष्ठा 'अजातशत्रु' के प्रकाशन से हुई थी उसी प्रकार पत की कवि के रूप मे प्रतिष्ठा पल्लव के प्रकाशन से हुई। प्रसाद के 'झरना' कविता सग्रह से यदि छायावाद की नींव पडी थी 'तो पल्लव' के प्रकाशन के साथ ही उसका भव्य प्रासाद भी खडा हो गया। 'पल्लव' का प्रकाशन हिंदी साहित्य मे एक युगान्तरकारी घटना थी जिसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका ने साहित्यिक जगत मे एक हलचल उत्पन्न कर दी। 'पल्लव' के कवि ने उन्मुक्त यौवन के उन्मुक्त प्रेम-गीत गाये है। 'पल्लव' बचपन का हास न

होकर खिले यौवन का मधुप विलास है। कवि एक प्रौढ चिंतन और मनन-शील कलाकार के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।

'पल्लव' की 'उच्छ्वास,' और 'आँसू' शीर्षक रचनायें उत्कृष्ट प्रेमपरक कवितायें है। कला के स्तर पर कसने पर उनका नम्बर ठीक 'परिवर्तन' के बाद आता है। कवि एक किशोरी के भोले सारल्य पर आकर्षित होता है। उसके सारल्य का इससे बढकर सुबूत और क्या दिया जाय कि वह गिरि को बादल का घर कहती थी। इस बालिका से कवि की मैत्री हो जाती है। लेकिन विधि की विडम्बना तो देखिये कि जैसे ही स्नेह पल्लवित और पुष्पित होने को हुआ कि उस पर सन्देह का तुषारापात हो गया। तब राग विराग मे परिणत हो गया। 'सन्देह' पर कवि की कल्पना दाद देने लायक है—

"है अदेह सदेह, नही है इसका कुछ संस्कार !
हृदय की है यह दुर्लभ हार !

*

फैलता है हृदय मे नभ-बेलि सा,
खोज लो, इसका कही क्या मूल है ?

'पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश; पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' कविता मे प्रकृति का इतना सुन्दर सजीव चित्र उपस्थित किया गया है कि हिंदी, संसार मे ढूंढने पर दूसरा जोड़ का चित्र मुश्किल से मिलेगा। मेखलाकार पर्वत जल के दर्पण मे अपना रूप निहार रहा है, कितनी सुन्दर कल्पना है। 'आँसू' कवि का गीला गान है, जिसका प्रत्येक चरण आह से कराह रहा है, जिसकी कथा करुणा से आर्द्र है। कवि कहता है—

"कल्पना मे है कसकती वेदना
अश्रु मे जीता, सिसकता गान है
शून्य आहों मे सुरीले छंद है
मधुर लय का क्या कही अवसान है।"

और कवि कहता है कि आदि कवि कोई वियोगी ही रहा होगा और उसकी आह से ही कविता का जन्म हुआ होगा। ठीक भी है आदि कवि

वाल्मीकि का शोक ही श्लोक में परिणत हो गया था कवि अपने हृदय की व्यथा का भार किसी पर उतारना चाहता है। तड़ित-सा सुमुखि का ध्यान जब हृदय में कौंध जाता है, तो टीस और दर्द की एक लहर झकझोर जाती है। कवि प्रकृति में भी उठी व्यथा को व्यक्त हुआ देखता है। गगन के उर में भी उसे घाव दिखलाई पड़ता है। तारायें भी किसी की प्रतीक्षा में व्यथित दीखती हैं, प्रकृति मानव के साथ तदाकार हो जाती है। कवि प्रिया के संस्सर्ग से उद्भूत पावन प्रेम के प्रभाव का वर्णन करता है—

> "तुम्हारे छूने में था प्राण,
> संग में पावन गंगा स्नान
> तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
> त्रिवेणी की लहरों का गान !"

प्रस्तुत पंक्तियों के सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए निराला जी कहते हैं कि वाणी में त्रिवेणी की लहरों का गान वर्तमान हिन्दी के हृदय का गान है। 'संग मे पावन गंगा स्नान' से ज्ञात पड़ता है, दो ज्योतिमयी मूर्तियों, दो किरणों का मिलाप हो रहा है।"

'वीचि विलास', 'विश्ववेणु', 'निर्झर गान' 'निर्झरी', 'नक्षत्र' आदि प्रकृति-विषयक रचनाएँ है। 'पल्लव' की प्रकृति रहस्यमयता लिये हुए है। इन कविताओं में कवि की कल्पना की उन्मुक्त उड़ान है। 'मोह', 'विसर्जन', 'मुस्कान,' 'स्मृति', 'मधुकरी', 'याचना' 'विनय', 'सोने का गान' आदि भावना-मूलक रचनाएँ है। 'मौन निमंत्रण', 'बालापन', 'छाया', 'बादल', 'अनंग,' 'स्वप्न' आदि कविताओं में अनुभूति और कल्पना का संयोग है। विश्व व्याप्ति 'नारी रूप' 'जीवन यान','शिशु' चिंतन प्रधान, कविताएँ हैं। कवि की प्रकृति विषयक रचनाएँ हिंदी साहित्य में बेजोड़ है। कवि 'निर्झर गान' को 'मूक गिरिवर के मुखरित ज्ञान' कहता है और 'नक्षत्र' को 'स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय'। कल्पना की ऊँची उड़ान इन रचनाओं में दर्शनीय है। 'मोह' में कवि का प्रकृति के प्रति मोह व्यक्त किया गया है। कवि प्रकृति की शीतल छाया को छोड़कर नारी के अंचल के तले मुँह नहीं

छिपाना चाहता है। उसे कोकिल की काकली बालिका की बोल से मीठी लगती है। महाप्राण निराला इसे कला का पतन मानते हैं। मानव विधाता की सुन्दरतम सृष्टि है। प्रकृति के सौंदर्य से मानव का सौंदर्य श्रेष्ठ है। प्रकृति के सौंदर्य को मानव-सौंदर्य से श्रेष्ठतर बताना मानवता के ऐतिहासिक विकास के क्रम को न समझना है। 'मधुकरी' में कवि मधुकरी से अपने मीठे गान सिखाने की प्रार्थना और मधुदान की याचना करता है। 'बालापन' कविता में कवि यौवन के प्याले में फिर वही बालापन भरने की प्रार्थना करता है। उसे अपनी तुतलाहट ही प्रिय है। 'मौन निमंत्रण' का प्रत्येक पद डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में शैली के 'Skylark' की भाँति 'डायमण्डकट' है। 'छाया' कविता तो अपनी अतिशय काल्पनिकता के लिये प्रसिद्ध ही है—

> "कहो, कौन हो दमयन्ती सी
> तुम तरु के नीचे सोई
> हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
> अलि! नल सा निष्ठुर कोई?

कवि 'छाया' को 'कवियों की गूढ़ कल्पना', 'अज्ञाता के विस्मय', 'ऋषियों के गंभीर हृदय', और 'बच्चों के तुतले भय' के समान बतलाता है। 'बादल' कविता में भी कवि की कल्पना बादलों के समान ऊँचे उड़ी है। उत्प्रेक्षाओं की झड़ी सी लगा दी गई है। पंत जी की इस कविता में उपमाओं के द्वारा विषय को मधुर बनाया गया है। कहीं कोमल चित्र प्रस्तुत किया गया है, कहीं परुष। वैसे पंत जी की कल्पना कोमल चित्रों में ही अधिक रमती है। कवि बादल को 'मेघदूत की सजल कल्पना', और 'विपुल कल्पना-सी त्रिभुवन की' कहता है। 'संशय के समान धीरे-धीरे उठने में' 'अपयश के समान शीघ्र ही फैल जाने में' तथा 'मोह के समान उमड़ने में' और, 'लालसा के समान फैलने में' किस प्रकार अमूर्त उपमानों को प्रयुक्त किया गया है, देखते ही बनता है। कविता आत्मकथात्मक शैली में लिखी गयी है। पंत की इस कविता पर शैली के 'क्लाउड' कविता की छाया है। 'अनंग' के चित्र चलचित्रों के समान चलते हुये से लगते

है। नारी-रूप में नारी के प्रति कवि का उदात्त और व्यापक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। नारी-रूप के प्रति कवि का प्रबल आकर्षण है, भले ही वह कायिक न होकर मानसिक हो। कवि को नारी के रोम-रोम से अपार स्नेह है। नारी का हृदय ही कवि का स्वर्गागार है। नारी खेर पैर की जूती न होकर देवि, माँ और सहचरी है। कवि नारी के सहचरी रूप के प्रति अधिक आकृष्ट है।

'परिवर्तन' पल्लव की प्रतिनिधि रचना है। इसमे कवि की प्रतिभा सहस्र दल कमल की तरह प्रस्फुटित हुई है। इतनी श्रेष्ठ और सुन्दर रचना पंत जी अब तक दूसरी नहीं लिख पाए है। 'परिवर्तन' को महाप्राण निराला एक परफेक्ट कविता मानते है। पंत और पल्लव मे उन्होंने लिखा है कि "मेरे विचार मे 'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कृति से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।" इतना भावावेश और भाषा मे इतना ओज पंत जी की दूसरी कविता मे नही है। पल्लव मे विगत वास्त-विकता के प्रति असतोष है और है परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना। कवि ने व्यक्तिगत वेदना का तादात्म्य विश्ववेदना से कर लिया है। कवि के जीवन मे नित्य जगत के अनुसंधान का श्रीरंभ 'परिवर्तन' के रचनाकाल से ही प्रारम्भ होता है। 'परिवर्तन' मे करुणा का सागर लहरा रहा है। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दो मे उसमे परिवर्तनमय विश्व की करुण अभि-व्यक्ति इतनी वेदना-शील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयो को अपनी सहानुभूति के कृपा-सूत्र मे बॉध लेना चाहती है। 'परिवर्तन' के चित्र क्षण मे करुण, क्षण मे मधुर, क्षण मे वीभत्स हो जाते है। कवि की कल्पना जितनी ही रमणीय चित्रों के उतारने मे रमी है, उतनी ही भयंकर और परुष चित्रों के चित्रित करने मे भी। 'परिवर्तन' में एक साथ 'करुण' 'शांत' 'वीभत्स' 'वीर' 'भयानक' आदि रसों का परिपाक हुआ है।

वस्तुतः 'पल्लव' कवि के जीवन की सबसे बडी उपलब्धि है और 'परिवर्तन' उस उपलब्धि की मुकुट-मणि। 'पल्लव' मे भावना और कल्पना का अपूर्व संयोग है। 'पल्लव' मे पंत जी की प्रतिभा का परिपूर्ण यौवन है—वह उसके पूर्ण क्षणो की वाणी है—उसमें विहगवन के इस

राजकुमार की उन्मुक्त वन्य-गीतियाँ है।[1]

गुंजन—

'गुंजन' की कविताओं का रचनाकाल १९२६ से १९३२ के बीच का है। स्वयं कवि के शब्दों में 'गुंजन' उसकी आत्मा का उन्मन गुंजन है। उसमें भावना और कल्पना का प्राधान्य न होकर चिंतन और मनन का प्राधान्य है। कवि 'सुन्दरम्' से 'शिवम्' की भूमि पर पदार्पण करता है। अब उसके काव्य का क्षेत्र प्रकृति की रंगीनियों के स्थान पर मानव हो जाता है। 'गुंजन' मानव का काव्य है। 'गुंजन' की प्रकृति मानव भावनाओं की रंगभूमि है। नारी का सौंदर्य अब कवि को प्रकृति से अधिक आकृष्ट करता है।

'गुंजन' में तीन-चार प्रकार के छोटे-छोटे गीत हैं। कुछ कविताओं में सुख-दुख का समन्वय और मानव-महिमा का गान किया गया है। कुछेक कविताओं में प्रणय-निवेदन है। कुछ कवितायें प्रकृति-परक हैं। प्रथम कविता 'गुंजन' में कवि की आत्मा का उन्मन गुंजन है। दूसरी कविता 'तप रे मधुर-मधुर मन' है जिसमें विश्व-वेदना में तपकर और जग-जीवन की ज्वाला में जल कर अकलुष, उज्ज्वल और कोमल होने की कामना है। कवि जीवन की पूर्णता के सुख-दुख दोनों के 'समन्वय' का पक्षपाती है—

> "सुख दुख के मधुर मिलन से
> यह जीवन हो परिपूरण
> फिर घन में ओझल हो शशि
> फिर शशि में ओझल हो घन।"

'प्रसाद' जी भी विरह और मिलन का परिणय कराते हैं। फिर कवि नाविक को जीवन की लहरों से खेलने और जीवन के अन्तस्तल में डूबने की प्रार्थना करता है। मानव और प्रकृति के अंतर को स्पष्ट करता हुआ कवि कहता है—

१. सुमित्रानंदन पंत—डॉ० नगेन्द्र।

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग से देखा
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर न रही स्मिति की रेखा।''

कवि उच्चादर्शों का प्रेमी है। उसका विश्वास है कि सुन्दर विश्वासों से ही सुन्दर जीवन बनता है। कवि को प्रकृति में विश्वास है, मानव में विश्वास है और ईश्वर में विश्वास है। 'चाँदनी' पर 'गुंजन' में दो कवितायें हैं, एक में रुग्ण चित्र है, दूसरे में उत्फुल्ल। चाँदनी को रुग्णा बाला का रूप दे दिया गया है—

''जग के दुख-दैन्य-शयन पर
यह रुग्णा जीवन बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला।

पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृष-देह-लता कुम्हलाई,
विवसना, लाज में लिपटी,
साँसों में शून्य समाई।''

इस चित्र में 'चाँदनी' का चित्र न उभर कर रुग्णा बाला का चित्र उभर आया है। 'भावी पत्नी के प्रति' एक सुन्दर प्रणय-गीत है, जिसमे भावना और कल्पना का सुन्दर समन्वय है। प्रस्तुत कविता में व्यक्त मादकता पर कीट्स का प्रभाव है। प्रस्तुत कविता की बालिका मधुरता, मृदुता, और सलज्जता की प्रतिमूर्ति है। काश ! कवि की भावी पत्नी वर्तमान की वस्तु हो सकी होती ? नायिका का एक चित्र लीजिए—

''प्रिये प्राणों की प्राण !
अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकंपित-मृदु-उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृग्-पात;

पास अब आ न सकोगा प्राण;
मधुरिमा में से छिपी अजान,
लाज की छुई-मुई सी म्लान !
प्रिये, प्राणों की प्राण !''

प्रस्तुत कविता पर रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' कविता का प्रभाव है। पंत की उपरिलिखित पंक्तियों का मिलान रवीन्द्र की नीचे लिखी पंक्तियों से कीजिए,

''द्विधाय जड़ित पदे कम्रवक्षे नम्र नेत्रपाते
स्मितहास्ये नही चल सलज्जित वासरशय्याते !''

कहीं कुछ घटा-बढ़ा दिया गया है और कहीं रवीन्द्र के शब्द ही फिट कर दिये गए है। 'आँसू' पर 'गुंजन' में दो गीत है। प्रेयसी की आँखों के नीलाकाश में कवि का मन खग खो गया। हमारा कवि जीवन मे पूरी तरह उतर नहीं पाया है, उसने तट पर ही बैठ कर डूबने के सुख का आनन्द लूटा है। प्रस्तुत पंक्तियाँ इस बात की ओर संकेत करती हैं—

''सुनता हूँ, निस्तल जल मे
रहती मछली मोतीवाली
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल-माली।''

'निस्तल जल' विश्व-जीवन है और मोती वाली मछली जीवन का सत्य है। जीवन के सत्य को प्राप्त करने के लिए जीवन में डूबना अनिवार्य है। जीवन मे डूबे बिना जीवन के मोती नहीं प्राप्त होंगे। कवि पंत मे पलायन की वृत्ति बहुत अधिक है, वे जीवन से बचते रहे है, संघर्षों को बचाते रहे हैं।

'अप्सरा' में कल्पना की ऊँची उड़ान है। 'एकतारा' में गम्भीरता है। 'नौकाविहार' 'गुंजन' की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह कविता अपनी चित्रात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। प्रत्येक शब्द का चित्र है। गंगा का चित्र कितना सजीव है। वर्तुल लहरियों को साड़ी की सिकुड़न बना देना, कवि पंत की ही कल्पना का परिणाम है। मृदु मंद-मंद, मंथर-मंथर गति से हँसिनी-सी

लघु तरणि का जल के तल पर संचारण करना, नौका के चलने से जल की हिलोर का उठना और परिणामस्वरूप नभ के ओर-छोर का हिल पड़ना, चल तारक-दल का जल में प्रतिबिम्बित होना, आदि कितने ही सजीव चित्र मन को बरबस बाँध लेते हैं। कविता के अंत में कवि ने दार्शनिकता का पुट भी दे दिया है। 'नौकाविहार' का आरम्भ कवि पंत ने किया है और उसका अंत दार्शनिक पंत ने। 'नौकाविहार' की चित्रात्मकता अद्वितीय है। कहीं-कहीं तो ध्वनि ही अर्थ खोल देती है। स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार की चित्र-संयोजना आलोच्य कविता में हुई है। "वास्तव में शब्द और तूली का इतना निकट का सम्बन्ध हिंदी का कोई कवि स्थापित नहीं कर सका।"[१]

द्वितीय चरण

युगान्त—

युगांत की कविताओं का रचनाकाल १९३४ से १९३५ के बीच का है। युगांत से कवि के छायावादी युग का अंत होता है और प्रगतिवादी युग का प्रारम्भ होता है। कवि अपने दिशान्तर का कारण स्पष्ट करता हुआ कहता है "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौंदर्यबोध, नवीन विचारों का रस नहीं रहा। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया।"[२] बीते युग की संक्रांति, कुहासे, और प्रकृति की रंगीनियों से कवि बाहर निकल आता है। कवि गाँधीवादी-विचारधारा से प्रभावित होता है। जिस सामाजिक यथार्थ का प्रबल आग्रह 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में दिखलाई पड़ता है, उसका बीज यहीं से पड़ता है। पल्लवकाल में कवि प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति का गायक था, अब वह मानव के सत्य और शिव का गायक है। पल्लवकाल की शिल्प-योजना और कोमल-कांत-पदावली का भी कवि परित्याग कर देता है। कल्पना का स्थान चिंतन और मनन ग्रहण कर

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र।

२. आधुनिक कवि : भाग २—'भूमिका'—पंत।

लेते हैं। कवि का नारी कला पौरुषमय हो गयी है। भूमिका में स्वयं कवि का कथन है "युगांत में 'पल्लव' की कोमल कांत-कला का अभाव है। इसमें मैंने जिस नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, मुझे विश्वास है भविष्य में उसे मैं अधिक परिपूर्ण रूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकूँगा।"

'युगांत' में कवि का नवमानववादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। कवि का नवमानवता का स्वप्न गांधीवादी दर्शन से उद्भूत है। चूँकि गांधीवादी मानववाद से अधिक कुछ नहीं है इसलिए कविवर पंत का मानववाद भी पूँजीवादी मानववाद से आगे की वस्तु नहीं माना जा सकता। कवि पूँजीवादी अर्थप्रणाली को दूषित नहीं मानता। वह 'ट्रस्टीशिप' में विश्वास करता है। कवि की शोषित मजदूरों और गरीब किसानों के प्रति सहानुभूति तो है परन्तु वह हार्दिक न होकर बौद्धिक है। वास्तव में कवि ने गांधीवाद और मार्क्सवाद दोनों दर्शनों के संग्रहणीय तत्त्वों को ग्रहण कर एक नये दर्शन का रूप देना चाहा है परन्तु इसमें कवि को असफलता ही मिली है।

'युगांत' का प्रारम्भ ही प्राचीनता के आक्रोश से होता है। मध्ययुगीन जड़ मान्यताओं के प्रति परिवर्तन का प्रबल आग्रह है—

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण!
हिम, ताप, पीत, मधुवात, भीत;
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन।"

कवि का 'जीर्ण पत्र' गत युग के मृत आदर्श हैं। इनके झर जाने से नयी-नयी कोपलें फूटेंगी। जग के पतझड़ में नवल रुधिर का नव कोपलों में संचार होगा। बसंत के आगमन के साथ ही पल्लवों में नवल रुधिर और पत्रों में मासल रंग खिलेगा। कवि कोकिल से पावक-कण बरसाने की प्रार्थना करता है, जिससे जाति, कुल, वर्ण, रूढ़ि, रीति आदि की भित्तियाँ ढह जाँय—

"गा कोकिल, बरसा पावक-कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस, भ्रंस जग के जड़ बन्धन!

पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानव मन :'

पंत की इस कविता पर 'टेनीसन' की 'Ring out the old, ring the new' कविता का प्रभाव है।

'बसन्त', 'तितली', 'छाया', 'शुक्र', 'बाँसो का झुरमुट' आदि प्रकृति-विषयक रचनाये है। 'अल्मोडे के बसंत' का सजीव चित्रण देखिये—

"लो; चित्र शलभ सी, पंख खोल
उडने को अब कुसुमित घाटी—
यह है अल्मोडे का बसंत
खिल पडी निखिल पर्वत घाटी।"

'तितली' मे नीली, पीली, चटकीली, रंगों वाली, मधु की कुसुमित अप्सरि-तितली के प्रति कवि का आकर्षण व्यक्त हुआ है। 'छाया' पर 'युगांत' मे दो कविताये है। छाया न० १ मे 'छाया' के स्थान पर नारी का चित्र उभर आया है। 'शुक्र' कविता की टेकनीक नाटकीय है—'छाया के एकाकी प्रेमी।' 'बाँसों का झुरमुट' शीर्षक कविता का ध्वनि-चित्रण प्रशंसनीय है। कवि समूची वस्तु के प्रभावोत्पादक उपकरणो को ही चुन कर वातावरण की सृष्टि करता है—

'बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट—
है चहक रही चिडियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।'

'युगांत' की दार्शनिक विचारधारा को कवि ने केवल चार पंक्तियो में व्यक्त कर दिया है—

"जो सोये स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन निशीथ
वे देखेंगे जीवन प्रभात।"

'युगांत' का कवि आशावादी है। कवि कहता है कि यदि हृदय मे

अणु भर भी विश्वास है तो गिरिसागर सभी मार्ग प्रशस्त कर दग

'बढो अभय विश्वास चरण धर।'

कवि मानव केहरि से मर्मस्पृह गर्जन का आह्वान करता है ताकि मानस की अंध-गुहाओं का तमस काँप उठे। कवि के मानव ने प्रकृति को पराजित कर दिया है। 'मानव' शीर्षक कविता मे कवि मानव को विधाता की सृष्टि का सुन्दरतम् वरदान मानता है। वह कहता है कि विहग भी सुन्दर है, सुमन भी सुन्दर है, परन्तु मानव तुम सबसे सुन्दर हो। 'मानव' के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते-करते वह मानवी के 'उरोज तक पहुँच जाता है। यह कवि का नारी के प्रति प्रबल आकर्षण है। कवि 'ताज' को गत युग का मृत आदर्श मानता है—

"मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?

आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति।"

टैगोर भी 'ताज' को काल के कपोल का अश्रुबिंदु कहते हैं। कवि का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है। कवि अपने को दीन-हीनो, पीडितो और निर्बलो का जीवन-सम्बल मानता है। कवि उद्घोषणा करता है—

'मैं सृष्टि रच रहा एक नवल

भावी मानव के हित, भीतर,

सौंदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे

मिल सका नही जग के बाहर।'

कवि मार्क्स के क्रान्तिकारी दर्शन मे विश्वास नही करता। वह सौंदर्य, स्नेह, उल्लास और प्रेम आदि की प्राप्ति के लिए मानव के अन्तर्जगत का निर्माण कर रहा है। कवि की तरल रंगीनी भी कहीं-कही उभर आयी है। भाव-प्रवण मुग्धा का चित्र खीचते हुए कवि कहता है कि आँधियों के समान उसके उरोज उत्कम थे। वह बडी ही हँसमुख, चंचल, प्रगल्भ और उदार थी। इसके अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका का कार्य-व्यापार चलता है—

"तुमने अधरों पर धरे अधर,

मैंने कोमल वपु भरा गोद,

पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानव मन।

पंत की इस कविता पर 'टैनीसन की 'Ring out the old, ring the new' कविता का प्रभाव है।

'वसंत', 'तितली', 'छाया', 'शुक्र', 'बाँसों का झुरमुट' आदि प्रकृति-विषयक रचनायें हैं। 'अल्मोड़े के वसंत' का सजीव चित्रण देखिये—

"लो, चित्र शलभ सी, पंख खोल
उडने को अब कुसुमित घाटी—
यह है अल्मोड़े का बसंत
खिल पडी निखिल पर्वत घाटी।"

'तितली' में नीली, पीली, चटकीली, रंगों वाली, मधु की कुसुमित अप्सरि-तितली के प्रति कवि का आकर्षण व्यक्त हुआ है। 'छाया' पर 'युगांत' में दो कवितायें है। छाया नं० १ में 'छाया' के स्थान पर नारी का चित्र उभर आया है। 'शुक्र' कविता की टेकनीक नाटकीय है—'छाया के एकाकी प्रेमी।' 'बाँसों का झुरमुट' शीर्षक कविता का ध्वनि-चित्रण प्रशंसनीय है। कवि समूची वस्तु के प्रभावोत्पादक उपकरणों को ही चुन कर वातावरण की सृष्टि करता है—

'बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट—
है चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।'

'युगांत' की दार्शनिक विचारधारा को कवि ने केवल चार पंक्तियों में व्यक्त कर दिया है—

"जो सोये स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन निशीथ
वे देखेंगे जीवन प्रभात।"

'युगांत' का कवि आशावादी है। कवि कहता है कि यदि हृदय में

अणु भर भी विश्वास है तो गिरिसागर सभी मार्ग प्रशस्त कर देंगे—

'बढो अभय विश्वास चरण धर !'

कवि मानव केहरि से मर्मस्पृह गर्जन का आह्वान करता है ताकि मानस की अध-गुहाओं का तमस काँप उठे। कवि के मानव ने प्रकृति को पराजित कर दिया है। 'मानव' शीर्षक कविता मे कवि मानव को विधाता की सृष्टि का सुन्दरतम् वरदान मानता है। वह कहता है कि विहग भी सुन्दर है, सुमन भी सुन्दर है, परन्तु मानव तुम सबमे सुन्दर हो। 'मानव' के अंग-प्रत्यंगो का वर्णन करते-करते वह मानवी के 'उरोज' तक पहुँच जाता है। यह कवि का नारी के प्रति प्रबल आकर्षण है। कवि 'ताज' को गत युग का मृत आदर्श मानता है—

"मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति।"

टैगोर भी 'ताज' को काल के कपोल का अश्रुबिंदु कहते है। कवि का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है। कवि अपने को दीन-हीनो, पीड़ितो और निर्बलो का जीवन-सम्बल मानता है। कवि उद्घोषणा करता है—

'मै सृष्टि रच रहा एक नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नही जग के बाहर।'

कवि मार्क्स के क्रान्तिकारी दर्शन में विश्वास नही करता। वह सौंदर्य, स्नेह, उल्लास और प्रेम आदि की प्राप्ति के लिए मानव के अन्तर्जगत का निर्माण कर रहा है। कवि की तरल रंगीनी भी कहीं-कही उभर आयी है। भाव-प्रवण मुग्धा का चित्र खींचते हुए कवि कहता है कि अँवियों के समान उसके उरोज उकसे थे। वह बडी ही हँसमुख, चंचल, प्रगल्भ और उदार थी। इसके अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका का कार्य-व्यापार चलता है—

"तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु भरा गोद,

था आत्मसमर्पण सरल मधुर
मिल गये सहज मारुतामोद।"

'बापू के प्रति' शीर्षक कविता 'युगांत' की प्रतिनिधि रचना है। बापू एक महामानव थे। क्षीण काया में महाप्राण बसता था। मनवोचित गुणों से विभूषित वे एक श्रेष्ठ नर-रत्न थे। मानवीय आदर्शों के मानो वे प्रतीक थे। कवि ने उन्ही में अपने आदर्शों का मानो मूर्तिमान रूप पा लिया था। कविता 'ओड' शैली में लिखी गयी है, जिसमें सम्बोधन की भरमार है। कवि गांधी को आध्यात्मिक तत्वों से निर्मित शुद्ध बुद्ध आत्मा कहता है। गांधी प्राचीनता और नवीनता, आध्यात्मिकता और भौतिकता में समन्वय के हिमायती थे। गांधी जीवन की पूर्ण इकाई थे जिसमें संसार की असारता शून्य की भांति नहो व्यापती थी। प्रस्तुत कविता में 'अछूत' और 'मन के मनोज' आदि शब्दों का विचित्र प्रयोग और 'पूर्ण इकाई', 'हे नग्न!' आदि का अभिनव प्रयोग मिलता है।

युगवाणी :—

'युगवाणी' में 'युगांत' के बाद की रचनाएँ संग्रहीत है। युगवाणी में कवि ने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। युग के गद्य से कवि का अभिप्राय युग की उलझनों और समस्याओं से है। 'युगवाणी' को आलोचको ने भारतीय साम्यवाद की वाणी कहा है। कवि की युगवाणी विश्वमूर्ति कल्याणी है, जिसमे वह स्वप्न को यथार्थ बनाने का प्रयत्न करता है। जहाँ मानव प्रेम और सद्भावना से रहे वही स्वर्ग है। ईश्वर क्षीर-सागर निवासी नहीं है, उसका निवास तो हमारे अंतःकरण मे है।

युगवाणी की कुछ कविताओं मे मार्क्स के दर्शन को आत्मसात करने और उसको 'इन्टरप्रेट' करने का प्रयास किया गया है। ऐसी कविताएँ युग-वाणी की प्रतिनिधि रचनाएँ है। कुछ कविताये प्रकृति-सम्बन्धी है। दो-एक कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें आचार्य द्विवेदी और 'निराला' के प्रति श्रद्धा-भाव व्यक्त किया गया है। संग्रह की प्रथम रचना 'बापू' की निम्न पंक्तियो को कवि 'युगवाणी' की कुंजी बताता है—

"भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।"

'युग उपकरण' मे कवि ललितकला की सार्थकता बताता हुआ कहता है कि ललित कला वही है जो कुरूप जग के रूप का निर्माण करे। दर्शन, विज्ञान, ज्ञान की सार्थकता तभी है जब वह मानवकल्याण कर सके। धर्म, नीति, सदाचार की उपयोगिता तभी तक है जब तक वह मानव-जीवन का विकासक है। वह सत्य, सत्य नही है जिसका सम्बन्ध जनता से नहीं है। कवि गांधी को 'नवसंस्कृति का देवदूत' और मार्क्स को 'शंकर का त्रिनेत्र ज्ञान' कहता है। कवि का स्वप्न है कि साम्यवाद के साथ एक नया स्वर्ग धरती पर उतर रहा है, जिसमे वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। कवि कृषकों और मजदूरों का गायक है। कृषक कर-जर्जर, ऋण ग्रस्त है। मजदूर लोकक्रांति का अग्रदूत है और है नयी सभ्यता का सूत्रधार। उसी के द्वारा नये वर्गहीन समाज की स्थापना का श्रीगणेश होगा। युग-विवर्त मे जन-क्षय भी हो सकता है परन्तु मानव के सत्य और अहिंसा के साधन निश्चय ही इष्ट रहेगे। 'समाजवाद' शीर्षक कविता मे कवि कहता है कि पूँजीवाद की निशा समाप्त हो रही है और सुप्रभात होने ही वाला है। पूँजीवादी व्यवस्था की नींव हिल चुकी है, वह सिकुड़ रहा है। कवि पूँजीपतियो को जोंक और गतसंस्कृति का गरल मानता है। लेकिन कवि आज के घोर भौतिकतावादियो को भी सचेत कर देना चाहता है—

"हाड़-माँस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज
हाथ, पाँव सगठित चलावेंगे जग-जीवन काज।"

कवि 'मार्क्सवाद' और 'गाँधीवाद' दोनो दर्शनो की अच्छी बातो को ग्रहण करना चाहता है—

"मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाधीवाद
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अतिवाद।"

कवि भौतिक और आध्यात्मिक अर्न्तजगत और वहिजगत, व्यक्ति और समूह, स्वप्न और सत्य, ज्ञान और कर्म मे सामंजस्य उपस्थित करता है। इसके बिना मानवता शांति नहीं पा सकती। 'दो लड़के' शीर्षक

कविता मे नंगे तन, गदबदे सावले सहज छबीले धूल धूसरित पासी के बच्चो के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है। मध्यवर्ग पर भी एक कविता है जिसमे उसे परिजन पत्नी प्रिय कहा गया है। मध्यवर्ग की स्थिति त्रिशंकुवत् है। वह न तो पूँजीपतियो का कृपा-पात्र बन पाता है और न सर्वहारा वर्ग मे ही घुल-मिल जाता है। उसकी स्थिति 'त्रिशंकुवत्' हो जाती है। 'नारी' मे युग-युग की बर्बर कारा मे चिर-वन्दिनी नारी की मुक्ति की घोषणा है। नारी ने नर के समक्ष अपने को आत्मसमर्पित किया प्रेमवश और नर ने उसे उसकी कमजोरी समझ बन्दिनी बना लिया। मानवोचित प्रेम वही है, जिसमे कामेच्छा प्रेमेच्छा बन जाय। कवि 'नव-संस्कृति' और 'रूप-निर्माण' मे एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें भाव और कर्म मे अपूर्व सामंजस्य हो। मानव श्रेणि-वर्गों मे विभक्त न हो। श्रम का वास्तविक मूल्य हो, शोषण न हो। जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीडित इन्सान न हो। सुन्दर आवास हो, सुन्दर वस्त्र हो, और सुन्दर मन हो। इसी प्रकार की आदर्श राज्य की कल्पना 'शेली' के 'प्रोमेथियस अनबाउन्ड' मे भी मिलती है।

'गगा की साँझ', 'गंगा का प्रभात', 'पलाश', 'बदली का प्रभात', 'दो मित्र', 'झझा मे नीम', 'ओस के प्रति', 'ओस विन्दु', 'कुसुम के प्रति' आदि प्रकृतिविषयक रचनाएँ है। युगवाणी की प्रकृति मानव के लिए है, इसी प्रकार का भाव प्रकृति की कविता मे व्यक्त किया गया है। 'दो मित्र' शीर्षक कविता मे प्रकृति का मानवीकृत रूप देखिये—

"उस निर्जन टीले पर
दोनो चिलबिल
एक दूसरे से मिल
चित्रो से है खडे
मौन, मनोहर।"

'युगवाणी' के गायक के लिए वस्तु प्रधान और शिल्प गौण है। उसे अपना कथ्य अभीष्ट है। अपने पाठको तक यदि वह अपनी भावनाओं को संप्रेषित कर पाता है तो वह अपने को सफल मानता है। भाव के साथ शैली

भी परिवर्तित हो गयी है । उसमे सरलता, सादगी आ गयी है । उसमे 'पल्लवकाल' के अलंकरण का अभाव है । भाषा मे सूक्ष्मता और विश्लेषण आ गया है । शब्दो मे चुस्ती आ गयी है । छन्द का बन्धन ढीला हो गया है—

"खुल गये छन्द के बंध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत युक्त,
औ युगवाणी बहती अयास ।"

'ग्राम्या'—

'ग्राम्या' सन् ४० की रचना है जब प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य मे घुटनो के बल चलना सीख रहा था । इन रचनाओ मे ग्रामीणो के प्रति बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त की गयी है । बौद्धिक सहानुभूति का तात्पर्य यह है कि कवि ने इन रचनाओं की सृष्टि हृदय के स्तर पर न कर के बुद्धि के स्तर पर की है । ग्राम्य-जीवन मे पैठकर उनके भीतर से रचनाएँ नही लिखी गयी है । कवि ने ग्रामीण जीवन को पूंजीवादी-व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखा है । ग्रामीणो के प्रति जैसी हार्दिक सहानुभूति मुंशी प्रेमचन्द मे थी, वैसी पंत जी मे नही है, हो भी नही सकती । प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन मे पैठकर उसे अत्यन्त नजदीक से देखा था और देखा ही नही था स्वय जिया था, भोगा था और उसका जीता-जागता चित्र अपने उपन्यासो मे उपस्थित किया । पंत जी का तर्क है कि ग्राम्य-जीवन के भीतर डूबकर ग्रामो की वर्तमान दशा का चित्रण करना प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना है । लेकिन क्या पंत जी जीवन मे डूब भी सकते है ? कदाचित् नही । पत जी जीवन में पूरी तरह मे उतरे ही नही है, संघर्षों से जूझे नही है, उसे बचा कर निकल गए है । कलाकाँकर के निर्जन टीले पर अवस्थित 'नक्षत्र' से ही उन्होंने धरती पर रहने वाले मनु-पुत्रों का अध्ययन किया है । इसीलिए इन कविताओं मे भावमग्नता, तन्मयता नही है, तटस्थता है ।

'ग्राम्या' मे कवि ने गाँव के जीवन, वहाँ के नर-नारियो के नित्य के क्रिया-कलाप, उनके रीति-रिवाजो आदि का यथार्थ चित्रण किया है । मध्य-

युगीन रूढ़ियों और अंध-विश्वासों के प्रति घोर असंतोष व्यक्त किया गया है। कवि ने ग्राम्य-जीवन के पात्रों को व्यष्टि रूप में न ग्रहण कर समष्टि रूप में ग्रहण किया है। व्यक्तियों के चरित्र टाइप हैं, उनके दुख-सुख सभी के दुख-दर्द हैं, यद्यपि इसके अपवाद भी हैं।

'स्वप्नपट' और 'ग्रामश्री' शीर्षक कविताओं में ग्राम्य-जीवन को कुत्सित और गर्हित बतलाया गया है। जिन गरीब किसानों को पेट भरने के लिए भोजन और तन ढकने के लिए वस्त्र के भी लाले पड़े हैं, उनकी सौंदर्य-दृष्टि क्या हो सकती है? नालियों में रेंगने वाले कीड़ों की तरह बदबू भरे मकानों में उनका जीवन नारकिक नहीं तो और क्या है? विभिन्न जाति, वर्णों और श्रेणिवर्गों में अखंड मानवता खंड-खंड होकर बिखर गयी है। इसीलिए कवि कहता है कि भारत के ग्राम सभ्यता और संस्कृति से निर्वासित हैं। न वहाँ ज्ञान है, न कर्म है और न कला है। वहाँ तो ग्रामीण जन हैं, उनकी भूख है, उनकी अतृप्त इच्छायें हैं। उनकी अपनी रूढ़ियाँ हैं, रीतिरिवाज हैं, अंधविश्वास हैं, जाति-पाँति के जड़-बन्धन हैं। कवि मानव-जीवन के इस असद पक्ष का विनाश करना चाहता है। जहाँ तक विनाश के लिए साधनों के प्रयोग का प्रश्न है, कवि कभी मार्क्स की ओर झुकता है, कभी गाँधी की ओर। कवि जीवन की इन विकृतियों को दूर कर मानवता के विकास का पथ प्रशस्त करना चाहता है। ग्राम्य-जीवन के इस गर्हित और विकृत पक्ष के उद्घाटित होने के अनन्तर भी कवि को विश्वास है कि मनुष्यत्व के मूल तत्व गाँवों में ही साकार रूप में विद्यमान है—

> "मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों में ही अन्तर्हित,
> उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।
> शिक्षा के सत्याभासों से ग्राम नहीं हैं पीड़ित,
> जीवन के संस्कार अविद्या तम में जन के रक्षित।"

'ग्राम युवती' का चित्र रोमैण्टिक है। यह एक चंचल इठलाती, बलखाती, मटकती और चमकती हुई ग्राम-युवती का चित्र है। पट का सरकाना, लट का खिसकाना आदि कार्य-व्यापार उसके चांचल्य के प्रतीक हैं।

ऐसी विचित्र ग्राम युवती पर ग्राम युवकों का आकृष्ट होना भी सहज स्वाभाविक है। पनघट पर भारी गागर जल से भरकर जब वह उबहनी खींचती है तो उसकी चोली के भीतर कसे युग रसभरे कलश भी कसमस करते हुये साथ-साथ खिंचने लगते हैं। वर्णन यथार्थ होते हुए भी कवि की रोमानी प्रवृत्ति का परिचय देता है। कवि का रीतिवाली नख-शिख परम्परा के प्रति मोह भी व्यक्त दिखता है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह चित्र ग्राम-युवती का टाइप चरित्र ही नहीं है। जिसका जीवन दुखों में पिसकर और दुर्दिन में घिसकर असमय में ही ढल जाता हो उसमें यौवन की इतनी मादकता कहाँ से आ सकती है? 'ग्राम-नारी' में कवि ने भारतीय आदर्श गृहिणी का चित्र खींचा है। भारतीय जीवन-दृष्टि नारी की पूर्णता उसके रमणीयत्व में नहीं गृहिणीयत्व वाले रूप में स्वीकार करती है। भारतीय नारी एक ओर शरीर से स्वस्थ और पुष्ट होती है और दूसरी ओर उसके हृदय में नारी-सुलभ उदात्त गुण भी विद्यमान् होते हैं। लज्जा नारी का आभूषण है और अवगुण्ठन उसका सौंदर्य। वह दया, क्षमा, प्यार, ममता, स्नेह, शील, त्याग, सहिष्णुता और सेवा-भावना की प्रतिमूर्ति होती है। उसका सौंदर्य नैसर्गिक और स्वाभाविक होता है, नागरियों की तरह पाउडर, स्नो, नेल-पालिश, लिपिस्टिक आदि शृंगार-प्रसाधनों के द्वारा निर्मित कृत्रिम और अस्वाभाविक नहीं। कवि ने ग्राम-नारी की तुलना में नागरी को हेय साबित किया है। नागरी सत्याभासों में पलती है, प्रेम नहीं प्रेम का नाटक करती है, कृत्रिम रति और कृत्रिम शृंगार करती है। 'वे आँखें' कविता में उस विवश किसान का चित्रण है जो जमींदारों और महाजनों के शोषण का शिकार है। जमींदार उसे बेदखल करता है तो महाजन ब्याज की कौड़ी-कौड़ी के लिए उसके संसार को उजाड़ देता है। शासन और समाज के सड़े-गले नियम किस प्रकार किसी की भरी-पुरी गृहस्थी को नष्ट कर देते हैं, इसका जीता-जागता चित्र प्रस्तुत कविता में उपस्थित किया गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था ने नारी को नितांत दयनीय बना दिया है। उसका जीवन इतना मूल्यहीन है कि उसके लिए दवा-दर्पन की आवश्यकता नहीं है। वह खैर पैर की जूती है—

खर पर का जूता जोरा
न सही एक, दूसरा आती,
पर जबान लड़के की मुधकर
साँप लोटते, फटते छाती।''

इन पंक्तियों में कवि ने सामाजिक व्यवस्था पर बड़ा ही तीखा, तिलमिला देने वाला व्यंग्य कसा है।

'गाँव के लड़के' कविता में ग्रामीण लड़कों का विकृत चित्र उपस्थित किया गया है। धूल-धूसरित, गंदे, गदबदे बदन वाले, चीथड़ों में अपने को लपेटे हुए ये ग्रामीण बच्चे अभावों के बीच में पलते हैं। 'बुड्ढे' का चित्र बनमानुस-सा लगता है। उसका कारुणिक चित्र हृदय को आर्द्र कर देता है। 'धोबियों,' 'चमारों' और 'कहारों' के नाचों का वर्णन कवि ने नृत्यमयी भाषा में किया है। नृत्य के साथ शब्द भी नाच उठते हैं। बाद्यों का वर्णन भी अनुकूल ध्वनि उत्पन्न करता है। धोबियों के नृत्य में जब हम पढ़ते हैं कि 'स्त्री नहीं गुजरिया वह है नर' तो शृंगार रस रसाभास में परिणत हो जाता है। चमारों के नाच में तिलमिला देने वाली फब्तियाँ कसी जाती हैं। वस्तुतः ये ग्रामीण जन इन अवसरों पर अपनी दैनिक व्यथा को भूलकर हर्षोल्लास प्रगट करते हैं। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री को उनके नृत्यों में भले ही ऊँची कलात्मकता न मिले परन्तु उनके रेगिस्तानी जीवन का यही नखलिस्तान है। उनके हृदय के हर्षोल्लास का व्यक्त सहज रूप है। 'ग्रामबधू' कविता में ग्रामीण-जीवन की एक रुढ़ि-परम्परा का मजाक उड़ाया गया है। पति के घर जाती ग्राम-वधू का रुदन पंत जी को कृत्रिम लगता है। वह रोती है इसलिए कि रोने का अवसर है। लड़की के बिदा का दृश्य इतना कारुणिक होता है कि योगी-मुनियों के धैर्य का बाँध भी टूट जाता है।

योगियों की तो बात ही निराली है। वल्कलवसनी शकुन्तला को विदा करते हुये कण्व ऋषि कहते हैं कि जब मुझ जैसे विरक्तों की यह कारुणिक स्थिति है तो संसारियों की क्या स्थिति होती होगी! नारी का हृदय तो मोम सा मुलायम होता है, जरा सी भी वेदना की आँच उसे पिघला देती है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक लोक-गीत का स्मरण अनायास हो आता है जिसमें कन्या की विदा-वेला मे पिता के रोने से गंगा में बाढ आ जाती है; अम्मा के रोने से कुहराम मच जाता है और भैय्या के रोने से चरण-धोती भीग जाती है। पंत जी को शायद ग्राम्य-जीवन मे प्रचलित बाल-विवाह की प्रथा का ज्ञान नही है। अपरिपक्वावस्था मे ही 'वधू' बनने वाली भारतीय कन्या जब अपने पुरजन, माता-पिता, भाई- भावज, फुआ-मौसी और सखी-सहेलियो को छोड़कर एक अपरिचित ससार के लिए प्रस्थान करती है तो उसका रुदन सोलहो आने सत्य है। और जैसे ही हम पढते है 'वतलाती धनि पति मे हँस कर' वैसे ही पन्त जी के ग्राम-ज्ञान पर रही-सही आस्था भी खण्डित हो जाती है। पहली बात तो यह है कि गाँवो मे पति पत्नी को लेने ही कम जाता है और यदि जाता भी है तो नाई या देवर साथ मे होता है। और क्षण भर के लिए मान भी लिया जाय कि पति और पत्नी के सिवा वहाँ और कोई परिचित नही है तो क्या बाल-वधू को पीहर-विछोह का दुख हँसायेगा। और यदि यह भी मान लिया जाय कि वह पूर्ण युवा है तो क्या भारतीय सस्कार उसे 'परमिट' करेगे कि अपनी स्वाभाविक लज्जा को तिलाजलि देकर वह पति से डिब्बे मे औरो की उपस्थिति मे हँस-हँस कर बातें करे। वैसे स्टेशन पर विदाई का दृश्य अत्यंत सजीव है। सारा चित्र आँखो के सामने घूम जाता है।

'ग्राम श्री' मे प्रकृति का चित्रण किया गया है जो कवि के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का परिचायक है। फल, फूल, तरकारी आदि का वर्णन वातावरण को सजीव बना देता है। मालिन की लड़की 'तुलसा' का व्यक्तित्व काफी उभरा हुआ है। वर्णन सजीव है। 'नहान' मे मकरसक्राति के अवसर पर कोसो पैदल चलकर, शीत-लहरी का प्रकोप सहते हुए, लाखों नर-नारी गंगा-तट पर स्नानार्थ एकत्रित होते है। यह उन के अगाध विश्वास का परिचायक है। अनावश्यक गहनो का बोझ किस प्रकार नारी-सौन्दर्य को विकृत कर देता है, इसका भी चित्रण किया गया है। यद्यपि ग्रामीण स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से परवश होती हैं, ये गहने ही उनकी स्थायी निधि हैं जो गाढ़े अवसर पर काम आते है। 'भारत-माता' कविता मे

ग्रामवासिनी भारत-माता' का दीन-हीन, निर्धन और पराधीन चित्र उपस्थित किया गया है। उसकी निर्धनता इससे बढ़कर और क्या हो सकती है कि तीस कोटि संताने नग्न, क्षुधित, शोषित, असभ्य, अशिक्षित और निर्धन है। कवि को आने वाला भविष्य स्वर्णिम दीखता है। 'चरखा गीत' मे चरखे की महिमा का गान है। चरखा निर्धनता को धुनने वाला है। नग्न भारत की नग्नता उससे ढकी जा सकती है। बेकारो को काम मिल सकता है। 'चरखा' हमारी आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन ला सकता है। 'महात्मा जी के प्रति' कविता मे कवि 'बापू' को मानव आत्मा का प्रतीक बतलाता है। युग-पुरुष गाँधी ने युग-युग की संस्कृति का सार-तत्व ग्रहण कर नव्य संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा था। 'राष्ट्रगान' कविता मे भारत का गौरव-गान गाया गया है। राष्ट्र की महत्ता और उदात्तता का चित्र खीचा गया है।

'ग्राम-देवता' मे कवि ग्राम-देवता को स्थिर, परिवर्तन-रहित, रूढि का धाम बतलाता है। कवि का विश्वास है कि एक दिन मनुष्यता नैतिकता पर अवश्य जय प्राप्त करेगी, वर्ग गुणो का जन-संस्कृति मे लय होगा। इस ऐतिहासिक क्षण मे युग-युग की खण्डित मानवता पूर्ण मानवता का स्वरूप धारण करेगी। इस नव्य मानवता मे जाति, श्रेणि, वर्ग सभी का क्षय होगा। 'सन्ध्या के बाद' कविता में सन्ध्या होने के बाद के ग्राम्य-जीवन का चित्र अंकित किया गया है। सन्ध्या के आगमन के साथ ही साथ पक्षी नीड़ो की ओर और मानव अपने घरो की ओर लौट पड़ते है। दरिद्रता पापों की जननी है। भूखा मनुष्य क्या नहीं करता? कवि ग्रामीणो के दैन्य और दारिद्रय को दूर करना चाहता है। मानव को भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधा मिले, यही 'ग्राम्या' की वाणी का मूल स्वर है। 'रेखा-चित्र' कविता की अंतिम पंक्तियों से यह ध्वनि आती है, कि कवि को पथ के साथी की खोज है—

"साँझ नदी का सूनातट,
मिलता है नही किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन,
साथी, स्नेह सहारा।"

'स्विवास्वप्न' में कवि संसार के कोलाहल से दूर प्रकृति की गोद में, द्रुमों की छाया में, विहगों के स्वर में खो जाना चाहता है। 'स्वीट पी के प्रति' कविता में फूल कुलवधू के समान सुकुमार और सलज्ज बन गया है। नागरिका की कृत्रिम सारहीन रंगीनी पर व्यंग्य कसा गया है। 'आधुनिका' का रूप तितली का है। उसमें तितली की सी रंगीनी और चंचलता है। कृत्रिम सौन्दर्य कृत्रिम ही है। कागज के फूलों में वह भीनी सुरभि कहाँ जो डाल के फूलों में है। कवि 'मजदूरनी' की तुलना में ऐसी 'आधुनिका' को हेय समझता है। मजदूरनी कवि को इसलिये प्रिय है कि वह श्रम का मूल्य पहचानती है। वह बोझा ढोकर जीविका-निर्वाह करती है परन्तु किसी के शीश पर भार नहीं बनती। 'सूत्रधार' कविता में कवि यंत्रों को जड़ नहीं, भावरूप और संस्कृति का द्योतक मानता है। यंत्रों के सम्बन्ध में उसकी यह धारणा विचित्र लगती है। यही नहीं वह यंत्रों को जीवन-सौन्दर्य का प्रतीक और भावों का पथ-दर्शक कहता है।

आज के युग-जीवन के सम्मुख सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन की समस्या सबसे बड़ी समस्या है। 'संस्कृति का प्रश्न' कविता में इसी समस्या को उभारा गया है। कवि का कथन है कि संस्कृति मानव-हृदय में प्रवाहित मनुष्यत्व का रुधिर है। वह मानव के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के सर्वांगीण विकास की द्योतक है। प्रस्तुत कविता में कवि ने भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता के विकास पर बल दिया है। 'बापू' शीर्षक कविता में कवि का यही भाव व्यक्त है कि भौतिक उन्नति ही सब कुछ नहीं है। जीवन की और जगत की वास्तविक शांति आध्यात्मिक जगत के विकसित होने पर ही प्राप्त होगी। कवि 'पतझर' में मन के पीले पत्तों को झरने का आग्रह करता है। ये मन के पीले पत्ते गत युग के मृत विश्वास हैं। 'उद्‌बोधन' कविता में कवि प्राचीन संस्कृति के जड़ बन्धनों, जीर्ण विश्वासों, बलिप्राय संस्कारों को ध्वस्त करना चाहता है और नवीन विश्व-संस्कृति का शिलान्यास करना चाहता है। 'नक्षत्र,' 'आँगन से,' तथा 'याद' ये तीनों कवितायें आत्मपरक हैं। 'याद' में कवि ने बादलों के नीरव विषाद को अपना आत्मीय बंधु समझा है।

'ग्राम्या' की रचनाएँ कला के स्तर पर न लिखी जाकर प्रचार के स्तर पर लिखी गयी है। कवि ने प्राचीन जड संस्कृति के प्रति घोर विरक्ति का भाव प्रदर्शित किया है। कवि खण्डित मानवता को एक सूत्र मे आबद्ध करना चाहता है। कवि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे परिवर्तन की कांक्षा करता है। स्वप्न को साकार करने के लिए कभी कवि गांधीवाद का सहारा लेता है, कभी मार्क्सवाद का। कही कवि दोनो दर्शनों की अच्छाइयों को मिलाकर एक करना चाहता है।

कुल मिलाकर, संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि 'ग्राम्या' कवि की प्रगतिशील विचारों को वहन करने वाली एक बहुचर्चित रचना है। इसकी शैली भावात्मक और रस बौद्धिक है। रचनाएँ हृदय से सीधी न निकलकर मस्तिष्क से उद्भूत है। कवि कविताओं मे डूबता नहीं, तटस्थ रहता है।

तृतीय चरण

'स्वर्ण किरण,' 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा'

'प्रसाद जी को भारत के स्वर्णिम अतीत से अनुराग था तो पंत जी को आने वाले भविष्य से। 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' में भारत के उज्जवल भविष्य का चित्र खींचा गया है। ये रचनाएँ कवि के 'अध्यात्म-युग' की रचनाएँ है जिन्हे स्वयं कवि ने चेतना का 'काव्य' कहा है। 'उत्तरा' की भूमिका मे कवि ने कहा है "ज्योत्सना' की स्वप्नाक्रांत-चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्ण किरण' मे युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णमय हो गयी है।" 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' कवि की अस्वस्थता के बाद की रचनाएं है जिनमें दरसल 'ज्योत्सना काल' की चेतना ही अधिक विकसित रूप मे प्रस्फुटित हुयी है। संयोग की बात है कि इन्ही दिनों कवि योगी अरविंद के प्रभाव मे आया। 'अरविंद दर्शन' का अध्ययन करते-करते उसे ऐसा लगा कि मानो जिसकी खोज थी, वह उसे मिल गया। विश्व इतिहास की ओर यदि हम ध्यान दे तो देखेंगे कि इन्हीं दिनो फ्रायड और उसके मनोविज्ञान की गहरी धूम पूरे योरोप मे छायी

हुयी थी। साहित्य भी धीरे-धीरे उससे बुरी तरह प्रभावित होता गया। फ्रायड का दर्शन विकृतवादी था जिसने मानवता के उर्ध्व विकास की संभावनाएँ समाप्त कर दी थी। फ्रायड का दर्शन अधोगामी था। फ्रायड ने मानव-मन की चेतन, अर्धचेतन और अचेतन तीन पर्तें बतायीं। उसने बताया कि हमारी जो भी इच्छायें या वासनाएँ पूरी नही होती है वे वासना रूप मे अर्धचेतन मन में कुण्ठा बनकर विद्यमान रहती है। कला और साहित्य मे अर्धचेतन मस्तिष्क मे दबी ये ही कुंठायें व्यक्त होती है। अरविंद ने फ्रायड के इस मत का प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा कि मानव का विकास उर्ध्वगामी है। हजारो वर्षों की साधना के बाद मानव पशुता के धरातल मे ऊपर उठकर वर्तमान स्थिति मे आया है। अस्तु मानव अब पशुता की ओर नही लौटाया जा सकता है। वह देवत्व की दिशा मे बढ़ रहा है, वह ईश्वर होने की प्रक्रिया मे है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दमय कोषों की यात्रा पारकर वह चेतन आनन्द की स्थिति मे पहुँचेगा। अरविंद ने कहा कि मन की पर्तों से परे एक दिव्य मन है जिसकी प्राप्ति के लिए मानव को सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए।

हिंदी के कवियों मे केवल पत जी ने अरविंद दर्शन को स्वीकार किया। विश्वकल्याण के लिए वे अरविंद की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानते है। वे कहते है कि योगी अरविंद से मैं इसलिए प्रभावित हूँ कि उन्होने 'ईस्ट' को 'वेस्ट' के सामने 'इण्टरप्रेट' करने का महान् कार्य किया है। पंत जी अपनी साहित्यिक साधना के मध्य काल मे थोड़ा भटक गए थे परन्तु मार्क्स-दर्शन का वर्ग-संघर्ष, निरीश्वरवाद और अनात्मवाद उन्हे हार्दिक शांति न दे सका। वैसे वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने मार्क्स क दर्शन को पूरी तरह कभी भी स्वीकार नही किया। पंत जी अपनी स्वाभाविक और प्रकृत भाव-भूमि पर पुनः सचरण कर रहे हैं, यह संतोष की बात है।

पत जा का अध्यात्मवाद मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद है। उनका कहना है कि यदि बाह्य परिस्थितियाँ बदली जा सके तो आन्तरिक परिस्थितियाँ अपने आप बदल जायगी। कहने का तात्पर्य यह कि पंत जी का अध्यात्म-

वाद जीवन से पलायन नहीं है और न ही उसमें भौतिकता की उपेक्षा की गयी है। कवि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में विकास का पक्षपाती है ताकि पूर्ण संस्कृति का निर्माण किया जा सके।

कवि भौतिक, आध्यात्मिक व्यष्टि और समष्टि, हृदय और बुद्धि, भूत और चेतन के समन्वय के आधार पर एक पूर्ण मानवता के विकास की संभावना देखता है। इन रचनाओं में 'स्वर्ण' का प्रयोग चेतना के प्रतीक के रूप में हुआ है।

स्वर्ण किरण—

स्वर्णकिरण में कुछ कविताएँ ऊर्ध्व चेतना सम्बन्धी, कुछ प्रकृति संबंधी और कुछ कविताएँ आत्मगत है। 'स्वर्णोदय' में कवि ने अपने ऊर्ध्वगामी दर्शन को प्रस्तुत किया है। कवि ने सांस्कृतिक समन्वय कराने का भी प्रयास किया है। कवि वर्तमान की विषम स्थिति का चित्रण करते हुए कहता है कि मानव-जीवन टूट-टूट कर बिखर गया है, अर्थ का और श्रम का शोषण हो रहा है, विश्व-जीवन यन्त्राभिभूत हो गया है, मध्यवर्ग आत्मरत है—स्त्री, धन और मान यही उसके संसार की परिधि है। अखण्ड मानवता को खण्डित करने वाले सारे तर्क मिथ्या है—

"वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खण्डित
बहिर्ज्ञान विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।"

विज्ञान में जब तक आध्यात्मिकता का संस्पर्श न होगा वह विश्व-मानव का कल्याण न कर सकेगा। कवि विवेकानंद के शब्दों में योरोप के शरीर में भारत के दर्शन को स्थापित करना चाहता है—

"पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो विकसित विश्वतंत्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भूतमम तिरोहित।"

'स्वर्ण किरण' की प्रकृति भी आध्यात्मिक आकर्षण से युक्त है। 'हिमाद्रि' प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं में सर्वोच्च स्थान की अधिकारिणी है। हिमालय को कवि अपना शिक्षक स्वीकार करता है, जिसकी रहस्यमय ऊँचाइयाँ कवि

के हृदय म एक प्रकार का रहस्यमयी चेतना का बोध कराती हैं। एक के ऊपर एक उठते हुये हिम-शिखर अरविंद के दर्शन के ऊर्ध्व संचरण की प्रक्रिया का सकेत देते हैं—

"शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव आत्मा कर दी ज्योतित......।"

जिस प्रकार हिमशिखर एक के ऊपर एक उठते हुते उर्ध्व संचरण करते है उसी प्रकार चेतना भी अन्न, प्राण, मन विज्ञान और आनंदमय कोषो को पार करती हुयी चेतन आनंद की स्थिति मे पहुँचती है।

आज का युग-जीवन अनास्था, भय, घृणा, सशय और प्रतिहिंसा का जीवन है। आज का मानव बुद्धि की यात्रा करते-करते चन्द्रलोक तक पहुँच गया है परन्तु उसके हृदय का देश पीछे छूट गया है। मानव हृदय की कोमल वृत्तियाँ विज्ञान की बुद्धि मे झुलस गयी है: उसके हृदय की संवेदनशीलता, दया, क्षमा, प्यार, करुणा और सहानुभूति आदि का लोप हुआ दीखता है। मानव के अन्तर्जगत का सौंदर्य नष्ट हो गया है। कवि प्रकृति की तुलना म भी मानव को हेय सिद्ध करता है। कवि कहता है कि वृक्षों पर कलियाँ और पुष्प हैं, उनमे मधु है और मधु का बहुजनहिताय संचय करने वाली मधुमक्खियाँ उन पर मँडरा रही है। सरसी मे जल है, जल मे लहर है और लहरों का ज्योत्सना से चुम्बन हो रहा है। परन्तु दूसरी ओर मानव है जिसका हृदय अन्तःसुरभित नही है। फिर भी कवि निराश नही है। वह आस्था और विश्वास के साथ कहता है कि हिमालय के शिखरो से होती हुयी नव्य-मानवता अवरोहण कर रही है। वह जो सोने का चाँद आकाश मे उदित हुआ है वह दूध की धार के समान दिव्य-चेतना की वर्षा कर रहा है। भू के नभ पर यह स्वर्णचेतना का जो नव दिनकर उदित हो रहा है उसकी स्वर्ण रश्मियाँ धरा को आलोकित कर देंगी। एक दिन अवश्य आयेगा, जबकि मानव और मानव के बीच की दूरी समाप्त होगी। मानव के हृदय में दया, क्षमा, प्यार, अहिंसा, करुणा, सहानुभूति आदि का भाव जाग्रत होगा। सहस्रदल कमल की तरह मानव-जीवन विकसित, प्रस्फुटित और सुरभित होगा। भू-मंगल के साथ व्यक्ति का

मगल परिणीत होगा। भौतिक और आध्यात्मिक, अन्तर और वाह्य, व्यष्टि समष्टि के समन्वय के आधार पर ही नवीन सस्कृति का निर्माण होगा —

"ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतो का एकत्व, समन्वय।
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।

*

बहिरतंर के सत्वो का जगजीवन मे परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जनमंगल हो नि संशय।"

'स्वर्ण-निर्झर' मे सुन्दर उरोजों, कासना शिखरो, ज्योति-झँवर सी मधुरलाभि, कविताओ सी बाहे, चुम्बन को अधीर अधरो के प्रति कवि की आसक्ति व्यक्त हुयी है जो कि उसके रामराम सीताराम के आध्यात्मिक वातावरण के प्रतिकूल पड़ती है। 'अवगुंठिता' मे कवि नारीत्व की पूर्णता उसके मातृत्व मे स्वीकार करता है। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है वैसे ही नारी की देह भी नवदेहो के दीप जलाती है। मानवता के इतिहास की सुरक्षा के लिए सन्तानोत्पत्ति ही उसके जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। प्रेम केवल शरीर की भूख नहीं है, वह तो आत्मा की ज्योति है। 'द्वासुवर्णा' कविता का निर्माण 'उपनिषद' के एक मत्र के आधार पर हुआ है। विश्ववृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए है, एक जीव है, दूसरा ब्रह्म, एक भोगी है दूसरा निर्लिप्त। कवि प्रश्न करता है कि क्या मानव रति और विरति दोनो स्थितियों का सामजस्य अपने में नहीं प्राप्त कर सकता। भोग और त्याग का सन्तुलन ही मानव-जीवन को पूर्णता की ओर ले जा सकता है। 'कौवे के प्रति' कविता मे कवि कहता है कि न तो सभी प्रकाश उज्जवल होता है और न सभी तम काला। कोयल तो काली होती है, परन्तु कितना मीठा बोलती है। जवाहर लाल को कवि 'उपचेतन वीर' मानता है। 'अशोक वन' कविता मे एक रूपक है जिसमे सीता पृथ्वी की गरिमा है, रावण पृथ्वी का अज्ञान है। राम स्वर्गीय चेतना के रूप है। सीता—पृथ्वी की चेतना राम से परिणीत है। पृथ्वी का अज्ञान रावण पृथ्वी की चेतना सीता को अपने नियंत्रण मे करना चाहता है परन्तु असफलता ही उसके हाथ लगती है। सीता को स्वर्गीय चेतना के रूप राम स्वीकार करते है।

प्रस्तुत कविता मे अरविंद के दर्शन को 'इण्टरप्रेट' किया गया है। स्वर्गिक चेतना जड़ प्रकृति मे सोयी रहती है और वही जाग्रत होकर अन्न, प्राण, मन, विज्ञानमय कोषों को पार करती हुयी आनन्दमय कोष तक पहुँचती है। चेतना का यही ऊर्ध्वविकास है। इन कविताओं मे कवि का प्रतीकों के प्रति मोह बढ़ा है। 'ऊषा' मन की चेतना के अर्थ मे, 'हरीतिमा' प्राण के अर्थ मे, 'यमुना' चेतना के अर्थ मे 'स्वर्णोदय' जीवन-सौंदर्य के अर्थ मे, 'सूर्य' स्वर्गिक चेतना के अर्थ में, 'स्वर्ण' चेतना के प्रतीक के अर्थ मे प्रयुक्त हुये है।

स्वर्णधूलि—

'स्वर्णधूलि' की अधिकाश रचनाएँ सामाजिक आधार लिए हुए है। 'स्वर्णधूलि' मे एक कहानी है—'नरक मे स्वर्ग'। राजकुमारी सुधा और मालिन की लड़की सुधा मे गहरी मैत्री है। उन दोनों की मैत्री प्रजा के सुख के लिए थी। राज्य-भवन दुख के ताप से शापित है। एक दिन प्रजा विद्रोह कर देती है और राजमहल को घेर लेती है। सुधा भी इसी जन-समुद्र मे एक है। फौज जनता पर गोली चलाती है। प्रजा को गोली का शिकार होते देख सुधा भी जाकर उसी मे मिल जाती है। सुधा भी क्षुधा के लिए अहिंसात्मक रूप से अपने प्राण को होम कर देती है। कथा बिल्कुल कल्पित है। यह क्रान्ति सत्ता को हस्तगत करने के लिए न होकर असहयोग के लिए है। बात ऊपर से देखने मे बहुत अच्छी लगती है परन्तु क्या जीवन की व्यावहारिकता का भी यह सत्य है? कवि ने अपनी अध्यात्म सम्बन्धी रचनाओं मे भौतिक और आध्यात्मिक क समन्वय पर कई स्थान पर बल दिया है परन्तु आर्थिक पक्ष को कोई ठोस आधार दिया गया है ऐसा प्रतीत नहीं होता। कवि गरीबों से ईश्वर के गीत गाने का आग्रह करता है परन्तु ईश्वर के गीत क्षुधा को शात तो नही कर सकते। जब तक बाह्य परिस्थितियाँ अनुकूल न हो, ईश्वर के गीत गाए भी नही जा सकते। जिन परिस्थितियों ने, चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक, उन्हे रोटी के लिए मोहताज कर रक्खा है उन्हीं को ध्वस्त करना, नष्ट-भ्रष्ट करना यही उनका तात्कालिक धर्म है।

'मानसी' 'स्वर्णधूलि' की सर्वोत्तम रचना है। 'मर्मकथा और मर्म-

व्यथा में विरह व्यथा को वाणी मिली है।

स्वर्ण किरण और स्वर्णधूलि के सम्बन्ध में दो बातें द्रष्टव्य हैं—प्रथमतः तो यह कि इन रचनाओं में 'आध्यात्मिक शान्ति' नहीं मिलती क्योंकि कवि ने आध्यात्मिक विश्वासों को हृदय के द्वारा न ग्रहण कर बुद्धि द्वारा ग्रहण किया है और दूसरे यह कि इन रचनाओं में पुनरुक्ति की इतनी भरमार है कि मन ऊब जाता है। एक ही बात कई कविताओं में कई बार कही गयी है जिनकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

उत्तरा—

'उत्तरा' का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ है। उत्तरा की कविताएँ कवि की अध्यात्म-युग की रचनाएँ हैं। 'उत्तरा' को स्वयं कवि सौंदर्य-बोध और भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना मानता है। 'उत्तरा' में चिंतनशील कवि पंत की दार्शनिक विचारधारा व्यक्त हुयी है। कवि ने अरविंद के दर्शन की कई कविताओं में व्याख्या की है। स्वयं कवि के शब्दों में अध्यात्म-प्रधान रचनाओं में युग चेतना को वाणी दी गयी है। कवि आज के युग को राजनीतिक दृष्टि से जनतंत्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्वमानवता अथवा लोकमानवता का युग मानता है। जनतंत्रवाद की आंतरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही कवि 'अन्तर्चेतनावाद' या 'नवमानववाद' कहता है। कवि लोक-संगठन के साथ मन.संगठन को भी उतना ही आवश्यक मानता है। वस्तुतः लोक-संगठन और मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं। अति वैयक्तिकता और अति सामाजिकता ये दोनों ही जीवन की अतिवादी दृष्टियाँ हैं, दोनों में सामंजस्य कराना होगा। सत्य और अहिंसा अन्तःसंगठन के दो अनिवार्य उपादान हैं। 'संस्कृति' को कवि एक मानवीय पदार्थ मानता है जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे उर्ध्व-चेतना शिखर का प्रकाश और सामूहिक जीवन की मानसिक उपत्य-काओं की छाया गुम्फित है।

'उत्तरा' में कुछ कवितायें प्रतीकात्मक, कुछ युग-जीवन सम्बन्धी, कुछ प्रकृति सम्बन्धी, कुछ शृंगारपरक और कुछ प्रार्थनापरक हैं। वैसे 'उत्तरा'

का मूल स्वर आध्यात्मिक है। पंत जी का यह अध्यात्म धार्मिक संकीर्णता का विश्वासी नहीं है। कवि आज के भू-जन को जाति-पाँति देशों में खण्डित देखता है। धर्म और नीतियों मे मानव-मन बिखर गया है। मानव के रक्त से युग-पथ रक्तिम हो गया है। लेकिन फिर भी कवि मानव-विकास के प्रति आस्थावान है। कवि मानव से हृदय के रुद्ध द्वारों को खोलने का आग्रह करता है ताकि हँसता हुआ स्वर्ग-युगांतर प्रवेश पा सके। इस नए युगांतर मे मानव-हृदय में नव्य जीवन के अंकुर अंकुरित होंगे। उसमें श्रद्धा-भक्ति, प्रेम, घृणा, न्याय, क्षमा, विश्वास, करुणा और सहानुभूति की भावनाओं का प्राधान्य होगा। उसके हृदय की जड़ता का अंधकार स्वर्ण-प्रकाश से प्रकाशित होगा। मानव मानव के बीच प्रेम का सम्बन्ध स्थापित होगा। कवि देखता है कि मनःसंगठन का भाव विकसित हो रहा है—

> "विश्व मनः संगठन हो रहा विकसित,
> जन-जीवन संचरण उर्ध्व, भू विस्तृत, ...।"

पल्लवकालीन कल्पना कि उड़ान यदि देखनी हो तो 'अनुभूति' कविता ली जा सकती है। अभिमान का आँसू बनकर झर जाना और अवसाद का निर्झर बनकर बह जाना, ये कितनी मार्मिक कल्पना है—

> "अभिमान अश्रु बनता झर-झर,
> अवसाद मुखर रस का निर्झर'
> तुम आती हो;
> आनन्द शिखर
> प्राणों मे ज्वार उठाती हो।"

'उत्तरा' मे मानव जीवन के संघर्ष और उसकी विजय की कहानी कही गयी है। पंत जी को मानव और मानवता की प्रगति मे विश्वास है। वे उसके उज्जवल भविष्य की कल्पना करते हैं। उनका विश्वास है कि मानव-जीवन निरन्तर विकासमान रहा है। मानव अतिमानव और ईश्वर होने के लिए है, पशु या दानव होने के लिए नहीं। उसका विकास मानवता से पशुता की ओर अधोगामी न होकर मानव मे ईश्वर की ओर उर्ध्वगामी है।

चतुर्थ चरण

कला और बूढ़ा चाँद—

'कला और बूढ़ा चाँद' में सन् १९५८ की रचनाएँ संग्रहीत हैं। कवि ने इसे 'रश्मिपदी काव्य' कहा है। प्रस्तुत रचना में कवि एक नयी भूमि में संचरण करता हुआ दिखाई देता है। प्रस्तुत कृति कवि के दिशान्तर प्रयास का सूचक है। कवि ने नयी कविता के शिल्प को स्वीकार कर लिया है। लेकिन पंत की कविता और नयी कविता में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पंत की कविताओं का मूल स्वर आस्थामय है जब कि नयी कविता का अनास्थामय। नयी कविता ने यथार्थ के नाम पर मन की विकृतियों और मनोग्रन्थियों का चित्रण ही अधिक है। यदि नयी कविता में घृणा, अनास्था, संशय का प्राधान्य है तो पंत की कविता में प्रेम, आस्था और विश्वास का।

प्रस्तुत रचना में कवि ने प्रतीकों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। प्रतीकों के प्रयोगाधिक्य के कारण पंत की कविता दुरूह हो गयी है और कहीं-कहीं दार्शनिकता के बोझ से वह लँगडी भी हो गयी है।

प्रतीकों और छंदों के सम्बन्ध में कवि कहता है—

"मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंदकर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा।
उनके पंखों को
असीम के पार
फैलाऊँगा।"

*

"छंदों की पायलें
उतार रहा हूँ।"

कवि ने परम्परा विहित प्रतीकों, उपमानों और छंदों के विषय में

कहा है कि वे आधुनिक सन्दर्भ में अधूरे हैं। इसीलिये कवि ने नये प्रतीक और उपमान ग्रहण किये है। छंदो की पायल उतार कर उसने मुक्त छंद का प्रयोग किया है। कवि बोध के एक ऐसे शिखर पर पहुँच गया है, जहाँ भाषा और छन्द उसका साथ नही दे पा रहे है—

"बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ;...।

*

शब्दों के कंधो पर
छंदो के वधों पर
नहीं आना चाहता।
वे बहुत बोलते है।"

एक दूसरी रचना में कवि कहता है कि रचने तुम्हारे लिए कहाँ से शब्द, छंद, ध्वनि लाऊँ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी जीवन के अंतिम दिनो मे साहित्यकार से चित्रकार बन बैठे थे। सूक्ष्म भावो को वे रेखाओं मे मूर्त किया करते थे। पंत जी भी यदि उसी स्थिति मे पहुँच गए हों तो उन्हे चित्रकार तो नही गद्यकार का स्वरूप ग्रहण करना चाहिए। काव्य की भाव-भूमि को छोड़कर उन्हे गद्य का माध्यम स्वीकार करना चाहिए। कला-शिल्प के हाथो सहस्रो नये बसन्त उन्होंने सँवारे है और अभी असख्य शरदो को रूप ग्रहण कराना है।

'विकास' शीर्षक कविता मे कवि 'विज्ञान' को सम्बोधित करते हुए कहता है कि देह भले ही वायुयान मे उड़े परन्तु मानव-मन अब भी ठेले और बैलगाड़ी में धक्के खा रहा है। विज्ञान और धर्म, भौतिकता और आध्यात्मिकता, हृदय और बुद्धि का समन्वय मानवता की स्थायी शाति के लिए परमावश्यक है। कवि अतीत के मानव की तुलना मे आधुनिक मानव को निकृष्ट ठहराता है। अतीत का मानव हृदय की भावनाओं द्वारा सचालित होता था इसीलिए उसकी राह प्रेम की सीधी राह हुआ करती थी। आज का आधुनिक मानव बुद्धि के द्वारा संचालित है इसीलिए वह स्वयं

और उसके कार्य दृढ़ हो गए हैं। अतीत के मानव का प्रेम सच्चा और वास्तविक हुआ करता था, प्रेमी और प्रेमिका साथ-साथ जीते और साथ-साथ मरते थे और मरने के बाद भी उनका प्रेम जीवित रहता था। आज प्रेम कृत्रिम हो गया है। घृणा और छल उसके स्थानापन्न हो गए हैं। लेकिन कवि वर्तमान की इस विषम स्थिति से निराश नहीं है। उसका कहना है कि नवसूर्योदय हो चुका है। यह नव सूर्योदय प्रत्येक हृदय में स्वर्ण-कमल खिलायेगा। आज लोक-कल्याण के महान् पर्व में सहस्रों सूर्यों का प्रकाश जीवन के अध तमस को आलोकित कर रहा है। यह स्वर्णिम-वेला मानवता के यज्ञ की वेला है। जिसमें मुग्धाओं को मंगल की रचना के लिए अपने तारुण्य का अर्पण करना होगा। हमको अपनी बौनी मान्यताओं के स्वर्ण-पाश से मुक्त होना होगा। एक कविता में कवि मानवता की रचना मधु-मक्खी के छत्ते के समान होने की कामना करता है। मधुमक्खी-फूलों से रस चूस-चूस कर शहद बनाती है और ससार को उसका प्रतिदान कर देती है, उसी प्रकार मानव भी ससार से जीवन के रस का सचय करे और उस जीवन के मधु के रूप में संसार को वापस कर दे।

मानव और प्रकृति

मानव—

छायावादी काव्य मानववादी काव्य है। उसमें देवत्व के ऊपर मानवत्व की प्रतिष्ठा हुई है।

मानव अपने मानव रूप में ही महान् है। तुच्छ अमरत्व तो नरत्व का मृत रूप है। मानव की संस्कृति देवताओं की संस्कृति से उदात्त है। अमरों के लोक का वह भिखारी नहीं, उसे तो निर्माण के लिए सौ-सौ बार मिटने की ही साध है। धरती पर स्वर्ग उतारने का वह अभिलाषी नहीं, वह तो धरती को धरती ही रहने देना चाहता है।

'गुंजन' काल से पंत जी के काव्य का विषय मानव है। 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आदि रचनाओं में कवि ने मानव के गौरव का गान किया है। पंत जी का मानव आदर्शों की प्रतिमा न होकर हम लोगों

जैसा ही हाड़ मांस वाला सशरीरी जीव है। 'गुंजन' में मानव-महिमा का गौरव गान करते हुए कवि कहता है—

> "तुम मेरे मन के मानव,
> मेरे गानों के गाने,
> मेरे मानस के स्पन्दन,
> प्राणों के चिर पहचाने।"

'युगान्त' में कवि कहता है कि सुमन भी सुन्दर है, विहग भी सुन्दर है किन्तु मानव तुम सबसे सुन्दर हो। विधाता की सृष्टि के तुम सुन्दरतम उपहार हो। और यदि तुम केवल मानव ही बने रह सको तो तुम्हें संसार में किसी चीज की कमी न होगी। वही कवि पंत जो एक दिन कहते थे कि द्रुमों की मृदु छाया को छोड़कर और प्रकृति से सम्बन्ध तोड़कर ए बाले! तुम्हारे बाल-जाल में कैसे अपने लोचन उलझा दूँ वही कवि पन्त अब कहते हैं—

> "हार गई तुम,
> प्रकृति।'
> रच निरुपम
> मानव कृति!
> निखिल रूप रेखा, स्वर
> हुए निछावर
> मानव के तन मन पर!
> धातु, वर्ण, रस, सार आदि।'

'ताजमहल' शीर्षक कविता में कवि मानव-महिमा का स्वर ऊँचा करता हुआ कहता है—

> "मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
> आत्मा का अपमान प्रेत औ छाया से रति।।"

'युगान्त' और 'ज्योत्स्ना' में मानव की महिमा का गान ऊँचे स्वर से किया गया है। मानव देह का नश्वर रजकण नहीं वह 'दिव्य स्फुलिंग चिरंतन' है।

पंत जी एक स्वस्थ मनोवृत्तियों वाले आस्थावादी कवि है। पंत जी किसानों और मजदूरो के प्रति सहानुभूति रखते है। वे उन्हे शोषण और अत्याचार से मुक्ति दिलाना चाहते है। कुछ आलोचको का विचार है कि पंत जी की मानव-कल्पना मार्क्सवादी है परन्तु यह एक भ्रामक विचार है। यह बात सच है कि पंत जी मार्क्सवाद से प्रभावित हुए है किन्तु मार्क्स-वाद को उन्होंने पूर्णत: कभी भी आत्मसात नही किया है। पंत जी गांधी-वाद और मार्क्सवाद दोनो दर्शनों मे प्रभावित हुए है। कहीं-कहीं उनके संग्रहणीय तत्वो का समन्वय भी करना चाहा है। यद्यपि इसमे उन्हे सफ-लता नही मिली है क्योंकि गांधीवाद भी तो साम्राज्यवाद और पूंजीवाद की खिचडी ही है अस्तु उसका मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी दर्शन से गठबंधन नहीं कराया जा सकता।

मानवी :—

छायावादी काव्य मे प्रकृति की भाँति नारी की भी प्रधानता है। कुछ विरोधी आलोचको ने तो छायावाद को सजनी सम्प्रदाय का स्त्रैण काव्य भी कहा और पंत को स्त्रैण कवि! और दरअसल छायावादी काव्य नारी-प्रधान काव्य है भी।

वीरगाथा काल की नारी नर की वासना-तुष्टि का एकमात्र साधन थी। नारी को वरण करने की स्वतन्त्रता भी न थी, उसका हरण किया जाता था। उसी को लेकर दो राजाओं मे संघर्ष हुआ करते थे। व्यक्ति के राग-द्वेष ही राज्यों के संघर्ष के मूल कारण थे। भक्ति काल में निर्गुनियाँ संतों ने नारी को माया का प्रतीक बताकर उसकी भर्त्सना की। सगुणोपासक भक्तो ने भी उसके उदात्त स्वरूप को प्रतिष्ठित नहीं किया। सूरदास की नारी को यदि आठ-आठ आँसू रोने का अधिकार है तो तुलसीदास की नारी ताड़न की अधिकारिणी है। रीति कालीन नारी तो केवल विलास की प्रतीक मात्र है। सुरा से अधिक सुन्दरी का महत्व नहीं है। विलास के अनगिनत साधनो में से एक होने का गौरव उसे अवश्य प्राप्त है! वासना की तुष्टि के लिए उसके रूप मात्र की उपासना है। राधा और कृष्ण को भी लौकिक नायक-नायिकाओ के रूप में चित्रित करके उनकी भी मिट्टी

पर्लाद की गयी है द्विवेदी युगीन नारी भी सम्मान के स्थान पर दया की ही पात्र है। छायावादी युग मे आकर नारी को मानवी के रूप मे प्रतिष्ठा हुई।

वह एक स्वतंत्र सत्ता है जो नर को नारायण की ओर ले जाती है। वह पैर-पैर की जूती नहीं है, 'देवि! माँ, सहचरि प्राण' है। वह दया, ममता, लज्जा, प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि कोमल वृत्तियो की प्रतिमूर्ति है। छायावादी कवियो के नारी के प्रति इस परिवर्तित उदात्त दृष्टिकोण के मूल मे कुछ ऐतिहासिक और तात्कालिक कारण अवश्य विद्यमान थे। दांते का एक महाकाव्य है 'डिवाइन कमेडी'। कथानक संक्षेप मे इस प्रकार है कि प्रेमी मर जाता है। उसकी आत्मा जाकर 'हेल' मे पड़ी है। 'प्रेमिका' प्रेमी की आत्मा को नर्क से स्वर्ग लोक को ले जाती है जहाँ उसके सारे पाप ही नहीं धुल जाते है वरन् आत्मा आनंद पाती है। इस प्रकार नारी नर को नर्क से स्वर्ग लोक ले जाती है। वर्णन इतना सजीव है कि इटली की जनता ने इस काल्पनिक वर्णन को वास्तविक घटना के रूप पर ग्रहण किया और इस पर विश्वास किया। छायावादी कवि पर प्रत्यक्षतः न भी सही तो परोक्ष रूप से अवश्य ही दांते के इस दृष्टिकोण ने प्रभाव डाला होगा। कामायनी की श्रद्धा भी मनु को कैलाश की ओर आनन्द की प्राप्ति के लिए ले जाती है। अंग्रेजी के रोमैण्टिक कवियो का भी छायावादी कवियो के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पर प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी कवि शैली तो अनंत की प्राप्ति के लिये शात नारी-रूप की उपासना पर भी बल देता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर भी इसी विचारधारा के है। छायावादी कवियो का और विशेषकर प्रसाद और महादेवी का झुकाव बौद्ध दर्शन की ओर भी रहा है। अस्तु बौद्धो की करुणा और नारी के प्रति सम्मान की भावना ने यदि उन्हें प्रभावित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार दांते, अंग्रेजी के रोमैण्टिक कवि, रवीन्द्रनाथ टैगोर और बौद्धदर्शन से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण कर छायावादी कवियों ने नारी के उदात्त स्वरूप की कल्पना की हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वैसे छायावादी कवियों को नारी के उदात्त रूप को ग्रहण करने के लिए सर्वाधिक प्रभावित किया स्वाधीनता आन्दोलन

ने। भारतीय स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व युग-पुरुष गांधी कर रहे थे, जो नारी की मुक्ति के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील थे। विभिन्न राजनीतिक प्लेटफार्मों से नारी-स्वातंत्र्य की पुकार की जा रही थी। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, बहु-विवाह, बेमेल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों की भर्त्सना की जा रही थी। नारी भी अपनी मुक्ति के लिए विकल हो रही थी। अंग्रेजी शिक्षा धीरे-धीरे उनमे अधिकार और स्पर्धा की भावना भरने लगी थी।

पंत जी सौंदर्य के कवि हैं। पल्लव काल तक वे प्रकृति के सौंदर्य पर रीझते आए हैं और उसके बाद वे नारी के सौंदर्य पर मुग्ध हैं। पंतजी स्वभाव और विचार दोनों से कोमल और मृदुल हैं। पंत जी नर की अपेक्षा नारी से अधिक प्रभावित हैं। कवि को नारी के रोम-रोम से अपार प्यार है। उसका कवि नारी बन जाने के लिए बेचैन है। कवि ने बहुत से गीत बालिका बन कर लिखे हैं। 'नन्दिनी' नाम से उन्होंने कुछ समय तक कवितायें भी की हैं। पंत जी का नारी के प्रति दृष्टिकोण पर्याप्त उदात्त है—

"तुम्हारे गुण हैं मेरे गान
मृदुल दुर्बलता ध्यान।
तुम्हारी पावनता अभिमान,
शक्ति पूजन, सम्मान।"

पंत जी नारी को योनिमात्र नहीं मानते। उनके काव्य में नारी एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में मानवी पद पर प्रतिष्ठित है। नारी नर की छाया नहीं है। नर-नारी के बीच समता के धरातल पर उद्भूत प्रणय ही दोनों के जीवन में रस की धार बहायेगा। पंत जी की नारी सम्बन्धी कल्पना अत्यंत सूक्ष्म और उदात्त है। यह सूक्ष्मता तो इस सीमा तक बढ़ी है कि वह मात्र कवि की 'मानसी' सृष्टि रह गयी है। वह वास्तविक कम, काल्पनिक अधिक हो गयी है। पंत जी ने नारी के विभिन्न रूपों की उपासना की है, यद्यपि सहचरी के रूप की उपासना ही प्रमुख है—

स्वप्नमयि हे माया मयि
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ हास,
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास,
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि, माँ, सहचरि, प्राण।''

'पंत' जी प्रणय को दिव्य मानते है। प्रेम पतित-पावन है, जिसके स्पर्श मात्र से मानव के कलुष धुल जाते है।

कवि 'ग्रामनारी' को शहरी विलासप्रिय नारी में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करता है। ग्रामीण नारी कृत्रिमतारहित, स्वस्थ मनोवृत्तियो वाली होती है। उसका प्रेम वास्तविक होता है, वह प्रेम का अभिनय करना नही जानती। कवि नारी के 'तितली' और 'रमणी' वाले रूप के स्थान पर गृहिणी और माता के रूप की प्रतिष्ठा करता है। नारी की पूर्णता उसके मातृत्व मे है। कवि को 'मजदूरनी' अधिक प्रभावित करती है क्योंकि उसे काम की लाज नही सताती। वह स्वयं आजीविका के लिए बोझा ढो लेती है परन्तु किसी के शीश पर बोझा नहीं बनती।

कवि नारी की वर्तमान दयनीय स्थिति से पर्याप्त दुखी है। समाज मे नारी नर की वासना-तुष्टि के लिये विधाता की एक विवश सृष्टि है। दयनीय और विवशता की मानो वह प्रतिमूर्ति है। उसका मूल्य उसके चर्म से आँका जाता है। वह नर के पीछे-पीछे चलने वाली एक छाया मात्र है। वह खैर पैर की जूती, पदलुण्ठिता दासी है। समाज में उसका स्वतंत्र अस्तित्व नही। खुले हृदय से वह स्नेह और प्रणय का दान भी नही कर सकती। नारी-समाज को जब तक उचित सम्मान न प्रदान किया जायेगा, मानव-समाज शांति-लाभ नही कर सकता। नारी नर की प्रेरणा है, शक्ति है, ज्योति है आशा और विश्वास है। भविष्य उसी मे सुरक्षित है। नयी सृष्टि की रचना की कल्पना भी उसके सहयोग के बिना नही की जा

सकती नारी के हृदय में स्वप्नों का सौंदर्य और कल्पना का माधुर्य है। उसके कोमल अंगों में जीवन का बसंत बन्दी है। उसमें दिव्य-प्रणय का वास है। देह का मोह ही प्रेम की परिधि नहीं है। नारी के हृदय में ममता, स्नेह और करुणा की अन्तर्धारा प्रवाहित होती रहती है। उसका तन माँ का तन है, जो जाति-वृद्धि के लिए निर्मित किया गया है। नारी-देह शिखा के सदृश्य है जो नव-देहों के नवदीप जलाती है :—

> "नारी देह शिखा है जो
> नव देहों के नवदीप सँजोती
> जीवन कैसे देही होता
> जो नारीमय देह न होती ?"

प्रकृति—

पंत जी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। पंत जी का जन्म कूर्माचल की विशेष सौंदर्य स्थली कौसानी में हुआ था। गांधी जी कौसानी की दिव्य मनोहारिता से इतने प्रभावित हुए कि इसकी तुलना स्विटजरलैंड से की थी। मातृविहीन बालक पंत को प्रकृति ने धाय की तरह पाला है। कविता करने की प्रतिभा पंत जी में जन्मजात अवश्य थी लेकिन उस प्रतिभा को उद्बुद्ध करने का श्रेय इस प्रकृति को ही है। कवि ने 'गद्य-पथ' में कविता सम्बन्धी प्रेरणा का उल्लेख करते हुए लिखा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन के पहले भी मुझे याद है, मैं घण्टों एकांत में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"

पंत जी की प्रकृति-विषयक रचनाएँ कवि के जीवन की महानतम उपलब्धियाँ हैं। और मेरा तो ऐसा विश्वास है कि उनकी यश-भित्ति का मूलाधार भी उनकी प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ ही है। पंत जी के काव्य में 'पल्लव काल' तक प्रकृति प्रमुख है और मानव गौण है और गुंजन के बाद की प्रकृति मानव-सापेक्ष्य हो गयी है। पंत जी की प्रकृति-परक रचनाओं

पर अंग्रेजी कवि शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, और टेनीसन का प्रभाव परिलक्षित होता है लेकिन फिर भी भावना और कल्पना की दृष्टि से वे पंत जी की मौलिक रचनाएँ हैं। शैली की भाँति पंत जी ने प्रकृति को पौराणिक दृष्टि से भी देखा है। पंत के प्रकृति-चित्रों में कहीं-कहीं तो रूपों और रंगों का अनुकरण भी इन्हीं कवियों से किया गया है। पंत जी के प्रकृति-चित्रों की विशेषता इस बात में है कि उनमें कवि की भावमग्नता और चित्रात्मकता का अपूर्व संयोग है। कवि ने प्राकृतिक चित्रों में अपनी भावना का सौंदर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्र बनाया है और कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक-सौंदर्य का लिबास पहना दिया है। कभी-कभी प्रकृति को कवि ने अपने से अलग एक सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है और कभी-कभी जब उसने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तो उसने अपने को ही नारी-रूप में चित्रित किया है। एक बात और महत्व की है और वह यह है कि पंत जी सुकुमार प्रकृति के कवि हैं। उन्हें प्रकृति के मधुर और कोमल रूप ने ही आकृष्ट किया है उग्र और कठोर रूप ने नहीं। "प्रकृति के विराट रंगमंच पर इनकी सौंदर्यमयी दृष्टि पल्लव, वीचि-जाल, मधुपकुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, सन्ध्या, ज्योत्स्ना, छाया, पवन, इन्दु, सुरभि, तारिकायें आदि पात्रों का ही अभिनय देखती है—अथवा देखना चाहती है। दिगन्तव्यापी उल्कापात, बवन्डर, भूकम्प, और वाडव-मन्थन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती।"[१] 'परिवर्तन' और 'बादल' कविता में प्रकृति का उग्र रूप भी चित्रित किया गया है परन्तु ये पंत जी की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं।

पंत जी के काव्य में प्रकृति का चित्रण निम्नलिखित रूप में हुआ है :—

(१) आलम्बन-रूप में—प्रस्तुत रूप में प्रकृति स्वयं आलम्बन रूप में आती है।

(i) यथातथ्य रूप में—इस प्रकार के चित्रण में पंत जी बहुत ही सफल हैं। नीचे के उदाहरण में कुछ प्रभावोत्पादक

१. सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ १६, डा० नगेन्द्र।

वस्तुओं का वर्णन करके कवि ने पूरे वातावरण को सजीव कर दिया है :—

> "बाँसों का झुरमुट
> सन्ध्या का झुटपुट
> है चहक रही चिड़ियाँ
> टी—वी—टी—टुट टुट ।"

उपरोक्त पंक्तियों में पक्षियों की ध्वनि का कितना सुंदर अनुकरण है ।

(ii) मानवीकृत रूप में—कवि प्रकृति को एक सजीव सत्ता के रूप में देखता है । वह प्रकृति को मानवीकृत रूप में ग्रहण करता है । उसे पात्रता प्रदान करता है । ऊषा नायिका हो जाती है और सन्ध्या अप्सरा । नीचे की कविता में किस प्रकार चिलबिल के दो वृक्षों को कवि मानवीकृत रूप में चित्रित करता है—

> "उस निर्जन टीले पर
> दोनों चिलबिल
> एक दूसरे से मिल,
> मित्रों-से हैं खड़े,
> मौन, मनोहर ।
> दोनों पादप,
> सह वर्षातप
> एक साथ ही बढ़े
> दीर्घ, सुदृढ़तर ।"

(iii) भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में—छायावादी कवियों ने भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का चित्रण बहुतायत से किया है । कवियों ने प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप किया है । कविवर पंत चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का चित्रण करते हुए कहते हैं :—

> "जग के दुख-दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला
> पीली पर निर्बल कोमल कृश देह लता कुम्लाई
> विवशता लाज में सिमटी साँसों में शस्य समाई ।"

यद्यपि कवि चन्द्रमा के प्रकाश का वर्णन करते हुये जो चित्र उपस्थित करता है उसमें चन्द्रमा की चाँदनी का चित्र न उभर कर रुग्ण बाला का चित्र उभर आता है। कवि कल्पना के फेर में पड़कर स्वाभाविकता से दूर चला जाता है। यह त्रुटि पन्त जी की अनेक कविताओं में विद्यमान है।

(२) उद्दीपन रूप में— प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्राचीन-काल में होता आया है। संयोग के क्षणों में यदि प्रकृति के उपकरण हमारी भावनाओं को उद्दीप्त करते है तो वियोग के क्षणों में वे ही वेदना को और भी तीव्र कर देते है। जो सर, सरितायें, समीर, चाँदनी, लताएँ संयोग शृंगार में रति की भावना को तीव्र कर देते है वे ही वियोग के क्षणों में वेदना को और भी घनीभूत कर देते है—

> "शैवालिनि ! जाओ मिलो तुम सिंधु से
> अनिल आलिंगन करो तुम गगन का
> चन्द्रिके चूमो तरंगो के अधर,
> उडगनो गाओ प्रेम वीणा बजा।
> पर हृदय सब भाँति तू कगाल है।"

(३) रहस्यसत्ता के रूप में—प्रकृति अनेकों रहस्य अपने में छिपाये है। कवि पंत प्रकृति के रहस्यों को जान लेने के लिए बेचैन है—

> 'न जाने नक्षत्रों से कौन
> निमन्त्रण देता मुझको मौन।"

(४) दार्शनिक पीठिका के रूप में—छायावादी कवियों ने प्रकृति को दार्शनिक पीठिका के रूप में भी चित्रित किया है। 'पंत' जी 'नौका-विहार' में पहले तो प्रकृति का शुद्ध चित्रण उपस्थित करते है लेकिन अंत में एक दार्शनिक 'टच' देते हुए उसकी समाप्ति करते है—

"इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास।

हे जग जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।"

(५) प्रतीकात्मक रूप में—पंत जी की इधर की रचनाओं में प्रकृति का प्रतीकात्मक रूप में चित्रण अधिक हुआ है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में प्रकृति प्रतीक-विधान का आधार मात्र है। 'स्वर्ण किरण' की 'हिमालय' शीर्षक कविता की अधोलिखित पंक्तियाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं—

"भीम विशाल शिलाओं का
वह मौन हृदय में अब तक अंकित।
*
रजत कुहासे में, क्षण में,
माया प्रान्तर हो जाता ओझल।"

(६) परोक्ष की अभिव्यक्ति—प्रकृति की व्यापक शक्ति कभी सुखमय होती है, कभी दुखमय होती है—

"एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास,
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक पलकों में हास;
लोल लहरों में लास।
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्मर मधुर झंकार।"

पंत जी के प्रकृति-वर्णनों में कुछ विशेषतायें इंगित की जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि पंत जी ने प्रकृति के चित्रों में रूप, रंग और

ध्वनि के संकेत दिए है। पंत जी को रंगों, ध्वनियों का ज्ञान हिंदी साहित्य में सर्वाधिक है। प्रकृति के सांगो-पांग चित्रों को देते हुए वे न केवल रंग की बारीकियों को उभारते चलते है वरन् ध्वनियों का संकेत भी देते चलते है। कवि की 'नौका विहार' रचना में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। कहीं-कहीं तो गति और दूरी का भी संकेत दे दिया गया है, जैसे "वह कौन विहग। क्या विकल कोक, आया हरने निज विरह शोक ? छाया की कोकी को विलोक।" पंत जी के प्रकृति-वर्णन की दूसरी विशेषता है प्रकृति के कोमल और सुकुमार रूप का ही चित्रण करना। वे प्रकृति के विराट या विध्वन्सकारी रूप में आँख-मिचौनी नहीं करते और कहीं यदि करते भी है तो नाम मात्र को। तीसरी विशेषता यह है कि पंत जी के रूप-चित्र अन्य छायावादी कवियों की तुलना में अधिक यथार्थ है। कवि जिस सीमा तक प्रकृति में तन्मय हो सकता है, डूब सकता है, औरों के लिए सरल नहीं। प्रकृति के सौंदर्य को देख कर कवि इस सीमा तक तन्मय होता है कि सम्मोहन की स्थिति आ जाती है। पंत जी के प्रकृति-वर्णन की चौथी विशेषता यह है कि पंत जी ने हिंदी में प्रथम बार पर्वतीय दृश्यों का मनोरम चित्र उपस्थित किया है। इन विशेषताओं के साथ पंत जी के वर्णन की एक दुर्बलता भी है कि वे कल्पना के फेर में पड कर अस्वाभाविक चित्र भी कभी-कभी उपस्थित कर देते है।

कल्पना :—

कल्पना वह शक्ति है जो काव्य को इतिहास होने से बचा लेती है। यही वह शक्ति है जिसके सहारे कवि वहाँ पहुँच जाता है जहाँ रवि भी नहीं पहुँच पाता। भावों को रूप प्रदान करने में कल्पना का सर्वाधिक योग रहता है। कुतूहल और जिज्ञासा का सुख छायावादी काव्य में अधिक पाया जाता है इसीलिए उसमें काल्पनिकता और भावुकता का प्राधान्य है। छायावादी कवि वर्तमान की विभीषिका में आँख नहीं मिला सकता। इसीलिए कल्पना के पंखों पर बैठकर या तो स्वर्णिम अतीत की ओर जाता है या उज्ज्वल भविष्य की ओर।

पंत जी के काव्य में कल्पना का प्राधान्य है। पंतजी कल्पना के सत्य

को सबसे बड़ा सत्य मानते हैं और उस ईश्वरीय प्रतिभा का अंश कवि शैली की सशक्त कल्पना से प्रभावित है, ऐसा स्वयं कवि एक स्थान पर स्वीकार करता है। पंत जी के काव्य में अनुभूति की कमी है और वे इसकी पूर्ति कल्पना से करते है। "पंत जी कल्पना के गायक है, अनुभूति के नहीं; इच्छा के गायक है, वासना, तीव्र इच्छा के नही।"[१] पंत जी की कल्पना का सबसे बड़ा गुण है मूर्तिविधायनी शक्ति। कवि छोटी सी छोटी बात का चित्र उपस्थित कर देता है। जहाँ कवि अनुभूतिशून्य हो केवल कल्पना के पंखो पर ही उड़ता है वहाँ अस्वाभाविकता आ जाती है। जहाँ पर अनुभूति और कल्पना का सन्तुलन कवि बनाये रखता है वहीं अमर रचना की सृष्टि हो जाती है। "इसी प्रकार जब कल्पना, अनुभूति, और चिंतन तीनों का उचित सम्मिश्रण हो जाता है, कवि की कृतियाँ ससार की विभूति हो जाती हैं।—'बापू के प्रति' कविता ऐसी ही है।"[२]

कवि की 'बादल' कविता अपनी कोमल कल्पनाओ और सुन्दर उपमानों के लिए प्रसिद्ध है। 'बादल' के क्षण-क्षण परिवर्तित रूप का चित्रण करने के लिए अनेक सुन्दर उपमानो का प्रयोग किया गया है। बादल कभी कमल-दलों से प्रतीत होते है, कभी त्रिभुवन की विपुल कल्पना के समान। कभी हिरण के समान चौकड़ी भरते है, कभी मत्तमतगज के समान झूमते है। कभी परियो के बच्चों के समान सुकुमार और सुकोमल दिखलाई पड़ते है। कवि की कल्पनाशक्ति का परिचय प्राप्त करने के लिए अधोलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती है—

> "धीरे-धीरे संशय से उठ,
> बढ अपयश-से, शीघ्र अछोर
> नभ के उर मे उमड मोह-से
> फैल लालसा से निशि-भोर।"

'संशय के समान धीरे-धीरे उठना', 'अपयश के समान शीघ्र ही

---

१. पल्लवनी की भूमिका—डॉ० 'बच्चन'

२. सुमित्रानंदन पंत—डॉ० नगेन्द्र

बढ़ना मोह के समान उमड़ना और लालसा के समान फैलना' आदि वर्णनों मे अमूर्त उपमानो का प्रयोग जिस कौशल के साथ किया गया है, देखते ही बनता है। एक साथ, एक ही वस्तु के लिए इतने अधिक उपमानो का प्रयोग करना, कवि की अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचायक है। कवि की कल्पना जितना कोमल चित्रो के वर्णन मे रमती है, उतना विराट चित्रो के वर्णन मे नही। यद्यपि 'बादल' और 'परिवर्तन' शीर्षक कविताएँ इसका अपवाद है। कवि 'बादल' शीर्षक कविता मे जिस तन्मयता से प्रकृति के कोमल चित्रो का चित्रण करता है उसी तन्मयता से प्रकृति के विराट रूप का भी। बादल कभी भूतो का सा विराट आकार ग्रहण कर लेता है और कभी गभीर गर्जना करते हुए सारे ससार मे आतक का वातावरण उपस्थित कर देता है। कभी अंधकार की वृष्टि करता है, कभी उपल की। 'परिवर्तन' मे प्रकृति के विराट चित्रों का वर्णन भी पूरी तन्मयता से किया गया है। साक्ष्य के रूप मे एक उदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासगिक न होगा—

"रुधिर के है जगती के प्रान,
चितानल के ये सायकाल
शून्य नि:श्वासो के ये आकाश
आँसुओ के ये सिंधु विशाल।"

भाषा और शैली—

पत जी ने द्विवेदी युगीन उपदेशपरक और नीतिपरक कविता का वस्तु के स्तर पर ही विरोध नही किया, शिल्प के स्तर पर भी भाषा-शैली, छंद, अलंकार आदि के क्षेत्र मे भी विरोध की घोषणा की। कवि प्रधान रूप से कलाकार ही रहा है। हिंदी साहित्य को उसकी सबसे बड़ी देन सुन्दर शब्द-चयन और शब्द-विन्यास के क्षेत्र मे है। हिंदी भाषा के कठोर और परुष रूप को गलाकर कोमल और मधुर बनाना पत जी के ही कवि का कर्म रहा है। कविवर निराला भी 'पंत और पल्लव' मे लिखते हैं कि पत जी की मौलिकता एक शब्द मे मधुरता है। कवि ने खडी बोली के कर्कश और परुष रूप को हृदय के ताप मे गलाकर कोमल और मधुर

बनाया है इस सम्बन्ध में स्वयं कवि का कथन द्रष्टव्य है जिस प्रकार बरी चुवाने के पहले उडद की पीठी को मथकर हल्का तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राजल कर लेना पड़ता है। कवि ने सचमुच भाषा को ही हृदय के ताप में गलाकर मोम बना दिया है। 'पल्लव' की 'याचना' कविता में कवि माँ से याचना करता है कि माँ! मेरे भाषण को मधुर बना दे। वंशी के समान ही जितना अधिक लोग मुझे छेड़े उतना ही मधुर और मोहन मैं बोलूँ। मेरा मधुर भाषण अकर्ण सर्प-साहित्यिक को भी मुग्ध कर दे।

भाषा भावों की वाहिका होती है। भाषा के माध्यम से ही कवि अपनी अनुभूतियों को पाठकों तक संप्रेष्य कर पाता है। भाषा के सम्बन्ध में स्वयं कवि कहता है—"भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व के हृतन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।" कवि कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पर बल देता हुआ कहता है कि उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र—चित्र में झंकार हो।

पंत जी की भाषा की चित्रण-शक्ति बड़ी विलक्षण है। वे प्रत्येक शब्द का चित्र खींचना चाहते हैं। ये चित्र स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। स्थिर चित्र का एक उदाहरण लीजिए—नायिका नायक से संकेतस्थल पर मिलने जा रही है—

"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात
विकम्पित उर मृदु पुलकित गात
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जडित पद नमित पलक दृग-पात
पास जब आ न सकोगी प्राण
मधुरता में सिमटी अनजान

लाज की छुई मुई सा म्लान
प्रिये प्राणों की प्राण .

गत्यात्मक चित्रो के लिए 'नौकाविहार' से सुन्दर कविता और कौन हो सकती है। इस कविता मे तो प्रत्येक शब्द अपने आप मे एक चित्र है। नौका के चलने से हिलोर का उठना और फलस्वरूप बिम्बित नभ के ओर-छोर का हिलना, तारक दल का प्रतिबिम्बित होना, मद मथर गति मे हँसिनी के समान लघु तरणि का जल के ऊपर सचरण करना आदि का चित्र कितना सजीव और यथार्थ है—

"नौका से उठती जल हिलोर
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर

*

विस्फारित नयनो से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तल।

*

मृदु मंद-मंद मंथर-मंथर लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालो के पर।"

कहीं-कही तो कवि एक ही अनुभाव के द्वारा भावपूर्ण चित्र उपस्थित कर देता है—'सरलपन ही था उसका मन' और कही-कही एक ही विशेषण के द्वारा पूर्ण चित्र उपस्थित कर देता है—'मेघदूत की सजल कल्पना।' पंत जी ने जिस दृश्य या वस्तु का चित्र उतारना चाहा है उस वस्तु की प्रभावोत्पादक वस्तुओ का ही चित्रण किया है।

ध्वनि-चित्रण कवि की दूसरी विशेषता है। 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' मे कवि ने स्वीकार किया है कि टैनीसन के ध्वनिबोध से वह प्रभावित है। 'ध्वनि चित्रण' मे व्यजनो का प्राधान्य रहता है। कवि ऐसे शब्दो का प्रयोग करता है जिनकी ध्वनि से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है—

"झूम झूम झुक झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर थर

पंत जी को शब्दों की आत्मा का पूर्ण ज्ञान है। पंत जी अनुपम शब्द-चयन के लिए और सुन्दर शब्द-विन्यास के लिए हिंदी-संसार में प्रसिद्ध है। पंत जी जो शब्द जहाँ जड़ देते है, वहा से उसका हटाना मुश्किल है। पर्यायवाची शब्द भी काम नहीं दे पाते। पर्यायवाची शब्दों के सम्बन्ध में कवि कहता है—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्राय: संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते है। 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय मे अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' से उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' मे लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पडना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों मे चमकती, हवा के पलने मे हौले-हौले झूमती हुई हँसमुख लहरियों का 'उर्मि' मे मधुर मुखरित हिलोरों का हिल्लोल, कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई अत्यंत उल्लास पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।

पंत जी का शब्द-कोष पर्याप्त धनी है। विद्यार्थी-जीवन मे ही लोग इन्हे 'मशीनरी आफ वर्ड्स' कहा करते थे। कवि ने संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं का गंभीर अध्ययन किया है और स्वाभाविक रूप मे उसने वहाँ से निःसंकोच भाव से शब्द भी ग्रहण किये है। कहीं-कहीं तो फारसी और ब्रजभाषा के शब्द भी मिल जाते है। संस्कृत से कवि ने प्रायः प्रचलित शब्दों को ही लिया है, वैसे कुछ अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जैसे वायु के अर्थ मे प्राण। ब्रज से अजान, दीठि, काजर, कारे, बिकरारे, बादर, घूम-घुँघारे तथा फारसी से नादान, चोगा आदि शब्द लिये है। अँग्रेजी शब्दों का तो पंत जी ने बड़ी कुशलता के साथ अनुवाद भी किया है—Dreamy-स्वप्निल, Broken heart भग्न हृदय, Golden age : सुवर्णकाल, Underline रेखांकित, Silver-night रजत रात, Innocent अजान, Massage संवाद, Shadow-

light छायालोक। कहीं-कहीं तो अंग्रेजी की पंक्ति ही अनुवादित है—
'To turn up the page of life' जीवन का पृष्ठ पलट मन।
कवि को 'पंख' से 'विग' और 'स्पर्श से 'टच' अधिक भाता है। कवि ने
तर्क प्रस्तुत किया है कि 'टच' में छूने की जो कोमलता है वह 'स्पर्श' में
नहीं। 'निराला' जी ने इसका प्रतिवाद किया है, उनका कहना है कि
'टच' से बाह्य स्पर्श का बोध होता है जबकि 'स्पर्श' में लगता है कि मानो
हृदय का स्पर्श हो गया हो।

पंत जी के शब्द प्रायः छोटे-छोटे असंयुक्तवर्णों वाले होते हैं। कवि
सहायक क्रियाओं का हिन्दी से बहिष्कार करने का पक्षपाती है—

"तरुवर के छायानुवाद सी
उपमा सी, भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी-छँटी नव कविता सी।"

अन्य छायावादी कवियों की तरह पंत जी का भी कुछ शब्दों के प्रति
विशेष मोह व्यक्त हुआ है, जैसे—रोमिल, स्वप्निल, तन्द्रिक, उर्मिल,
रलमल, टलमल, छलछल, सजल, राशि-राशि, शत-शत, नारव, स्वर्णाभ,
चिर आदि। पंत जी ने इन शब्दों को प्रायः अंग्रेजी या बँगला से ग्रहण
किया है। उदाहरणार्थ पंत जी के काव्य में सोने का बहुत प्रयोग है—सोने
का गान, सोने का प्रात, सुनहली साँझ, सुवर्ण संसार, स्वर्ण किरण, स्वर्ण
धूलि आदि। पंत जी ने इस सम्बन्ध में बँगला और अंग्रेजी दोनों से प्रभाव
ग्रहण किया है—

"आजिए सोनार साँझे"
"सोनार बरणी—रानी-गो" आदि।

अंग्रेजी में भी— "In the golden lightening
of the sunken sun

पंत जी का 'सजल' भी बंगला का ही है। बंगला काव्य में 'सजल'
का प्रयोगाधिक्य मिलता है। पंत जी जलधर के साथ भी जब सजल विशे-
षण लगाते हैं तब उनका शब्द-मोह ही प्रकट होता है क्योंकि जलधर तो

अपने आप सजल है ही फिर सजल जलधर का क्या अर्थ है। पंत जी का राशि-राशि और शत्-शत् भी बंगला से ही आया हुआ प्रतीत होता है

"चन्दे आसे राशि-राशि
ज्योत्स्नार मृदुहासि—"तथा
"ए आदर राशि-राशि" आदि

ग्रामीण जीवन की वास्तविक अनुभूति न होने के कारण कवि का ग्रामीण शब्दो का प्रयोग चिन्त्य है। कवि ने 'सुरग' के स्थान पर 'स्वरग' और 'घरनी' के स्थान पर 'गृहिणी' का प्रयोग किया है। कुछ विचित्र प्रयोग भी देखने मे आये है जैसे—'म्याउ म्याउ रे मोर,' मोर पंत जी के काव्य मे बिल्ली हो गया है। कवि ने 'रँभाने' शब्द का भी विचित्र प्रयोग स्त्रियो के रोने के अर्थ मे किया है। कवि ने कुछ शब्द गढे भी है, जैसे, सुश्री, लोकपति (सभापति), लोकव्रती (उप-सभापति) लोक-निधि (कोषाध्यक्ष) लोकसरल (मंत्री), आकाशवाणी, ज्योतिस्पर्श (प्रात रेडियो द्वारा प्रसारित गीत), स्वप्निल, 'प्रि, हृदि, अनिर्वच, सिंगार'।

कवि ने कुछ नूतन प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जैसे स्वभाव की शीतलता बताने के लिए 'चाँदनी का स्वभाव मे बास' तथा विचारो का भोलापन दिखाने के लिए 'विचारों में बच्चों की साँस'। रहस्यात्मक प्रतीको का एक उदाहरण लीजिए—

"कभी उड़ते पत्ते के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार।"

कुछ सीमित एकोन्मुखी प्रतीक देखिये—वीणा—हृदय, झंकार—भावना, लहर—कामना, ऊषा—जन्म, संध्या—अंत।'परिवर्तन' कविता मे प्रतीको का चरम विकास है। इधर की रचनाओ मे तो कवि प्रतीको और संकेतों मे ही बोल रहा है। कुछ नूतन विशेषणो का प्रयोग देखिये—तुतले भय, नील-झंकार, सुरीले हाथ। पंत जी के काव्य मे मुहावरों का प्रयोग नही के बराबर है, फिर भी 'वारि पीकर घर पूछना,' 'आठ-आठ आँसू रोना

'निरुपाय' तथा 'उनचास पवन' आदि के रूप मे कुछ प्रयोग ढूँढ़े जा सकते है। पंत जी ने व्याकरण के जड़ नियमों को भी कही-कहीं तोडा-मरोड़ा है। महान् कलाकार क्रान्तिकारी होता है, परम्पराविहित जड़ नियमो मे उसको बाँधा नहीं जा सकता। पत जी अर्थ के अनुसार ही लिंग-बोध के पक्षपाती है। 'प्रभात' और 'प्रभाल' के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग वे स्त्री-लिंग मे करते हैं। 'बूँद' और 'कम्पन' आदि का प्रयोग वे उभय-लिंगो मे करते है। 'सत्य' का प्रयोग कवि स्त्री-लिंग मे करता है। कवि को 'मरुदाकाश' के स्थान पर 'मरुताकाश' 'मेरा मनोरम' के स्थान पर 'मेरी मनोरम' 'भौंहों' के स्थान पर 'भोहो' का प्रयोग उपयुक्त और सार्थक जान पडता है।

पंत जी के भाषा-काठिन्य को लेकर कभी-कभी उनकी आलोचना की जाती है। परन्तु पंत जी की कठिनता भाषा की कठिनता न होकर विचारों और भावो की कठिनता है। उनकी भाषा की संस्कृत-निष्ठता उनकी अपनी विवशता है क्योकि उनकी मातृ-भाषा पहाड़ी है, जिसका झुकाव सदैव ही सस्कृत की ओर रहा है। पंत जी की भाषा पूर्ण सस्कृत और शालीन है। उसका माधुर्य उसका अपना है। उसमे भाव, भाषा और संगीत का अपूर्व संयोग है। "भाषा को वह भाव से बनाता है। संगीत को उँगलियों पर नचाता है, शब्दो को सूँघ कर मनमाना रस चूसता है।"[१] पंत जी की भाषा मे लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्तियो का पूर्ण विकास है। भाषा उसके भावो के साथ थिरकती हुई अपने आप चली आती है, उसे बुलाना नही पड़ता है। "हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसके कलात्मक संकेतों पर नाचती है। करुण, शृंगार मे यदि उसका उन्मन गुन्जन सुनाई पड़ता है तो वीर और भयानक मे अग्नि-कण भी उगल सकती है। भाषा का इतना बड़ा विधायक हिंदी में कोई नही है, हाँ, कभी कोई नही रहा।"[२]

---

१. 'सरस्वती' फरवरी, १६२२—शिवाधार पाण्डेय।

२. सुमित्रानन्दन पंत—डॉ० नगेन्द्र।

शैली

छायावादी कवियों ने 'मैं' शैली में अपने काव्य का सृजन किया है

"मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय मे
झट उमड़ वेदना आई।"

—निराला (अनामिका)

इस 'शैली' के माध्यम से छायावादी कवि पाठकों के साथ तादात्म्य स्थापित करने मे समर्थ हुआ है। उसके काव्य और पाठक के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित हुआ है। छायावादी कविता व्यक्तिवादी कविता रही है। छायावादी कवि अपने और पाठक के बीच किसी प्रकार के मध्यस्थ को स्थापित नहीं करता। वह उत्तम पुरुष मे अपनी बात सीधे अपने पाठक से कहता है।

पंत जी ने भी अन्य छायावादी कवियों की तरह "मैं' शैली के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को वाणी दी है। पंत जी की शैली पंत जी के व्यक्तित्व का प्रतीक है। भाव-परिवर्तन के साथ पंत जी की शैली भी बदलती जाती है। पंत जी की छायावादी कविताओं मे उनकी शैली, गंभीर, गुम्फित और अलंकृत है। और जहाँ उन्होंने सामाजिक यथार्थ को वाणी दी है, वहाँ उनकी शैली सरल, सादी और सीधी हो जाती है। इस प्रकार की शैली मे व्यंग्य का भी कहीं-कहीं सहारा लिया गया है। पंत जी वीणा और पल्लव में एक विशुद्ध गीतिकार के रूप मे भी प्रकट हुए हैं। हृदय में अनुभूति जब सघन हो उठती है तो वह गीत-निर्झर के रूप मे फूट पड़ती है। लेकिन पन्त की कल्पना ने इस मार्ग मे बाधा उत्पन्न की है। 'गुंजन' से जैसे-जैसे कवि चिंतनशील और मननशील होता गया है वैसे-वैसे उसकी गीतात्मक प्रतिभा कुंठित होती गयी है।

छंद :—

कविता और छंद के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'पल्लव' की भूमिका मे स्वयं कवि का कथन है, "कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंपन;

कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिसके, बिना वह अपनी ही बंधन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छंद भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन, तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कल-कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।'' कवि जीवन और छन्द का सम्बन्ध स्थापित करता हुआ कहता है कि अपने उत्कण्ठा क्षणों में हमारा जीवन छन्द में ही बहने लगता है; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के समस्त कार्य-व्यापार भी एक अनंत छंद, एक अखण्ड सगीत में ही होते हैं। कवि आगे कहता है कि छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध होता है। कवि कहता है, ''हिन्दी का सगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता, छनकता, बुदबुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में छलकता, किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर, सेनाकार नहीं चलते; बच्चों की तरह अपनी स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं।'' कवि ने वर्णिक और मात्रिक छंदों में से केवल मात्रिक छन्दों को चुना है। उनका तर्क है कि हिंदी का सगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उन्हीं के द्वारा उसके सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है। काव्य-सगीत के मूल तंतु स्वर हैं न कि व्यंजन। राग ध्वनि-लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत में कल्पना करती है, वही कार्य शब्द-जगत में राग। कवि हिन्दी के लिए मात्रिक छन्दों की आवश्यकता पर बल इसीलिये देता है कि उसमें संगीत और राग दोनों की रक्षा होती है। 'तुक' का महत्व स्थापित करता हुआ कवि कहता है कि 'तुक' राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। जो स्थान ताल में 'सम' का है वही स्थान 'छन्द' में तुक का। हिन्दी के रोला, पीयूषवर्षण, रूप माला, सखी, प्लवंगम, हरिगीतिका, चौपाई आदि छन्द ही उसे उपयुक्त जान पड़ते हैं।

पन्त जी के काव्य में मुक्त छन्द का प्रयोग भी हुआ है। 'युगवाणी'

मे कवि घोषित करता है

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ युगवाणी बहती अयास !
बन गये कलात्मक भाव
जग के रूप-नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम !"

हिंदी में मुक्त छंद की परम्परा निराला जी बंगाल से लाये। यह मुक्त छंद कवि की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचायक है। कवि किसी भी प्रकार का जड बन्धन नही स्वीकार करना चाहता है। 'छंद' का अर्थ ही बंधन है अस्तु कवि छंद से भी मुक्ति चाहता है। प्रारम्भ मे मुक्त छंद को 'रबर' और 'केंचुआ' छंद आदि कहकर बड़ा विरोध प्रदर्शित किया गया था परन्तु आज तो उसका एकछत्र साम्राज्य है। 'मुक्त छंद' 'ध्वनि' और 'आन्तरिक लय' पर चलता है। मुक्त छंद मे भाव और भाषा का सामंजस्य निभाया जा सकता है। मुक्त काव्य बाह्य ऐक्य के स्थान पर आन्तरिक ऐक्य और भाव-जगत के साम्य को ढूंढता है। मुक्तकाव्य भी हिन्दी मे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर निर्भर रहता है। निराला जी 'पंत और पल्लव' मे इसका प्रतिवाद करते हैं। उनका मत है कि स्वच्छंद छंद में 'Art of music' न होकर 'Art of reading' होता है। यह स्वर-प्रधान नही व्यंजन-प्रधान है। यह कविता की स्त्री सुकुमारिता नही, कवित्व का पुरुषार्थ है। 'निराला' जी इसकी सृष्टि 'कवित्त' छंद से मानते है जिसे पंत जी विदेशी बताते है।

पंत जी खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषकर संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलता पूर्वक करने के पक्षपाती है। 'है' के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "'है' का प्रयोग तो निकाल देना चाहिए। यह दो सींग वाला हरिण 'आश्रम मृग' नही है, कनक मृग है। इसे कविता की

पचवटी के पास नही फटकने देना चाहिए। समासो के अधिक प्रयोग के पक्ष मे भी वे नही है।

कवि के छंद भावों के अनुसार बदलते चलते है। उदाहरण के लिए 'परिवर्तन' कविता मे जहाँ भावना का उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित रहती है वहाँ 'रोला' आया है, अन्यत्र सोलह मात्रा का छंद। बीच-बीच मे छंद की एक-स्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के लिए उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गये है—

'विभव की विद्युत ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल !''

ऊपर के चरण मे चार मात्रायें घटाकर उसकी गति मंद कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है। 'उच्छ्वास' और 'आँसू' मे भी छंद इसी प्रकार बदले गए है। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार पंत जी ने ये परिवर्तन अंग्रेजी के ओड से प्रभावित होकर किये है। 'गुंजन' की रचनाओं मे अनुक्रम का विशेष ध्यान रखा गया है। युगांत के छंदों मे परुष संगीत है।

अलंकार—

अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं। वे काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म हैं। जिस प्रकार रमणी का सौंदर्य आभूषणों के प्रयोग से और भी निखर जाता है, उसी प्रकार अलंकारो के प्रयोग से काव्य मे भावोत्कर्ष आ जाता है। लेकिन जिस प्रकार अनावश्यक गहनों का बोझ रमणी के सौंदर्य को विकृत कर देता है उसी प्रकार अलंकारो का प्रयोगाधिक्य भी कविता को गतिहीन कर देता है। इस सम्बन्ध मे स्वयं कवि के विचार द्रष्टव्य हैं—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक स्थितियो के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र है।......वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव है।''

पंत जी के काव्य मे अलकारो के प्रति अनावश्यक मोह नहीं है।

'ग्राम्या' में कवि अपनी वाणी से कहता है—

> "तुम वहन कर सको जन-जन में मेरे विचार,
> वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।"

'पल्लव काल' की रचनाओं में कवि का अलंकारों के प्रति मोह अवश्य है किन्तु युगवाणी, ग्राम्या आदि के रचनाकाल में इस मोह में कमी हुई है। इधर की रचनाओं में प्रतीकात्मकता का प्राधान्य है। पंत जी ने अंग्रेजी और बंगला साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। अस्तु उनके अलंकारों पर इन भाषाओं की अलंकार-योजना का प्रभाव अवश्य है। जहाँ तक सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रश्न है, वे भारतीय अलंकार-शास्त्र के अनुगामी हैं। 'उपमा' और 'रूपक' पंत जी के प्रिय अलंकार हैं। यद्यपि ये अलंकार प्राचीन हैं तथापि इनमें नवीनता की पर्याप्त गंध है। 'पल्लव' की 'छाया' कविता अपनी उपमाओं के लिए प्रसिद्ध है—

> "तरुवर के छायानुवाद सी
> उपमा-सी, भावुकता सी
> अविदित भावाकुल भाषा सी
> कटी-छटी नव कविता सी।"

'सन्देह' का एक उदाहरण लीजिए—

> "निद्रा के उस अलसित वन में
> वह क्या भावी की छाया
> दृग पलकों में विचर रही या
> वन्य देवियों की माया।"

अंग्रेजी में लक्षणामूलक अलंकारों का विशेष महत्व है। विशेषण विपर्यय और मानवीकरण इन दो अलंकारों का प्रयोग पंत जी के काव्य में अधिक है। विशेषण-विपर्यय का एक उदाहरण लीजिए—

> "मूक व्यथा का मुखर भुलाव।"

मानवीकरण का प्रयोग कवि बड़ी कुशलता के साथ करता है—'ग्रन्थि' में कवि प्रेम को सम्बोधित करते हुए कहता है—

"पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते ही नहीं।"

रस :—

रस काव्य की आत्मा है। रस काव्य का नित्य धर्म है। अलंकारों के बिना काव्य की रचना संभव है परन्तु रस के बिना तो उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। पंत जी के काव्य में शृंगार और करुण की गंगा-जमुनी धारा प्रधान रूप से प्रवाहित हुई है। भयानक और वीभत्स चित्र तो उनकी कल्पना की करामात है। 'पल्लव' की 'आँसू' शीर्षक कविता से वियोग-शृंगार का उदाहरण लीजिए—

"तडित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर;
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते है तब तुम्हें निदान।"

'परिवर्तन' कविता मे करुण रस का उदाहरण प्रस्तुत है—

"अभी तो मुकुट बँधा है माँथ
हुये कल ही हल्दी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल;
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल,
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिंदूर अंगार!
वात-हत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार।"

'परिवर्तन' कविता मे करुण रस के अतिरिक्त वीर, भयानक, वीभत्स, शांत आदि रसो का परिपाक भी हुआ है।

स्थान :—

कविवर सुमित्रानंदन पंत आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रतिनिधि कवि

है। गिने-गिनाये लक्षणों को ध्यान में रखकर महाकाव्य का प्रणयन न करने के कारण महाकवि का दर्जा उन्हें भले ही न प्राप्त हो परन्तु एक चिर सजग चिंतनशील कलाकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा सदैव बनी रहेगी। वे एक युग-प्रवर्तक कवि भले ही न हो परन्तु कई युगों का निर्माण करने वाले साहित्यकार अवश्य है। आधुनिक हिंदी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का उन्होने प्रतिनिधित्व किया है। 'छायावाद' को उन्होने भाव और भाषा दी। खड़ी बोली हिंदी को उनकी सबसे बड़ी देन शब्द-शिल्प के क्षेत्र मे है। खडी बोली हिंदी के परुष और अनगढ़ रूप को कोमल और मधुर बनाना पंत जी के कवि की ही सामर्थ्य रही है। प्रकृति के कवि के रूप मे तो वे अद्वितीय हैं। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की जो शक्ति पंत जी मे है वह हिंदी के किसी भी कवि मे नहीं। हिंदी मे सर्वप्रथम पर्वतीय दृश्यो का मनोरम चित्र उन्होंने ही उपस्थित किया है। पंत जी ने 'ग्राम्या' की रचना उस ऐतिहासिक क्षण मे की थी जब कि हिंदी साहित्य मे प्रगतिवाद अपने पैर जमा रहा था। ईमानदारी की बात तो यह है कि पत जी से ही सच्चे अर्थो मे प्रगतिशील कविता का जन्म हुआ है। यद्यपि प्रगतिवादियो की सी संकीर्णता और एकांगिता उनमे कभी नही रही, रह भी नहीं सकती।

इधर पंत जी अरविंद के उर्ध्वगामी दर्शन की हिंदी मे भावात्मक व्याख्या कर रहे है। पंत जी मानव, उसकी आस्था और विश्वास के गायक है। पंत जी को मानव-भविष्य उज्जवल और आशामय दिखाई दे रहा है। आज के इन संक्रमण के युग मे जब चारो ओर निराशा, विक्षोभ, अनास्था, संशय का वातावरण उत्पन्न है, पंत जी आशा, आस्था, विश्वास के गीत गाये जा रहे है। उनमे कभी भी किसी प्रकार की मनोग्रन्थि नही रही, न तो अर्थमूलक और न काममूलक। वे एक स्वस्थ मनोवृत्तियों वाले आस्थावादी कलाकार है। वे आज के युग मे मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठा करना चाहते है। कुछ लोगों का कहना है कि पंत जी इधर नयी कविता लिख रहे है। यदि शिल्प अपने आप मे सब कुछ हो, तब तो पंत जी अवश्य नयी कविता लिख रहे है! जिस प्रकार जब पंत जी की 'ग्राम्या' प्रकाशित हुई थी तो प्रगतिवादियों ने अपने को मजबूत करने के लिए उन्हें प्रगति-

वादी घोषित किया था उसी प्रकार आज भी लघुमानव की आरती उता रने वाले ये तथाकथित नये कवि उन्हें नयी कविता लिखने वाला बताकर अपने ग्रुप को मजबूत करना चाहते है। दरअसल पंत जी की इधर की नयी रचनाओ मे और नयी कविता मे क्या फर्क है, इसे प्रबुद्ध पाठक भली-भाँति जानता है। पंत जी के काव्य मे जो आस्था, विश्वास, प्रेम, सहानुभूति और मानव-कल्याण की भावना विद्यमान है वह नयी कविता मे कहाँ ? नये कवियो को चाहिये कि वे 'मुक्त छंद' के प्रयोग मे पंत जी की दीक्षा स्वीकार करे। शिल्प को ही इष्ट मानने वाले नये कवि यह देखें कि पंत जी की आधुनिक रचनाओ मे शिल्पगत कितना निखार है। पत जी पर धुरीहीनता का आरोप भी लगाया जाता रहा है। कुछ आलोचको का यह कथन है कि पंत जी के विचारों मे दृढता का अभाव है इसीलिए वे दिशा-परिवर्तन करते रहे है। वास्तविकता तो यह है कि पंत जी एक सजग कलाकार है। बदलते हुये युग-धर्म को उन्होने बराबर चीन्हा और पहिचाना है और उसे वाणी प्रदान की है। पंत जी ने 'युग' की विभिन्न चितन-धाराओ का समन्वय करके एक उदार मानववाद की प्रतिष्ठा की है, जो एक बड़े श्रेय की चीज है।

पंत नारद की तरह से न केवल चिर-कुमार है, वरन् चिर-सृजनशील कलाकार है। कुछ कलाकार ऐसे होते है जिनकी सृजन की प्रतिभा अवस्था के ढलने के साथ धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है परन्तु पंत जी के साथ यह बात नही है, उनकी लेखनी अब भी अबाध गति से चली जा रही है। न कोई विश्राम है न विराम। पंत जी के अध्येताओं को यह न भूलना चाहिये कि पंत जी का साहित्य-जीवन उपन्यासकार के रूप मे प्रारंभ हुआ था, जब उन्होने १५ वर्ष की अवस्था मे 'हार' नामक उपन्यास लिख डाला था। मेरा ऐसा विश्वास है कि पंत जी के साहित्य-जीवन की इति भी उपन्यासकार मे होगी। सुना है पत जी 'क्रमशः' नाम का एक वृहद उपन्यास लिख रहे है जिसका नायक शून्य होगा। पत जी भावबोध के ऐसे शिखर पर पहुँच गए हैं, जहाँ से उन्हे पद्य की भावभूमि छोड़कर गद्य के क्षेत्र में संचरण करना चाहिए। हिंदी-संसार को कविवर पंत से अभी भी बड़ी-बड़ी आशायें है।

निराला की काव्य-कला

विजयेन्द्र स्नातक

आधुनिक हिन्दी साहित्य में निराला जी विद्रोह, क्रांति और परिवर्तन के कवि माने जाते है। विरोध और संघर्ष को स्वीकार कर अपनी काव्य-धारा को नवीन मार्ग में प्रवाहित करने की जैसी सामर्थ्य निराला में है वैसी हिन्दी के किसी अन्य कवि मे नही है। कदाचित् उनकी इस दुर्द्धर्ष क्षमता को देख कर ही उन्हे महाप्राण कवि कहा जाता है। युगातरकारी साहित्य-सर्जन की प्रेरणा से निराला ने साहित्य के विविध रूपो को ग्रहण किया है। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों मे उनके द्वारा जो प्रयोग किये गये है वे ऐसे है जिनका महत्व आँकना सरल नही है। जिस समय निराला अपनी प्राणवत्ता के साथ हिन्दी साहित्य के प्रागण में अवतरित हुए साधा-रण पाठक उनकी रचनाओ की गहराई मे सहज रूप से प्रवेश न कर सका। फलत: निराला की रचनाओं का क्लिष्ट और अस्पष्ट बता कर दूर रखने का प्रयास किया गया, किन्तु जिस काव्य मे शक्ति और ओज होता है वह क्लिष्टता के क्षणिक आरोप से दबाया नही जा सकता।

निराला जी का शैशव बंगाल में व्यतीत हुआ और प्रारम्भिक शिक्षा भी बंगला भाषा मे हुई। जिन दिनों निराला जी बगाल मे अपनी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहस और स्वामी विवेका-नन्द की विचारधारा का वहाँ की शिक्षित जनता पर बहुत व्यापक प्रभाव था। अद्वैतवाद की नवीन दृष्टि से जैसी व्याख्या स्वामी विवेकानन्द ने की थी, वह देश-विदेश मे बडे सम्मान के साथ ग्रहण की जा रही थी। बालक

सूर्यकान्त पर भी इन विचारों का गहरी छाप पड़ना स्वाभाविक था। अद्वैत वेदान्त की इस प्रवृत्ति को तब और प्रश्रय मिला जब सूर्यकान्त त्रिपाठी को रामकृष्ण मिशन की ओर से प्रकाशित होनेवाले 'समन्वय' पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करने का अवसर मिला।

बँगला भाषा, वेदान्ती भावना, विरक्त साधु-सन्यासियों की विचार-धारा आदि ने निराला की प्रारम्भिक रचनाओं को अत्यधिक प्रभावित किया। जब निराला ने हिन्दी में कविता लिखना प्रारम्भ किया तब वे हिन्दी की अपेक्षा बँगला और संस्कृत के अधिक निकट थे। सौभाग्य से पत्नी तो हिन्दी भाषिणी थी, उसकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रति नैसर्गिक अनुराग जाग्रत हुआ और हिन्दी को ही आपने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। जब उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया तो इतना तीव्र प्रवाह चला कि उपन्यास, कहानी, कविता, निबंध, आलोचना सभी दिशाओं में लेखनी घूम गई।

निराला ने जिस युग में कविता लिखना प्रारम्भ किया वह द्विवेदी युग का अंतिम चरण और छायावाद युग का उन्मेष काल था। कविवर प्रसाद की छायावादी रचनाएँ शनै: शनैः प्रकाश में आने लगी थीं और हिन्दी में नई दिशा की सूचना मिलना प्रारम्भ ही हुआ था। कवि निराला की पत्नी का असामयिक देहान्त होने से कवि के मानस पर उसका वियोगजन्य प्रभाव पड़ा। कवि ने शून्य में निहारते हुए 'जूही की कली' कविता लिखी जो कल्पना के वेग को ग्रहण कर भावाभिव्यक्ति में समर्थ हुई। इस कविता की शैली, प्रस्तावन, भंगिमा सब कुछ एकदम नवीन था। इतना अभिनव कि हिंदी का पाठक उसे अपनाने में हिचकिचाया; उसे लगा कि कहीं यह सब किसी और भाषा का तो नहीं है। किन्तु, हिन्दी में नूतन शक्ति-क्षमता भरने वाली यह कविता कवि की प्राणवत्ता का परिचय देती हुई भावी काव्य-परिच्छेद का भी संकेत प्रस्तुत कर गई—

> विजन वन वल्लरी पर
> सोती थी सुहागभरी
> स्नेह स्वप्न मग्न अमल

कोमल तनु तरुणी
जुही का कली दृग बद किए
शिथिल पत्राक म

'जूही की कली' आज हिन्दी साहित्य मे ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्व वाली रचना मानी जाती है। इस रचना के भीतर केवल रचयिता की शक्ति का ही आभास नहीं, वरन् उस युग के भावी परिवर्तन का भी संकेत छिपा है। निराला जी की प्रवृत्ति वेदान्त की ओर होने से उनकी प्रारंभिक रचनाओं मे दार्शनिक गूढता (या दूसरे शब्दों मे हम उसे 'रहस्य वादिता' भी कह सकते है) का सन्निवेश रहा है। निराला की अद्वैत भावना को व्यक्त करने वाली उनकी प्रसिद्ध कविता 'तुम और मैं' है। इस कविता मे निराला ने ब्रह्म की सत्ता को सत्य मानते हुए अपने अहं को उसमें लीन करके देखा है—क्लीत्व के रूप मे नहीं वरन् उसी शक्ति का एक लघु रूप मानकर। अग्नि के स्फुलिंग की भाँति अहं को उस विराट् का एक अंग मानना ही अभिप्रेत है। भाव-वस्तु के साथ कविता का काव्य-गुण भी इतना उच्चकोटि का है कि कविता दार्शनिक परिवेश में भी पाठक के मन को पूर्णता के साथ पकड़ने मे समर्थ होती है—

तुम तुग हिमालय शृंग और मै चचल गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता।
तुम प्रेम और में शांति, तुम सुरापान घन-अंधकार।
मै हूँ मतवाली भ्राति।

इस कविता का मूलभाव वेदान्त पर आवृत है, किन्तु जगत या जीवन के प्रति ऐसी कोई विरक्ति इसमें से प्रतिध्वनित नहीं होती जो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का संदेश देकर साधक को संसार से विरत कर सके। कवि के सामने संसार है और उसमें आत्म का बोध है। यह आत्मबोध ही आशा-वाद का स्रष्टा है। नैराश्य को दर्शन का अंग माना भी क्यों जाय ? इसी भाव को एक दूसरी कविता मे बड़ी शक्ति के साथ कवि ने व्यक्त किया है—

जीवन का विजय, सब पराजय,
चिर अतीत आशा, सुख, सब भय,
सबमें तुम, तुम मे सब तन्मय

'परिमल' संग्रह मे माया और जागरण की भावना मे परिपूर्ण अनेक कविताओ द्वारा कवि ने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि ब्रह्म की सत्ता अखड और असत्य होने पर भी यह जीवन नैराश्य या कुण्ठा के लिए नही मिला है। ब्रह्म-चिन्तन निराला जी का प्रिय विषय रहा है। औपनिषदिक चिन्ता-धारा का अनुकरण करते हुए उसका अद्वैत भावना के साथ समन्वय करने की कला निराला जी को प्राप्त है। परिमल की चिन्ता प्रधान तथा भाव प्रधान, दोनो ही कोटि की कविताओं मे कवित्व का मांसल पुट दृष्टि-गत होता है। नीचे की कविता मे चिन्तन की प्रधानता है—

तुम हो अखिल विश्व म या यह अखिल विश्व है तुम मे।
अथवा अखिल विश्व तुम एक यद्यपि देख रहा हूँ तुममे भेद अनेक।
किन्तु विश्व के तुम कारण हो या यह विश्व तुम्हारा कारण।
पाया हाय न अब तक इसका भेद,
सुलझी नहीं, ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद।

दार्शनिक चिन्ताधारा के साथ निराला के मन पर भारतीय-जीवन-दर्शन की छाप भी गहरी पडी है। अतीत के सुन्दर चित्र अंकित करते हुए करुणा के प्रेम और संवेदना को निराला ने अपने काव्य-विषयो में स्थान दिया है। जगत मे चारो ओर बिखरे हुए दुख-दैन्य को कवि ने अपने काव्य मे करुणा के माध्यम से गाया है। जिन कारुणिक दृश्यों से हमारी भावना सिक्त होती है और हम द्रवित हो उठते हैं कवि निराला ने उन्हे गहराई से समझा और दृढता से पकड़ा है। विधवा, भिक्षुक, दीन मजदूर आदि विषयो का चयन कवि के अंतर की करुणा का ही प्रतिरूप है। इन कविताओ मे शब्दो के माध्यम से सूक्ष्म करुणा को जहाँ कवि ने मूर्तिमत्त और सजीव किया है वहाँ साथ ही साथ काव्य के अलंकृत उपकरणो को भी अपनी परिपूर्णता तक पहुँचाया है। प्रत्येक कविता सामाजिक अभिशाप पर व्यग्य और प्रहार की दुर्निवार शक्ति लेकर सामने आती है। प्रगतिवादी विचारधारा मे जो

विद्रोही स्वर पनपा था वैसा ही स्वर इन कविताओं के अन्तराल में छिपा है, मानो कवि ने आने वाली प्रगति को बीस वर्ष पहले ही समझ लिया हो। 'विधवा' शीर्षक कविता का काव्य-शिल्प अद्भुत है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छूटी लता सी दीन
दलित भारत की विधवा है

'भिक्षुक' शीर्षक कविता अपने सजीव वर्णन के लिए हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता।

निराला की कविता में जन-जागरण तथा राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण गीतों का भी विशेष स्थान है। अपने अतीत गौरव का स्मरण करते हुए उद्बोधन के उद्देश्य से ऐसे ओजस्वी गीत उन्होंने लिखे जो परतंत्र देश की जनता में जीवन-संचार की अद्भुत क्षमता रखते हैं। अपने राष्ट्र की महानता का स्मरण करते हुए कवि ने प्रार्थना के स्वर में उदात्त गरिमा का जो संचार किया है वह देखते ही बनता है —

मुकुट शुभ्र तुषार, प्राण प्रणव ओंकार।
ध्वनित दिशाएँ उदार, शतमुख शतरवमुखरे।

इस गीत का मूल भाव, प्रार्थना है, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि सांस्कृतिक चेतना है तथा राष्ट्रीयता इसकी ध्वनि है जिसे सुनकर प्रार्थना करने वाले का अन्तःकरण दीप्त और भास्वर हो उठता है। भारतवर्ष के अतीत गौरव का स्मरण करने वाली कविताओं में 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'यमुना',

जागो जीवन धनि के आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सास्कृतिक धरातल पर आधृत आख्यानक कविताओ मे 'पंचवटी-प्रसंग', 'राम की शक्ति पूजा,' 'सहस्त्राब्धि', मुख्य है। 'यमुना' कविता मे एक ओर सास्कृतिक पृष्ठभूमि का सौन्दर्य है तो दूसरी ओर काव्य शिल्प का मनोहरी रूप भी उसे कान्तिमय बना रहा है। छायावादी कविता के प्रतीकात्मक अलकरण इस कविता मे अपने सौदर्य के निखार पर है—

> बता कहाँ अब वह वंशीवट, कहाँ गये नट नागर श्याम ?
> चल चरणो का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दधाम ?
> कभी यहाँ देखे थे जिनके श्याम विरह से तप्त शरीर।
> किस विनोद की तृषित गोद मे आज पोछती वे दृग नीर ?

व्यंग्य, विप्लव, विद्रोह और सघर्प को व्यक्त करने के लिए निराला ने जो कविताएँ लिखी उनमे केवल पैना दश ही नही, वरन् निर्माण का स्वर भी गूँजता है। 'कुकुरमुत्ता' उनकी व्यंग्य प्रधान रचना है। अँग्रेजी मे 'सॅटायर' कहते हैं वह इस पर चरितार्थ होता है। 'कुकुरमुत्ता' मे पहले भी आपने व्यंग्य-प्रधान अनेक कविताएँ लिखी थी किन्तु इसमे आकर आपका व्यंग्य प्रहार के चरम बिन्दु तक पहुँच गया है। 'कुकुरमुत्ता' मे कवि ने आध्यात्मिक एवं भौतिकवादी उपादनों पर तीव्र प्रहार किया है अद्वैतवाद और पैरासूट, दोनों का उपहास करते हुए निराला ने 'कुकुरमुत्ता' का प्रयोग की देहली पर ला खड़ा किया है। गुलाब को देखकर कुकुरमुत्ता कहता है—

> खून खींचा खाद का तूने अभीष्ट
> डाल पर इतरा रहा है कैपिलिस्ट।

गुलाब को कैपिलिस्ट बताकर साम्राज्यवादी वर्ग का प्रतीक ठहराया है सामाजिक व्यंग्य की दृष्टि से कुकुरमुत्ता का स्थान बहुत ऊँचा है। निर्धन वर्ग के जीवन को 'कुकुरमुत्ता' के समान चित्रित करते हुए कवि ने साम्य-वादी बना डाला है।

विप्लव और विद्रोह की भावना को व्यक्त करने के लिए निराला जी ने अनेक कविताएँ लिखी है, किन्तु 'बादल राग' को उनकी सबसे अधिक विप्लव-कारिणी कविता कहा जाता है। छह रागो मे कवि ने कविता को

समेटा है। प्रथम राग मधुर है। दूसरा भैरव है। बादल को कहीं विप्लव-कारी, कही आतंकवादी, कही क्रान्तिकारी रूप मे चित्रित करके कवि ने विप्लव का रूप खडा किया है।

निराला ने 'सरोज-स्मृति' शीर्षक कविता शोकगीति की शैली मे लिखी है। जिसमे अपनी पुत्री के असामायिक निधन से अद्भुत करुण-शोकमयी भावनाओं को कवि ने 'एलेजी' की शैली मे वर्णित किया है। पुत्री के निधन पर कवि को उसका बाल्यकाल स्मरण हो आता है जब सवा साल की आयु मे ही नन्ही बच्ची की माँ का देहावसान हो गया था। इस कविता मे विवाह सम्बन्धी रूढियों पर भी कवि ने व्यग्य किया है। सरोज की मृत्यु पर कवि के मर्माहत शब्द पुकार उठे—

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नही कही।

निराला का काव्य मे प्रकृति-चित्रण का सुन्दर रूप उनके 'गीतिका' सग्रह मे दृष्टिगत होता है। प्रकृति को नारी के रूप मे चित्रित करने की प्राचीन परिपाटी का कवि ने निर्वाह नही किया है, वरन् स्वतत्र दृश्याकन के रूप मे ही प्रकृति के मनोहर चित्रो को अंकित किया है। प्रकृति को रहस्यवादी दृष्टि से देखने के मोह दार्शनिक कवि निराला सवरण नही कर सके है। प्रकृति के सुन्दर पदार्थो मे निहित चरम सौदर्य को पा लेने की इच्छा कवि के अन्तर मे सतत विद्यमान रही है, जिसके फलस्वरूप प्रकृति चित्रण पर रहस्यवाद का झीना आवरण पडना स्वाभाविक है। किन्तु यह स्थिति सर्वत्र नही है। 'शेफालिका' कविता मे जहाँ अद्वैतवादी विचारधारा का प्रभाव है। कवि रहस्य के आवरण में कहता है—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभारने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।

शेफाली को वासकसज्जा नायिका (आत्मा) के रूप मे चित्रित कर प्रेमी गगन (परमात्मा) मे मिलने का संकेत कवि ने किया है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य के स्वतंत्र वर्णनो की निराला की कविता मे

कमा नही है दिवसावसान के समय मेघमय आस्मान से उतरती हुइ परी सी सुन्दरी संध्या-सुन्दरी का आलकारिक वर्णन देखिए—

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह संध्या सुन्दरी परी-सी, धीरे, धीरे, धीरे।

सध्या का दूसरा वर्णन देखिए—

> अस्ताचल ढले रवि, शशि छवि विभावरी मे।
> चित्रित हुई है देख, यामिनी गंधा जगी॥

प्रगति और प्रयोग की दृष्टि से निराला का काव्य अन्य कवियो से सदैव दस वर्ष आगे रहा है। जिसे आज के युग मे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद कह-कर व्यवहृत किया जाता है वह निराला की कविता मे अपने आगमन से दस वर्ष पहले झाँकने लगा था। प्रयोगो की बहुलता देखनी हो तो निराला की 'नये पत्ते' शीर्षक रचना अनुशीलन के योग्य ही है। इन कविताओ के विषय प्रगतिशील विचारधारा के है और प्रक्रिया की शैली प्रयोगवादी कही जा सकती है।

सामाजिक एव राजनीतिक व्यग्य की कविताओं के साथ मार्क्सवादी विवेचना को मिला कर कवि ने इनमे प्रगतिशीलता का अच्छा समाहार किया है। गर्म पकोडी और प्रेम-सगीत कविताओ मे व्यग्य की मनोहारी छटा है—

> पहले तूने मुझको खीचा दिल देकर कपड़े सा फीचा।

इन प्रयोगो मे कवि के अन्तर्मन पर पडे संस्कार भी हैं और युग-संघर्ष से उद्भूत मनोविकार भी। सामन्तवादी युग की प्रथा-परम्पराओ पर चोट करते हुए कवि की वाणी मे मार्क्सवाद का गुजन सुनाई पडता है, किन्तु दूसरी ओर मार्क्सवाद को भी कवि अछूता नही छोडता। कुछ कविताएँ ऐसी हैं जो वर्तमान युग मे हुए विविध आन्दोलनों का आभास देती हैं। 'स्फटिक शिला' एक अनूठी कविता है जिसमे कवि ने अनेक सुन्दर चित्र अकित किये हैं। ग्रामीण युवती का एक स्थान पर वर्णन करते हुए उस पर सीता का आरोप करके कवि ने अपने मन की अवदात भावना का परिचय दिया है—

वतु ल उठे हुए उरोजो पर जडी थी निगाह
चोच जैसे जयन्त की, नही जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और कहा तुम राम की

गीति काव्य की समृद्धि बनने वाली विविध रचनाओ के साथ आख्यानक गीति (खड-काव्य), प्रबध-काव्य, नाट्य कविता और रेखा चित्र भी कवि ने लिखे है। इनमे 'पचवटी-प्रसग', 'राम की शक्ति-पूजा', तुलसीदास और अरिणमा (रेखाचित्र, श्रद्धाजलि आदि) उल्लेखनीय है।

नाटक-काव्य के अन्तर्गत पंचवटी-प्रसग पर सक्षेप मे विचार करना आवश्यक है। पचवटी-प्रसग पॉच दृश्यो मे विभक्त नाट्य-काव्य है। इसमे राम-सीता के प्रेम सवाद अति मर्मस्पर्शी शब्दावली मे अंकित हुए है। इस प्रसंग की मुख्य घटना है शूर्पणखा का आगमन और रूप-वर्णन। शूर्पणखा के रूप का वर्णन सुनिए :—

मीन मदन फॉसने की वंशी सी विचित्र नासा
फूल दल तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल
चिबुक और हँसी बिजली सी
योजन गंध पुष्प जैसा प्यारा वह मुख-मंडल
फैलते पराग दिङ्-मडल आमोदित कर
खिंच आते भौरे प्यारे।

पंचवटी प्रसग लिखते समय निराला के सामने मानव-कथा का पहलू रहा है। निराला ने कथा को ईश्वरीय या अतिमानवीय नही बनाया है। इस प्रसंग का काव्य-शिल्प अति समृद्ध और छायावादी उपलब्धियो से भरा हुआ है।

'राम की शक्ति-पूजा' निराला की सबसे प्राणवान, ओज गुण-प्रधान रचना है। इस कविता की टक्कर की दूसरी कविता हिन्दी मे नही मिलती। पौराणिक कथानक को कवि ने अपनी कल्पना और काव्य-सौष्ठव द्वारा पल्लवित करके जो रूप दिया है वह सर्वथा नूतन है। जिस छन्द, लय, स्वर और पदावली मे कविता बाँधी गई है वह प्रक्रिया ही हिन्दी के लिए अभिनव है। द्वन्द्व और संघर्ष नाटक के प्राण तत्त्व होते हैं। इस कविता मे

वर्णित राम का अन्तर्द्वन्द्व नाटकीयता में अपने चरम बिन्दु को स्पर्श करने वाला है। नाटक की पाँचों कार्यावस्थाओं का विधिवत पालन करते हुए कवि ने इस कविता को उत्कर्ष के सर्वोच्च धरातल पर ले जाकर खड़ा किया है। युद्ध के वातावरण की उत्तेजना और उसकी भूमिका में राम की सभा का विषादपूर्ण चित्रण प्रारम्भ है, राम की निराशा हनुमान की उत्तेजना और विभीषण के द्वारा उद्‌बोधन प्रयत्न है, जाम्बवन्त के द्वारा राम को शक्ति-पूजा का परामर्श प्रत्याशा है : राम द्वारा पूजा का विधान नियताप्ति है और अंत में शक्ति द्वारा विजय-मंगल का वरदान फलागम है।

कविता का प्रारम्भ और अंत एक ऐसे नाटकीय ढंग से होता है कि पाठक के मन में कुतूहल, विषाद, हर्ष, उत्कंठा औत्सुक्य आदि नाट्य संचारियों का तांता बंधा रहता है। भाषा और शैली में आदि से अंत तक महाकाव्य सदृश उदात्त गरिमा अनुस्यूत है। भाषा को महाप्राण वर्णों के प्रयोग द्वारा ओजस्वी बनाया गया है। दीर्घ समासों की छटा से वाक्यावली को युद्ध-संघर्ष के अनुकूल किया गया है, अमूर्त अंतर्द्वंद्व को सघन एवं सुदृढ प्रतीकों द्वारा मूर्तिमान किया गया है। एक उदाहरण देखिए—

> है अमा-निशा, उगलता गगन घनान्धकार
> खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन चार
> अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,
> भूधर ज्यों ध्यान मग्न, केवल जलती मशाल ॥

संक्षेप में, 'राम की शक्ति-पूजा' केवल एक लम्बी आख्यानक कविता ही नहीं अपितु वह अभिव्यंजना-सौष्ठव का चरम उत्कर्ष प्रस्तुत करने वाली ऐसी कविता है जिसे छायावादी अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम निदर्शन कहा जा सकता है।

'तुलसीदास' निराला का प्रबंध-काव्य है जिसमें कवि ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर नये दृष्टिकोण से विचार किया है। हिन्दू-संस्कृति के पतन का चित्र अंकित करते हुए कवि ने तुलसीदास को उस पतनोन्मुखी संस्कृति का रक्षक बताया है। संध्या के वर्णन से कविता प्रारम्भ होती है, जैसे भारतीय गगन पर संध्या के बादल छा गये हों। प्रकृति के परिवेश में

जो संश्लिष्ट वर्णन है उसमे संस्कृति के पतन का अध्याहार करके पाठक मध्ययुग के ह्रास को अपने मानस मे देखने लगता है। मुगल-सभ्यता के विकास मे कवि का अंतर इसलिए मर्माहत है कि वह भारतीय हिन्दू-संस्कृति के विनाश पर पनप रही है। कुसंस्कारो की कालिमा देश पर छा रही है, मतमतांतरो के घटाटोप मे देश आच्छन्न है। इस वर्णन के बाद कवि ने रत्नावली के प्रेम का चित्र खींचा है। रत्नावली के नारी भाव को निराला नवीन दृष्टिकोण से परखते है और उन्होंने रीतिकालीन परम्पराओ को समाप्त कर दिया है। तुलसी के मन को उर्ध्वगामी बनने की प्रेरणा कवि ने दी है और उसे एक ऐसी भूमि पर ले जाकर खड़ा कर दिया है जहाँ से उनका कवि सार्वभौम रूप भास्वर हो उठा है।

तुलसीदास का काव्य-शिल्प निराला की सामर्थ्य के सर्वथा अनुकूल है। तुलसी का वर्णन देखिए—

भारत के नभ का प्रभापूर्ण शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य।
अस्वमित आज रे तमस्तूर्य दिङ् मंडल।

संक्षेप मे निराला ने छायावादी कविता मे नूतन भाव-वस्तु के साथ कला के रूप विधान मे भी नवीनता का वरदान दिया। उनकी भाषा, उनके छन्द, उनकी वर्ण-योजना, सब कुछ मौलिक होने के साथ दीप्ति और कान्ति के उस शिखर को स्पर्श करती है जिसे प्रसाद की 'कामयानी' को छोड़ कर और किसी कवि का काव्य नहीं कर सकता।

मुक्तकछन्द का श्रीगणेश निरालाजी ने किया, छंदो की विविधता और प्रयोगवादी परम्परा उन्होंने प्रारम्भ की। तुक और लय-स्वर मे नूतनता का प्रवेश करने मे निराला सबसे आगे हैं। स्वच्छंद तो उनकी कविता का प्राण रहा है। छंद के बंधनों मे निराला जी का प्रयत्न जागरुकता पूर्ण है।

भाषा को सँवारने और प्रसंगानुकूल ढालने की कला तो निराला को बँगला और संस्कृत-ज्ञान के कारण सिद्ध हो गयी थी। जटिल, दुर्बोध, दुरूह, क्लिष्ट, सब प्रकार के शब्दों से अनमिल वाक्यावली बनाने की त्रुटि होने पर भी निराला की शक्तिमत्ता इसमे है कि वे भाव की जटिलता को तथा वर्णन की संश्लिष्टता को शब्दों के चयन से पूरा कर देते है।

संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग कविता को जटिल भले ही बना दे, किन्तु प्रसंगानुकूल गति और प्रवाह अवश्य देता है। 'राम की शक्ति-पूजा' कविता इस कथन का प्रमाण है। युद्ध-वर्णन के प्रसङ्ग की शब्दावली ध्यान देने योग्य है—

आज का तीक्ष्णशर, विधृत क्षिप्रकर, वेग प्रखर
शत शैल संवरणशील, नील नभ गर्जित स्वर
प्रतिपल परिवर्तित, व्यूह भेद कौशल समर ।।

निराला जी लगभग पिछले पैंतालीस वर्ष तक काव्य-सृजन में लीन रहे। शारीरिक एवं मानसिक रुग्णता के दिनों में भी उनकी लेखनी ने विराम लेना स्वीकार नहीं किया, अस्वस्थ दशा में भी शेर और गजल लिखकर उन्होंने अपनी गतिशीलता का परिचय दिया। निराला का महाप्राण व्यक्तित्व इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी भाषा में अभिव्यंजना की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, आवश्यकता है प्रतिभाशाली कवि लेखक द्वारा उसके उपयोग की।

छायावादी कवियों में निराला का स्थान अपनी कई विलक्षणताओं के कारण सबसे अलग दिखाई देता है। वे छोटे विषय को अपनी प्रतिभा और काव्यमेधा के बल पर मूर्तिमान बनाकर खड़ा करने में समर्थ हैं। चित्रमयता का प्रभाव सभी छायावादी कवियों पर पड़ा है किन्तु प्रसाद और निराला ने इस को पूर्णता पर पहुँचाया है। छन्दों में अनुप्रास, लय, स्वर की रक्षा वे इस शैली से करते हैं कि मुक्त छंद भी छंद के सौन्दर्य का उदाहरण बन जाता है। महाकाव्य की उदात्त शैली पर कविता लिखने का श्रेय निराला को ही है। पंचवटी-प्रसंग और 'राम की शक्ति-पूजा' में यह तथ्य देखा जा सकता है। जितना विरोध निराला ने सहन किया वैसा किसी और कवि को नहीं देखना पड़ा, किन्तु वे पर्वत की भाँति अटल खड़े रहे और अंत में सभी विरोधियों को उनके सामने झुक कर उनके महत्व को स्वीकार करना पड़ा। उनके निधन से हिन्दी साहित्य का एक सुदृढ़तम गौरव स्तम्भ टूट गया है, किन्तु उनकी कृतियों की गौरव-गरिमा सदैव अक्षुण्ण रहेगी।

महादेवी

गंगाप्रसाद पांडेय

महादेवी जो आधुनिक हिंदी-काव्य में रहस्यवाद की एकमात्र सफल कवयित्री है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की मधु-स्निग्ध रसमयी अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। सौन्दर्य इसका साधन और सत्य इसका साध्य है। इस काव्या-दर्श का चरम उत्कर्ष हमे महादेवी जी के गीतो मे प्राप्त होता है। यो तो रहस्यवाद का मूलरूप वैदिक-काल मे मिलता है, परन्तु उसका आधुनिक रूप कई वृत्तियो मे अधिक मनोरम एवम् मर्मस्पर्शी है। इसमे सन्देह नहीं कि दोनो का आधार-विषय रहस्यमय परमतत्व की उपलब्धि ही है, पर जहाँ वैदिक रहस्यवाद अपने क्षेत्र-विस्तार के लिए चिन्तन तथा तर्क-बुद्धि का सहारा लेता था, वहाँ आधुनिक रहस्यवाद भावना और अनुभूति का सम्बल ग्रहण करता है।

परमतत्व के आध्यात्मिक चितन और तर्क-बुद्धि की नीरसता से अवगत होकर और उससे ऊब कर ही उपनिषदो के दार्शनिकों को कहना पड़ा होगा—

'नैसा मति. तर्केणापनीया'

अद्वैतवाद भारतीय वेदान्त-दर्शन का सबसे मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। जीव और ब्रह्म में कोई तात्विक भेद नही। जो भेद हमे दिखाई पड़ता है, वह माया-मूलक है। माया का जब ज्ञान से निराकरण हो जाता है, तब जीव ब्रह्म-रूप हो जाता है। उपनि-

षदों ने जब इस ज्ञान-गम्य तत्व के बोध में भावों तथा अनुभवों की प्रतिष्ठा की तभी से भावात्मक रहस्यवाद की नींव पड़ी। जो अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ काव्य का विषय बनकर हमारे हृदय-राग का भी अधिकारी बना। ज्ञान-विज्ञान का प्रायः प्रत्येक निर्णय हमारे अनुभव की स्वीकृति लेता चलता है, अन्यथा वह हमारे जीवन का अभिन्न अंग नहीं बन पाता। दर्शन का सम्बन्ध मस्तिष्क से और अनुभव का हृदय से होता है। इसीलिए भावात्मक रहस्यवाद में उस परम तत्व की अभिव्यक्ति अनुभूति मूलक होती है। कहना न होगा कि महादेवी जी का रहस्यवाद भी अनुभूति-मूलक ही है।

आकुलता ही आज, हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य, द्वैत क्या कैसी बाधा,
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही है,
प्रिय-पथ के वे शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं।

'दीपशिखा' की भूमिका में महादेवी जी ने लिखा है —

'हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है, जो इन्द्रिय ज्ञान जन्य ज्ञान सा अनायास पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना उस आकाश से की जा सकती है जो ग्रहण-शक्ति की अनुपस्थिति में अपना शब्द-गुण नहीं व्यक्त कर सकता है। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस संस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देने वाला सौंदर्य-बोध भी सहज कर देता है।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी करण (इन्द्रिय) के अभाव या अपूर्णता में कभी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किए जाते है, वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के संस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्क क्रम से स्वतंत्र ज्ञान रहा।'

इसी आत्मानुभूति के बल पर कवयित्री ने साहस के साथ कहा है—

जग अपना भाता है।
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।
ये साँसें दे हँसकर सोते,
वे दीपित दृग निशि भर रोते,
तारों से सुकुमार तृणों का
कब टूटा नाता है?
हास में आँसू ढल जाता है।

*

यह सागर का चचल छौना,
नाप शून्य का कोना कोना,
पढ भू का संकेत
धूलि में मोती बन जाता है।
रूप का अम्बर फैलाता है।

*

पहुँच न पातीं जग की आँखें,
राह न पाती मन की पाँखे,
जीवन की उस ओर
स्वप्न-शिशु पल मे पहुँचाता है।
बिना पथ ले जाता लाता है।
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।

स्पष्ट है कि अनुभूत की व्यापकता को हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ और हमारी बुद्धि कदापि नही स्पर्श कर सकती। 'हमारे स्वय जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है। इसी कारण काव्य में कला का उत्थान इस सीमा तक सम्भव हो सका, जहाँ से वह ज्ञान को सहायता और भाव को विस्तार देने में सहज ही सफल हो सकी। आशय यह कि काव्य मे बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है। इसीलिए कवि का दर्शन न तो कभी किसी प्रकार

की बौद्धिक तर्क प्रणाली का शिलान्यास करता है और न किसी विशेष विचार-पद्धति की स्थापना। कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी अडिग आस्था का ही स्वरूप होता है'। महादेवी जी ने जैसे अपने ही काव्य को लक्ष्य करके लिखा हो—'कवि का वेदान्त-ज्ञान जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भाव-जगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तब उसके सत्य मे जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क-शृंखला नही। अत कलाकार के जीवन-दर्शन मे हम उसका जीवन-व्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते है'। मानवेतर प्राणियो की अभिव्यक्ति देह-धर्म को लेकर चलती है, किन्तु मानव ने उसे अपने मन की ओर उन्मुख कर दिया है। यह प्रक्रिया उसकी मानवीयता का प्रथम सोपान है। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के पोषण से, अन्तर की गम्भीरतम जिज्ञासा के स्फुरण से मनुष्य ने अनुभव किया कि वह केवल व्यक्तिगत प्राणी ही नही, वह विश्वगत प्राणियो का एकात्म भी है। अपनी व्यक्तिगत इकाई मे वह विश्वगत सत्ता का प्रतिनिधि है। इस बोध मे वह सहज ही अपनी दैहिक-भौतिक सीमा मे आगे बढकर मानसिक एव आत्मिक सीमा मे प्रवेश करता हुआ बृहत् मानव की भूमिका मे उपस्थित हो जाता है। यहाँ पहुँच कर उसे आभास होता है कि प्रकृति तथा स्वभाव, प्राण और आत्मा, व्यक्ति और समष्टि का एक ऐसा सामंजस्य है जो पृथिवी का पुत्र है और स्वर्ग का उत्तराधिकारी है। इसका फल यह होता है कि आत्म-प्रकाश करने की प्रत्याशा और प्रयास में वह किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नही करना चाहता। जीवन को समग्र रूप से देखने तथा ग्रहण करने की यह आन्तरिक प्रेरणा मानवीय व्यक्तित्व की आत्म-प्रतिष्ठा तथा उसके उत्थान का स्वाभाविक लक्षण है। आत्मविश्वास का यह स्वर महादेवी जी मे अत्यन्त प्रखर है—

पथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।
घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल-अश्रुओ मे रिमझिमा ले यह घिरा घन,
और होंगे नयन सूखे,
तिल बुझे औ, पलक रूखे,

आर्द्र चितवन में यहाँ
शत विद्युतों में दीप खेला
अन्य होंगे चरण हारे
और हैं जो लौटते. दे शूल को संकल्प सारे,
दुख व्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति-
से तिमिर में स्वर्ण बेला ।
दूसरी होगी कहानी.
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूल में खोई निशानी,
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित
मोतियों की हाट औ',
चिनगारियों का एक मेला ।
पन्थ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला ।

श्री विनयमोहन शर्मा ने लिखा है—'छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन' । यह सच है कि छायावाद के चरम उत्कर्ष के मध्य में महादेवी ने काव्य-भूमि में प्रवेश किया और छायावाद को व्याख्या तथा विश्लेषण द्वारा प्रतिष्ठित किया। छायावाद को उनसे अधिक समर्थ आलोचक आज तक नहीं मिल पाया, इसमें संदेह नहीं । छायावाद और रहस्यवाद की चर्चा में महादेवी जी ने लिखा है—

'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई । अतः अब मनुष्य के अश्रुओं, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक

ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, निविड अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर है। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास बुझ न सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसीसे इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्म-निवेदन करना इस काव्य का (छायावाद का) दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।

वस्तुतः छायावाद बाह्य जगत् और व्यक्ति के आन्तरिक जगत में एक साम्य की स्थापना करके शान्त हो जाता है, जब कि रहस्यवाद जगत के चेतन को एक ही अखण्ड असीम चेतन का अंश मानकर उससे तादात्म्य की, सख्यभाव की स्थापना करता है। रहस्यवादी सारी गोचर प्रकृति को, समस्त विश्व को एक ही अखण्ड-असीम चेतन सत्ता, ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हुए उससे एक आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ता है। प्रकृति के साथ तादात्म्य की भावना का अभिव्यंजन महादेवी जी की कविता में बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है—

हे चिर महान्!
यह स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल,
बरसा जाती रंगीन हास,
सेली बनता है इन्द्र धनुष,
परिमल मल-मल जाता बतास,
पर रागहीन तू हिम निधान!

टूटी है तेरी कब समाधि
झंझा लौटे शत हार-हार,
बह चला दृगों से किन्तु नीर,
सुनकर जलते कण की पुकार,
सुख से विरक्त दुख में समान ।
मेरे जीवन का आज मूक,
तेरी छाया से हो मिलाप,
तन तेरी साधकता छू ले,
मन ले करुणा की थाह नाप,
उर में पावस दृग में विहान ।

हिमालय के साथ इस तादात्म्य की भावना से स्पष्ट है कि रहस्यवादी कवि प्रकृति तथा अपनी आत्मा को एक ही चेतनसत्ता का अंश भूत मानता है । 'प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन' में भी तादात्म्य की मनोरम अभिव्यक्ति है ।

प्रकृति के साथ मानव का चिरकालिक साहचर्य उसे नाना प्रकार की प्रेरणाएँ देने में समर्थ है । महादेवी जी तो उसे अपनी सखी के रूप में देखती हैं । प्राचीन कवियों ने प्रकृति को माया का प्रतीक माना है । रहस्यवादी कवि उसे ब्रह्म-मिलन में बाधक न मानकर सहायक ही मानते हैं । कभी वह जीव को मनाने आती है तो कभी उसके प्रियतम का सन्देश पहुँचाती है—

नव इन्द्रधनुष सा चीर, महावर अंजन ले,
अलि गुंजित मीलित पंकज, नूपुर रुनझुन ले,
फिर आई मनाने साँझ, मैं बेसुध मानी नहीं ।

*

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु बयार ।

महादेवी जी के प्रकृति-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने प्रकृति-प्रेम के कारण उसमें एकात्म भाव से तल्लीन दिखाई पड़ती

है। दोनो ही विरह-व्यथिता हैं, वस्तुतः दोनो मे सहानुभूति अनिवार्य सी हो उठी है। दोनो मे जैसे कोई अन्तर नही रह गया :

फैलते हैं सान्ध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है, रोम मेरे पुलक गीले।

*

वियोगिनी पंकज-कली का चित्र देखिए—

पंकज कली।
मधु से भरा विधु पात्र है,
मद से उनींदी रात है,
किस बिरह मे अवनत मुखी
लगती न उजियाली भली।
पंकज कली! पंकज कली!

महादेवी जी के काव्यानुशीलन से पता चलता है कि सवेदात्मक प्रकृति-चित्रण मे उन्हे सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि वह उनकी भावनाओं के अनुकूल पड़ती है। ऊषा, सन्ध्या, प्रभात, रात, बसंत, वर्षा, बादल, बिजली, आकाश, फूल आदि सभी उनके काव्य में जैसे सजीव व्यक्तित्व से स्पन्दित हो उठे हैं।

उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति होने के कारण महादेवी जी के काव्य मे जगत को भी पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली है। मध्ययुगीन रहस्यवाद मे संसार को क्षणभंगुर, माया तथा मिथ्या कहकर उपेक्षित किया गया है। परन्तु महादेवी जी के रहस्यवाद मे अस्तित्व मात्र के प्रति ममता और सौहार्द्र का दिग्दर्शन पाया जाता है—

सब आँखों के आँसू उजले, सब के सपनो मे सत्य पला।
नीलम मरकत के सम्पुट दो
जिनमे बनता जीवन मोती,
इसमे ढलते सब रंग-रूप
उसकी आभा स्पन्दन होती,
जो नभ में विद्युत मेघ बना, वह रज मे अंकुर हो निकला।

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार
रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार

अब हम कवयित्री की मूल भावभूमि में प्रवेश करने का प्रयत्न करेंगे। महादेवी जी ने केवल गीत ही लिखे हैं और गीत, कवि की व्यक्तिगत अनुभूति पर आश्रित होता है। इसलिए उसे अपनी सम्वेदनीयता के लिए व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रहती है। अपने गीतों के विषय में महादेवी जी ने लिखा है—

'मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोक-गीतों की धरती पर पले हैं। काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रेणियों के बीच में गीत-मुक्तक एक सजल कोमल मेघ-खण्ड है जो न उनसे दबकर टूटता है और न बँध-कर रुकता है, प्रत्युत हर किरण में रंग-स्नात होकर उन्नत चोटियों का शृंगार कर आता है और हर झोंके पर उड़-उड़ कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पन्दन पहुँचाता है।'

रहस्यवाद जैसी आत्म-निष्ठ काव्य-धारा के लिए गीत का रचना-विधान ही उपयुक्ततम है। इन गीतों का मूलाधार आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है, पर कवयित्री की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों से इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोकसामान्य हो गई है। निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का ऐसा सन्तुलन इन गीतों में पाया जाता है कि हृदय खिल उठता है। 'प्रेमियों का सूक्ष्म-कोमल सम्बन्ध-पट, विशेषतः सुकुमार भावना-सूत्रों के ताने-बाने से ही बुना जाता है, जिसके कारण उसमें अपार्थिव मृदुता और आलोकपूर्ण स्निग्धता का समा-वेश हो जाता है।'

गीत हिन्दी साहित्य के लिए कोई नयी वस्तु नहीं, क्योंकि हमारे साहित्य में गीतों की एक परम्परा बहुत पहले से चली आती है। वेद से लेकर सन्त काव्य और विद्यापति से लेकर मीरा तक गीतों की शृंखला हम जोड़ सकते हैं। भारतेन्दु ने भी गीत-रचना की है, पर महादेवी तक पहुँच-कर गीतों ने अपने विकास की चरम सीमा छू ली है। इसे आचार्य शुक्ल जी भी स्वीकार करते हैं। गीतों का भावना-ऐक्य, तीव्र अनुभूति, भाव

गाम्भीर्य संगीतात्मक प्रवाह मनोज्ञता और मनोरमता आदि सभी गुण महादेवी जी के गीतों में घनीभूत हो उठे हैं। वास्तव में काव्य, संगीत और चित्र महादेवी जी की गीत-त्रिवेणी में अवगाहन करके प्राण, मन और आत्मा पुलक से भर जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैसे उन्होंने अपने गीतों के ही विषय में लिखा है—

मेरा पग-पग संगीत भरा,
श्वासों से स्वप्न पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल,
छाया में मलय बयार पली,
मैं नीर भरी दुख की बदली।

*

सौरभ भीना झीना गीला,
लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल,
चल अंचल से झर झर झरते,
पथ में जुगनू के स्वर्ण फूल,
दीपक से देता बार बार
तेरा उज्ज्वल चितवन विलास।
रूपसि तेरा घन केश पाश।

गीतों के कला-सौष्ठव और भावों के मार्दव का मनोहारी मिश्रण महादेवी जी के संगीत-विधान में मिलता है। ध्वनियों के लयात्मक संगठन से उद्भूत संगीत महादेवी जी के गीतों की निजी विशेषता है। ध्वनियों का ऐसा संगठन अन्यत्र दुर्लभ है—

शृंगार कर ले री सजनि!
नव क्षीर निधि की ऊर्मियों से
रजत झीने मेघ सित,
मृदु फेनमय मुक्तावली से
तैरते तारक अमित
सखि, सिहर उठती रश्मियों का

पहिन अवगुंठन अवनि
हिम-स्नात कलियों पर जलाय
जुगनुओं ने दीप से,
ले मधु पराग समीर ने
वन-पथ दिये है लीप से
गाती कमल के कक्ष मे
मधु गीत मतवाली अलिनि।

❀

कनक-से दिन मोती-सी रात
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात।

इन कलात्मक गीतों के पीछे कवयित्री की वह रसात्मकता काम कर रही है जो किसी भी विरहिणी प्रेमिका के लिए सहज ही उपलब्ध है। महादेवी जी के प्राय सभी गीतो का विषय उनके अन्तर्जगत का प्रणय-सकल्प और प्रस्फुटित भावनाएँ है। प्रेम जीवन की सबसे सरस तथा व्यापक वृत्ति है। रहस्यवाद का प्रमुख ध्येय प्रसुप्त आत्म-ज्योति को जगाना है। इसको जगाने वाला प्रमुख तत्व प्रेम है। यह प्रेम एक ही जन्म की साधना से नही जगता, इसके लिए जन्मजन्मान्तर की साधना अपेक्षित है। रहस्यवादी का प्रियतम सगुण-निर्गुण दोनों रूपो मे अपनी उपस्थिति देता है। निर्गुण इस अर्थ मे कि लोक मे वह उस रूप मे प्रतिष्ठित नही होता, जिस रूप मे रहस्यवादी उसे जानता या मानता है। सगुण इसलिए कि वह रहस्यवादी के हृदय मे मूर्तिमन्त है। वस्तुत: रहस्यवादियो का निर्गुण उपास्य भावमय होने के कारण प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, सजीव और वैयक्तिक होता है। काव्य मे रहस्यवाद के उपास्य की निर्दिष्ट विशेषतायें यह है :

१—वह निर्गुण होते हुए भी
२—प्रेम करने योग्य है
३—प्राप्त करने योग्य है
४—सजीव है

५ वैयक्तिक होता है

रहस्यवादी का भाव-प्रवण कोमल हृदय सौन्दर्य-प्रिय होता है। और वह प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर उसके स्रष्टा परम सौन्दर्यवान के प्रति आकर्षित होकर उसके प्रेम मे डूब जाता है। इसीलिए सौन्दर्य और प्रेम दोनो की रहस्यवाद मे परम प्रतिष्ठा है। इस सौन्दर्य की साधना बहिर्मुखी प्रक्रिया से परिचालित होती है, क्योंकि निर्गुण का सौन्दर्य, जीवन और प्रकृति मे परिव्याप्त है। परन्तु प्रेम की साधना अन्तर्मुखी होती है। रहस्य-वादी को इन दोनो प्रक्रियाओं का पथ पार करना पड़ता है। एक मे वह सारे संसार मे एकात्मकता का अनुभव करता है और दूसरी से वह उस रहस्यमय-सत्य की अनुभूति करता है। महादेवी जी मे इन दोनो का रसायनिक समन्वय हो गया है। सौन्दर्य का एक चित्र अवलोकनीय है—

तेरी आभा का कण नभ का
देता अगणित दीपक दान,
दिन को कनक राशि पहनाता
विधु को चाँदी सा परिधान,
नेरी महिमा की छाया-छवि
छू होता वारीश अपार,
नील गगन पा लेता घन सा
तम सा अन्तहीन विस्तार।
सुषमा का कण एक खिलाता
राशि-राशि फूलो के वन,
शत-शत झझावात प्रलय—
बनता पल मे भ्रू सचालन !

ससार मे शक्ति और सौन्दर्य का विधान उसी की शक्ति और आभा का प्रतिदान है। उसकी महिमा कण-कण मे व्याप्त है। देवता अपना अमर लोक उसके चरणों पर निछावर कर देते है, रवि-शशि अपनी आभा उसकी आराधना मे अर्पण कर देते है, उसके दिव्य चरणो पर अखिल सुषमा के साज लोटते हैं। अरुणा के कोमल कपोलो पर मदिर लालिमा उसी की

देन है, उसका सहास मुख ही अरुणोदय है। विश्व का सारा सौन्दर्य उसी का है। इसी परम तथा चिर सुन्दर के प्रति प्रणय-निवेदन महादेवी जी की काव्य-सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु है।

'नीहार' उनकी प्रथम काव्य-रचना है। उसकी प्रथम कविता मे ही महादेवी जी की इस अलौकिक प्रणयानुभूति का पता मिलने लगता है :

निशा को धो देता राकेश
चादनी मे जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
बतादो मधु मदिरा का मोल।
भटक जाता था पागल वात
धूलि मे तुहिन कणो के हार,
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार।

वसन्त ऋतु की चाँदनी रात का चित्र है। जब चन्द्रमा ने निशा के केश (अन्धकार) को चादनी से धो दिया, चाँदनी फैल गई। बसत (प्रेम का प्रेरक) कलियो मे मधु-मदिरा का उन्माद भर रहा था। उसी समय (वसन्त की चाँदनी रात मे) जीवन का सगीत (प्रेम) सिखाने वह प्रिय (परम चेतन) इस पार आया। इस गीत मे प्रथम प्रणयानुभूति का आभास स्पष्ट है। प्राकृतिक सुषमा-दर्शन तथा प्रकृति की समस्त सौन्दर्य-मयी विभूतियो में परस्पर व्यापारो की प्रत्यक्षानुभूति से कवयित्री के हृदय मे प्रणय-सम्वेदना की जो अनुभूति हुई उसी का संकेत इस गीत में है।

'अभिज्ञान शाकुतल' मे महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त से कहलाया है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकी
भवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्व भावास्थिराणि
जननान्तर सौहृदानि।

सुन्दर रमणीय दृश्यों को देखकर, मीठे शब्दो को सुनकर जब सुखी लोग भी उत्सुक या उदास हो उठें तब यह समझना चाहिए कि उनके मन

म पिछले जन्म के प्रेमियों के जो संस्कार अन्तर्मन में जमे बैठे हैं वे अपने आप जग पड़े हैं। वस्तुतः प्रकृति के मधुर व्यापारों के माध्यम से, उसके कारण और उसके स्रष्टा परम सौन्दर्यवान् के प्रति आकर्षण और प्रेम की यह प्रवृत्ति संस्कार संयुक्त और स्वाभाविक ही है। बसन्त की मन्द सौरभ-सिक्त बयार के स्पर्श से जीवन तथा प्रकृति में निहित प्रेम-तत्व के सहसा मुकलित होने की बात सर्वमान्य है। अन्तर की प्रेम-स्रोतस्विनी कब और कैसे फूट पड़े इसका कोई निश्चित विधान या विज्ञान नहीं। यों भी हमारे जीवन की मार्मिक प्रेरणाएं अन्तर्जगत में प्राप्त होती हैं और यह जगत् एक ऐसी गहन गुफा के समान अज्ञात और रहस्यपूर्ण है कि उसके भीतर की अनन्त व्यापकता और गहराई की नाप बाहर के सीमित इन्द्रिय-ज्ञान से सम्भव नहीं। इसी जगत के सत्य को व्यक्त करने के कारण काव्य-सत्य की व्यापकता और अधिक बढ़ जाती है। काव्य का सत्य मानस-सत्य है, क्यों कि वह मानव-हृदय की अनुभूतियों, भावों और विश्वासों को लेकर चलता है, अस्तु अविश्लेष्य एवं स्वयं-सिद्ध है। हृदय में सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा, आशा-निराशा का उदय उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार प्राची में सूर्योदय। काव्य की वास्तविक कसौटी यही भाव या प्रभाव है, इनके उद्भावक तथ्यों, व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं की ऐतिहासिक या वैज्ञानिक वास्तविकता नहीं।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि हमारे परिचित चेतन अनुभव तथा ज्ञान-विज्ञान के मूल में अनन्त अवचेतन शक्तियाँ क्रियाशील हैं। जीवन को विकास एवं गति को व्यापकता देने वाले नितान्त गम्भीर, नवीन और क्रान्तिकारी अनुभव, अभिनव सौन्दर्य का आकलन, शाश्वत सत्य का उद्घाटन इसी अन्तर्जगत के गर्भ से होता है।

महादेवी जी का काव्य आन्तरिक अनुभूतियों का उद्घोष है। मनुष्य की आत्मिक अभिव्यक्ति का उत्कर्ष और ऐश्वर्य है। उनकी आस्था है कि प्रत्येक वस्तु या प्राणी केवल प्रकृति का अंग ही नहीं, वरन् अपने आध्यात्मिक प्रभावों के कारण वह एक विराट और व्यापक चेतना का स्फुलिंग भी है उसके इन दोनों रूपों को हृदयंगम किए बिना हम उसकी वास्तविक स्थिति

का पता नहीं था रक्ति

वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्प केवल पखुरी पराग सौरभ तथा रस का समुदाय है, परन्तु हमारे अनुभव मे वह सुन्दर भी है और हमारी भावनाओं का उत्प्रेरक भी। मनुष्य का अनुभव केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं, उसमे उसकी कल्पना, सौन्दर्य-बोध, भावना तथा आह्लाद-आनन्द का भी समावेश रहता है, जो उसके जीवन का निकटतम तथा अभिन्न अग है। यदि जीवन भावना-शून्य हो जाये तो सारा ससार आकर्षण-विकर्षण-शून्य निर्जीव आकृतियो का अजायबघर बन जायगा, इसमे सन्देह नही। अस्तु सत्ता की सम्पूर्ण उपलब्धि के लिए उसके दार्शनिक आध्यात्मिक प्रभाव का अध्ययन अनिवार्य रहेगा। इसी दृष्टिकोण के कारण पुष्प का सौन्दर्य हमारे जीवन को इस प्रकार रँग देता है कि यह नन्हा सा प्राकृतिक पदार्थ हमारे अक्षय आनन्द का कारण और आधार बन जाता है। यही आनन्द हमारी आत्मा का शाश्वत स्वरूप है, क्योकि इसी आनन्द-भावना के अनुशीलन, मनन, भावना तथा अनुभव से हम आत्मा के स्वरूप को समझने मे सफल होते है।

कहते है कि छद्मवेशी महादेव ने तपस्विनी पार्वती के पास उनकी परीक्षा लेने के अभिप्राय से जब शकर के रूप, गुण और वय की निन्दा की तब उमा ने उत्तर दिया—'ममात्र भावैक रसं मनः स्थितम्'—उसके प्रति मेरा हृदय एकमात्र भावो के रस मे अवस्थित है। प्राकृतिक दृश्यो और व्यापारो मे हमारे भावो को उद्दीप्त करने की आश्चर्यजनक क्षमता है। बुद्धि की तार्किक सूक्ष्मता के स्तर पर पहुँचने के पहले वैदिक ऋषियो की काव्य-शक्ति प्रबुद्ध हुई और वे असीम में, अनन्त मे विश्व के रहस्य का अन्वेषण करने लगे। अपनी उस भावात्मक स्फूर्ति मे उक्त कवियो ने विश्व की सभी विभूतियों को एक ही सूत्र मे ग्रथित पाया। आकाश मे बिखरे हुए असख्य तारो के पुज, ससार पर उत्साह का अभिषेक करने वाली, नेत्रों को आनन्द देने वाली, जागरण का सन्देश लाने वाली स्मित बदना उषा, अनन्त आकाश को नापने वाले सूर्य, अगाध-निर्मल जलराशि, वर्षा, आँधी-तूफान, मेघ-गर्जन, बिजली की चमक-दमक आदि सब मे उन्हे एक ही नियंत्रण तथा नियम का अनुभव हुआ है। दिन और रात, ऋतुओ के चक्र में उपस्थित होने वाले

निश्चित वार्षिक परिवर्तन पत्रों पुष्पों एवं फलों के रूप में वनस्पतियों का नियमित विकास-क्रम देख कर उन्होंने अनुभव किया कि प्रकृति-नटी का कार्य-कलाप नियमित और निश्चित रूप से चलता है और इसमें एक व्रत का पालन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। धरती और आकाश के इस नियमित, अटूट और अडिग सम्बन्ध ने, सम्पूर्ण सृष्टि की आन्तरिक एकरूपता ने उन्हें यह भावबोध दिया कि सारे विश्व में एक निश्चित और व्यापक व्यवस्था है। कोई कुप्रबन्ध नहीं है, कोई अव्यवस्था नहीं है। वरन् एक नियम-बद्धता है, नियमन है। सभी देवता इस नियम का बड़ी सावधानी से और बिना किसी प्रमाद के पालन करते हैं। विश्व की इस व्यवस्था को ऋग्वेद ने 'ऋत' की संज्ञा दी है। व्यवस्था से आगे बढ़ कर व्यवस्थापक की खोज में उन्होंने आदि तत्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति की और मनुष्य की शरीरबद्ध अन्तरात्मा को उसी का अंशभूत माना।

वस्तुतः यह अनुभूत सत्य है कि आदि युग से लेकर आज तक बाह्य जगत, सम्पूर्ण प्रकृति रात दिन हमारे मन को नाना इंगितों, रूपों और भावों से स्पर्श करती रहती है, जिसके फलस्वरूप हमारे मन की रागिनी विभिन्न भावों के माध्यम से ध्वनित होती रहती है। मन के भीतर संचित अव्यक्त भाव ही किसी सुअवसर का आश्रय लेकर गीतों में संचरित हो उठता है।—भावनालोक में ऐसी चेष्टाओं का अन्त नहीं, चेतन विज्ञान की यही सनातन भूमिका है—

> जिस दिन नीरव तारों से, बोली किरणों की अलकें,
> सो जाओ अलसाई हैं सुकुमार तुम्हारी पलकें।
> जब इन फूलों पर मधु की पहली बूँद बिखरी थी,
> आँखें पंकज की देखीं रवि ने मनुहार भरी थी।
> दीपक-मय कर डाला जब जल कर पतंग ने जीवन,
> सीखा बालक मेघों ने नभ के आँगन में रोदन।
> उजियारी अवगुंठन में विधु ने रजनी को देखा,
> तब से मैं ढूँढ रही हूँ उनके चरणों की रेखा।

जिस दिन मौन तारों से किरणों की अलकों ने कहा कि तुम्हारी कोमल

पलकें रात भर जगने से अलसाई है अब तुम सो जाओ जब फूलों पर मधु की पहली बूँद बिखरी थी जब सूरज ने कमल की विनय विमुग्ध आँखों को स्नेहभरी दृष्टि से देखा, जब रात भर जल कर पतंग दीपकमय हो गया, जब बालक की भाँति बादल ने रो दिया और जब चाँदनी के घूँघट के साथ चन्द्रमा ने रात को प्रेम-पूर्वक देखा, तभी से मैं भी अपने प्रिय को खोज रही हूँ। इन्हीं परस्पर प्रीतिमय दृश्यों को देख कर कवयित्री के हृदय मे अपने प्रिय को पाने की भावना जाग्रत हुई। तब से बराबर कवयित्री इस वियुक्त अन्तरात्मा की प्रेममयी व्यथा तथा इस व्यथा की मधुरता का चित्रण अपने गीतों मे करती जा रही हैं। प्रेम की प्राय समस्त अन्तर्दशाओं और मनोभावों की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हमे महादेवी जी के गीतों मे मिलती है।

प्राकृतिक दृश्यों और उनके प्रेम व्यापार की अनुभव-परिधि के भीतर कवयित्री को सुख-दुख दोनों ही दिखाई पड़े। एक ओर प्रकृति की चिर यौवन-सुषमा, जिसमे नीले कमलों पर हँसते हुए हिम-हीरक, सौरभ पीकर मदमस्त पवन, पराग और मधु पूर्ण बसन्त, मकरन्द पगी परियाँ, किसलय भूले मे भूलते हुए अलि-शिशु, जल की वसन्त मे घुलता हुआ विहँगों का कलरव, चतुर्दिक फैली अम्लान हँसी है। दूसरी ओर मुरझाई पलकों से गिरते आँसू, दुख का घूँट पीती ठण्डी आहे, सन्तापो से झुलसे पतझर शरीर-पिंजर मे बद्ध प्राणों का शुक, चिन्ता और आँसुओं का कोष लिये जर्जर मानव-जीवन है। इस द्वन्द्व से प्रभावित कवयित्री का जीवन विह्वल हो उठा। वेदना के इस प्रारम्भिक रूप ने सहानुभूति को जन्म दिया और विश्व के दुखी प्राण स्वयं कवयित्री के प्राणों की प्रतिकृति से लगने लगे।

किरणों को देख चुराते, चित्रित पंखों की माया,
पलकें आकुल होती थी, तितली पर करने छाया।
नव मेघों को रोता था जब चातक का बालक मन,
इन आँखों में करुणा के घिर-घिर आते थे सावन।

आत्मीयता और सहानुभूति ने उनके हृदय को एक स्वच्छ पारदर्शिता दे दी, उसे दर्पण की भाँति निर्मल बना दिया। उसमे सभी के सुख-दुख

अपने लगने लगे, इसी मे दूसरो का विषाद ही नही, आह्लाद भी बिना मुग्ध किये न रह सका—

गुंजन के द्रुत तालो पर चपला का वेसुध नर्तन,
मेरे मन बाल शिखी मे संगीत मधुर जाता बन ।

*

स्मित ले प्रभात आता नित दीपक दे सन्ध्या जाती
दिन ढलता सोना बरसा निशि मोती दे मुस्काती ।

लोक-जीवन और प्रकृति के साथ तादात्म्य करने के पश्चात् उन्हे आन्तरिक बोध तथा अनुभव हुआ कि यह सारा ससार उसी अज्ञात प्रियतम से उद्भूत होकर भूलता-भटकता, साधना की भिन्न सीढियों पर चढता अन्त मे इसी मे लीन हो जाता है—

सिन्धु को जैसी तप्त उसाँस, दिखा नभ मे लहरो का लास,
घात-प्रतिघातो की खा चोट, अश्रु बन फिर आ जाते लौट ।
बुलबुले मृदु उर के से भाव, रश्मियो से कर कर अपनाव,
यथा हो जाते जलमय-प्राण, उसी मे आदि वही अवसान ।

इस प्रकार अपने प्रियतम के पूर्ण परिचय से आश्वस्त कवयित्री अपनी अनन्त युगव्यापी विरह-साधना मे तल्लीन हो जाती है। इस अलौकिक प्रेम और अनुभूति पर आक्षेप करने वालों की धारणा पर आश्चर्य प्रकट करते हुए महादेवी जी ने जो उत्तर दिया है, वह पर्याप्त होना चाहिए।—

जो न प्रिय पहचान पाती ।
दौडती क्यो प्रति शिरा मे प्यास विद्युत सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँझ तम मे
सजल दीपक राग गाती ?

*

मेघ-पथ मे चिन्ह विद्युत के गये जो छोड प्रिय पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,

किस लिए पावस नयन म
प्राण मे चातक बसाती ?

मेरा विचार है कि काव्य के लिए कवि का साक्ष्य ही सर्वाधिक विश्वसनीय माना जाना चाहिए, नकि आलोचक की अपनी धारणाओ का आरोप।

जो भी हो महादेवी जी के रहस्यवाद मे एक उनकी अपनी उपलब्धि है, जो किसी भी प्राचीन तथा अर्वाचीन रहस्यवादी कवि मे नहीं मिलती। प्राचीन काल मे लेकर मध्य-युगीन रहस्यवाद तक उस प्रिय सत्ता के प्रति साधकों ने, कवियों ने जो दीनता प्रकट की है, वह महादेवी जी मे नही। उस परम तत्व की प्रणयिनी के अनुरूप उनमे आत्म-सम्मान और आत्म-दीप्ति भी है। उन्होने प्रिय के साथ प्रेयसी, असीम के साथ ससीम की महत्ता की अभिव्यक्ति भी की है—

उनमे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन,
उनमे अनन्त करुणा है, मुझमे असीम सूनापन।

*

जिसकी विशाल छाया मे जग बालक सा सोता है
मेरी आँखो मे वह दुख आँसू बनकर खोता है।
मेरी लघुता पर आती जिस दिव्य लोक को व्रीडा,
उसके प्राणो मे पूछो, वे पाल सकेगे पीडा ?

यह स्वाभाविक ही है कि विरह-तप्त विरहिणी के काव्य-चित्र भी दीप्तिवान हो। अपनी वेदना मे भी महादेवी जी उदात्त और गरिमामयी है :

मै बनी मधुमास आली !
आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उमड आई री दृगो मे सजनि कालिन्दी निराली !
रजत-स्वपनो मे उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख-पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली,
बह चली निश्वास की मृदु वात मलय निकुन्ज पाली !

घिरती रहे रात

न पथ रूँधती ये गहनतम शिलायें,
न गति रोक पाती पिघल मिल दिशायें,
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर वात
न आँसू गिने औ, न काँटे सँजोए,
न पग चाप दिग्भ्रान्त उच्छ्‌वास खोये-
मुझे भेंटता हर पलक पात में प्रात !

*

और कहेंगे मुक्ति कहानी
मैंने धूलि व्यथा भर जानी
हर कण को छू प्राण पुलक-बन्धन में बँध जाता है,
मिलन उत्सव बन क्षण आता है।
मुझे प्रिय जग अपना भाता है।

केवल इतना ही नहीं वे अपना अस्तित्व खोकर उस परम प्रियतम तथा चरम आराध्य में मिल कर अपने अस्तित्व को खोना नहीं चाहती—

मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण,
सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं !

इससे पता चलता है कि कवयित्री की विरह-वेदना उसके अहम् को आक्रान्त न करके उसे ओजपूर्ण दर्प से महिमान्वित कर देती है।

काव्य-प्रतीकों में दीपक महादेवी जी को सर्वाधिक प्रिय है। दीपक को लेकर 'दीप शिखा' में कुछ गीत अत्यन्त सुन्दर और प्रभावी बन गए है। महादेवी जी के कवि कलाकार को दीपक की लौ का बहुत बडा सम्बल सहज ही प्राप्त है—

दीप मेरे जल अकम्पित,
घुल अचंचल !
पथ न भूले एक पग भी,
घर न खोये लघु विहग भी,

स्निग्ध लौ की तूलिका से
आँक सब की छाँह उज्ज्वल !

जलने की विवशता के साथ इस कविता में दीपक की उदार भावना तथा उसके शील का स्थायित्व स्वयं कवयित्री के व्यक्तित्व का परिचायक है। इस प्रकार गीत-सृष्टि में महादेवी जी सहज ही अद्वितीय हैं। महाप्राण निराला की ये पंक्तियाँ महादेवी जी में पूरी सार्थकता पा लेती है—

हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा वाणी,
स्फूर्ति, चेतना, रचना की प्रतिमा कल्याणी !

एक बात और—महादेवी जी बहुत प्रौढ गद्यकार और सफल चित्रकार भी है। 'दीप-शिखा' के इक्यावन कलात्मक चित्रों की पीठिका पर गीतों का शब्दांकन हुआ है। चित्र और गीत दोनों एक दूसरे में इतने घुल-मिल गये हैं कि चित्रों ने गीतों के स्वरों को रंग दिया है और गीतों ने चित्रों की रेखाओं में स्वर भरने की सफलता पायी है। इस प्रकार के पारस्परिक आदान-प्रदान से गीत सजीव हो उठे है और चित्र सस्वर। महादेवी जी की यह सफलता अपने आप में अद्वितीय है।

'दीपशिखा' की भूमिका-रूप 'चिन्तन के कुछ क्षण' में जिस स्वच्छ, किंतु ओजपूर्ण गद्य के दर्शन होते है, वह हिंदी गद्य का गौरव है। काव्य की मूलभूत प्रवृत्तियों और उनके विकास के विविध स्वरूपों पर इस तरह की अधिकारपूर्ण लेखनी से आज तक कोई दूसरा निबन्ध नहीं लिखा गया, इसे सभी मानते है। काव्य की व्याख्या, यथार्थ और आदर्श, व्यक्ति और समाज, पुरुष तथा नारी, जीवन और जगत, सामयिक और शाश्वत आदि पर इस प्रकार विश्लेषण-विवेचन किया गया है कि पाठक एक क्षण को सोचने लगता है कि कवि-महादेवी बड़ी है कि विदुषी-महादेवी।

अपनी कविताओं में महादेवी जी एक प्रणयिनी की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं, पर 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखायें' में वे माँ के रूप में, बहन के रूप में, सजग सामाजिक व्यक्तित्व के रूप में, जीवन के कण-कण के प्रति अगाध करुणामयी के रूप में भी स्पन्दित है। अपने विवेचनात्मक गद्य से हिंदी-समालोचना को एक व्यापक नया धरातल देने का भी

क्षय उन्हें प्राप्त है। महादेवी जी के विचारक का रूप 'शृंखला की कड़ियाँ' में देखने को मिलता है। इस प्रकार उनके सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी रहस्यमयी आत्मिक अभिव्यक्ति उनके गीतों में और उनकी यथार्थवादी अभिव्यक्ति उनके गद्य में अपने चरमतम रूप में सुरक्षित है। इतना सब जान लेने के पश्चात् हम उनके इस कथन का विश्वास करने के लिए जैसे विवश है—'विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' इसी बोध की तीव्रतम गतिमयता 'दीपशिखा' का अन्तिम गीत सम्भाले हुए है—

अलि मैं कण-कण को जान चली
सब का क्रन्दन पहचान चली।
जो दृग में हीरक जल भरते,
जो चितवन इन्द्र धनुष करते,
टूटे सपनों के मनकों से
जो सूखे अधरों पर झरते;

जिस मुक्ताहल से मेघ भरे,
जो तारों से तृण में उतरे,
मैं नभ के रज के रस-विष के
आँसू के सब रँग जान चली।
दुःख को कर सुख आख्यान चली!

जो जल में विद्युत् प्यास भरा,
जो आतप में जल-जल निखरा,
जो झरते फूलों पर देता,
निज चन्दन सी ममता बिखरा,
जो आँसू से धुल-धुल उजला,
जो निष्ठुर चरणों का कुचला,
मैं मरु उर्वर में कसक भरे

अणु परणु का कम्पन जान चली
प्रति पग को कर लयवान चली।

महादेवी जी अभी अपने साधना-पथ पर गतिशील है। 'नीहार' के धुंधलेपन मे 'रश्मि' के स्पष्ट प्रकाश पर जो 'नीरजा' मुकन्नित हुई थी वह 'सान्ध्य गीत' की ध्वनि से मुखरित 'दीपशिखा' तक पहुँच चुकी है। अब कवयित्री के साथ हम सब को भी आत्मबोध के उस प्रसन्न प्रभात की प्रतीक्षा है जब हम उनके साथ एक स्वर मे गा सके—

कटको की सेज जिसकी आँसुओ का ताज,
सुभग हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनि प्यारे जाग!

डॉ० रामकुमार वर्मा

राजेन्द्रकुमार

आधुनिक युग के साहित्यकारों में बहुमुखी प्रतिभा की दृष्टि से डॉ० रामकुमार वर्मा का महत्वपूर्ण-स्थान है। साहित्य के सृजन और अनुशीलन दोनो ही क्षेत्रो में उनके कृतित्व का विकास हुआ है। यद्यपि डा० वर्मा की काव्य, नाटक, इतिहास, समालोचना आदि विविध साहित्यिक विधाओं से सम्बन्द्ध मौलिक एवं आलोचनात्मक कृतियो ने हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाया है, किन्तु उनके सम्पूर्ण कृतित्व को ध्यान मे रखते हुए नाटक और काव्य-रचना में अपेक्षाकृत उनका योग अधिक रहा है। द्विवेदी युग के अंतिम चरण से लेकर वर्तमान प्रयोगवादी युग तक उनकी काव्य-साधना का क्षेत्र विस्तीर्ण होते हुए भी कतिपय प्रवृत्तियो के कारण उनके काव्य का वैशिष्ट्य सुरक्षित है।

प्रेरणा और काव्य-सिद्धान्त:—

छायावादी कवियों मे प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के साथ डा० रामकुमार वर्मा का भी नाम लिया जाता है। ये छायावाद के द्वितीय उत्थान के कवि हैं। बुन्देलखंड के पर्वतीय प्रदेश का प्राकृतिक सौंदर्य, यौवन काल की राष्ट्रीय चेतना, इतिहास एवं गौरवमय अतीत के प्रति अनुराग, धार्मिक सस्कार आदि उनके काव्य के प्रेरक उपादान रहे हैं। भावुक कवि के साथ अध्यात्मिक और चिंतक के सम्मिलित व्यक्तित्व के कारण उनके काव्य के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्षों मे अपूर्व सतुलन दिखाई पड़ता है। विविध

काव्य शैलियों, काव्य रूपों, ललित भाषा के प्रयोग, छायावादी काव्य संस्कारों के पोषण, रहस्यवाद की मार्मिक अभिव्यक्ति आदि के कारण उनके काव्य का अपना व्यक्तित्व है। वर्मा जी की काव्यगंगा, इतिहास, राष्ट्रीय गौरव एवं कल्पना के दुर्गम किन्तु मनोहर पर्वतों से निकल कर वस्तु एवं भावना के विविध धरातलों पर प्रवाहित हुई है।

अन्य छायावादी कवियों के समान डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपने नाटकों, काव्यग्रंथों की भूमिकाओं, आलोचनात्मक लेखों आदि में अपने काव्य-सिद्धान्त का निरूपण किया है। वर्मा जी के अनुसार आत्मानुभूति और भावुकवृत्ति काव्य के संयोजक तत्व है। "**आत्मा की गूढ़ और अव्यक्त सौंदर्य-राशि को भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।**" उन्होंने इसको काव्य की आत्मा माना है। रस-विहीन काव्य भाव-जगत का स्पष्ट चित्र उतार सकने में असमर्थ रहता है। सत काव्य में रस के साथ गुण अथवा वृत्तियों की व्यवस्था भी शैली का अभिन्न अंग बन जाती है। करुणा अन्य भावों की अपेक्षा मन को अधिक स्पर्श करती है।
करुण स्वर के छंद में है लीन कविता आयु भर ली।"

—आकाश गंगा

इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य को एक दैवी वरदान के रूप में स्वीकार किया :—

"एक बार मा निषाद कह कर तुमने
रोकी थी सुगति एक निर्दय निषाद की।
आज दूसरे निषाद के सुकीर्ति गान में
चाहता सुमति मैं काव्य के प्रसाद की

—एकलव्य

डा० वर्मा के अनुसार अध्ययन, लोकानुभूति और प्रकृति-दर्शन सफल काव्य-रचना के आवश्यक उपकरण हैं। कवि की वैयक्तिक दृष्टि का लोक से तादात्म्य उसे स्थायित्व प्रदान करता है अतएव जीवनगत संघर्ष ही साहित्य का वास्तविक प्रेरणा-स्रोत है। उपत्यकाओं, हिमशैल, बादल, पुष्प राशि, वृक्ष, रात्रि ने उन्हें अनगिनत भावनाएँ और कल्पनाएँ दी है। इतिहास

के सुलभ वीर नायकों के चरित्र भी उन्हें काव्य-रचना में प्रेरणा देते रहे हैं इसीलिए उनकी रचनाओं में अपने गौरवमय अतीत की झाँकी दिखाई पड़ती है। वर्मा जी के अनुसार वस्तुतत्व एवं कल्पना की सार्थकता का मूलाधार अनुभूति की शुद्धता है। कल्पना कविता के अन्तर्गत एक नए संसार की सृष्टि करती है। उसके द्वारा अभिव्यक्ति में विशिष्ट सौंदर्य आ जाता है :—

मेरी अनुभूति रंगहीन पुष्प जैसी है
किंतु वह खिलती है मेरे भाव वृन्त में।
कल्पना पराग के भले ही कण थोड़े हों,
किंतु उनका है योग सत्य बिंदु में।

—एकलव्य, सर्ग १४

प्रारम्भिक रचनाएँ :—

डा० रामकुमार वर्मा का कवि रूप में आविर्भाव उनकी ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित रचना 'वीर हम्मीर' (सन् १९२२) के साथ हुआ। इसके अनन्तर 'कुल ललना', 'चितवन', और 'चित्तौड़ की चिता' आदि रचनाएँ प्रकाश में आईं। वर्मा जी की ये रचनाएँ वर्णनात्मक हैं। अनुभूति, दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि के विचार से रचनाएँ उनकी छायावादी गीति रचनाओं की तुलना में नहीं आतीं। यद्यपि अनुभूति और कल्पना के स्थान पर घटनाओं के रोचक संगुंफन में ही कवि का कौशल दिखाई देता है, तथापि उसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। इनमें कवि का प्रयोगशील व्यक्तित्व स्पष्टतापूर्वक देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन रचनाओं में वर्मा जी के प्रबन्धकार के उस व्यक्तित्व की सूचना मिल जाती है जो आगे चल कर जौहर (सन् १९३९ और एकलव्य सन् १९५८) के अन्तर्गत पल्लवित हुआ। इन रचनाओं के इतिहास के क्रोड़ में कवि की राष्ट्रीयता एवं देशानुराग की भावना भी व्यक्त हुई है। एक उदाहरण देखिए :—

भारत भू की ओर बढ़े आकर्षण क्षण क्षण।
उसकी सेवा हेतु बहे चाहे शोणित कण।
तन मन धन सर्वस्व देश हित ही हो अर्पण।

कर्म क्षेत्र में बढ़ यहा मुख से निकले प्रण
प्यारे भारत देश की माला हाथों में बसे।
हृदय कमल के देश में सेवा भ्रमरी आ फँसे।

—चित्तौड़ की चिता

आत्मानुभूति प्रधान छायावादी गीति रचनाओं में प्रवृत्त होने पर भी यद्यपि वर्मा जी का इतिहास के प्रति अनुराग लुप्त तो नहीं हुआ, तथापि उसका स्वरूप बदल गया। इतिवृत्तों का आलेख प्रबन्ध काव्यों में रखने की प्रवृत्ति वर्तमान रही तथा स्थूल की लाक्षणिक सूक्ष्म के द्वारा प्रकट करने में ही वे अधिक यत्नशील दिखाई पड़ते है। अपनी परवर्ती रचनाओं में उन्होंने जहाँ जीवन की अनुभूतियों का चित्रण करके छायावाद की पृष्ठभूमि सशक्त बनाई है, वहीं इतिहास के विविध पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित प्रभान्विति भाव पक्ष के द्वारा उद्घाटित की है। घटनाओं की अपेक्षा उनमें अन्तर्निहित चरित्र एवं स्वभाव की अभिव्यक्ति जीवन को किसी महत्वपूर्ण बिंदु पर लाकर चित्रित करने में दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ 'शुजा' में अराकान की विभीषिका का चित्रण इसलिए अमर है, क्योंकि वह उसके अन्तर्जगत का उद्घाटन करता है —

मौन-राशि ओ अराकान !
क्रम-हीन और इति-हीन मौन,
यह मन है, तन भी यही मौन,
निर्जनता की बहुमुखी धार,
अविदित गति-से है बही मौन !
यह मौन ! विश्व का व्यथित प्यार,
तुझमें क्यों करता है निवास ?
क्या व्योम देखकर ? अरे व्योम
में तारों का है मुक्त हास।
ये शिलाखंड—काले, कठोर—
वर्षा के मेघों से कुरूप !

दानव से बैठ खड़े या कि
अपनी भीषणता में अनूप !
ये शिलाखंड मानो अनेक
पापों के फल हैं समूह !
या नीरसता ने चिर निवास
के लिए रचा है चक्रव्यूह ।

इसी प्रकार 'नूरजहाँ' में उसके सौंदर्य का चित्रण घटनात्मक न होकर भावात्मक अधिक है ।

छायावादी व्यक्तित्व का अंकुरण :—

डा० रामकुमार वर्मा का छायावादी संस्कारों से प्रभावित कवि रूप सर्वप्रथम उनकी रचना अभिशाप (सन् १९३०) के माध्यम से प्रकाश में आया । इस रचना के गीतों में नैराश्य और वैराग्य का सुन्दर निरूपण हुआ है । अभिशाप के अनन्तर अंजलि (सन् १९३०) रूपराशि (सन् १९३१) 'निशीथ' (सन् १९३१) में उनका छायावादी गीतकार का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर उभरता गया है । भावना की कोमलता और कल्पना की उन्मुक्त उड़ान की दृष्टि से 'अंजलि' और 'रूपराशि' की कविताएँ पर्याप्त सुन्दर हैं । इनमें वेदना, करुणा, और नैराश्य के सम्मिलित सन्निवेश के द्वारा प्रेम तत्व का सुन्दर निदर्शन हुआ । वस्तु, भाव, भाषा, शैली और अभिव्यक्ति आदि सभी दृष्टियों से वर्मा जी की ये रचनाएँ उनकी इतिवृत्त प्रधान प्रारम्भिक रचनाओं की अपेक्षा कहीं प्रौढ़ हैं तथा इनमें गीत रचना की ओर उनका विशेष झुकाव दिखाई पड़ता है ।

उत्कर्ष :—

इसके अनन्तर चित्ररेखा (सन् १९३५) चंद्रकिरण (सन् १९३७) और 'आकाश-गंगा' (सन् १९५७) आदि रचनाओं तथा स्फुट गीतों के अन्तर्गत वर्मा जी के छायावादी गीतकार के व्यक्तित्व का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है । प्रकृति चित्रण, सौंदर्य निरूपण, रहस्यवादी अभिव्यक्तियों एवं गीति-काव्य की दृष्टि से 'चित्ररेखा' के रचनाकाल के आसपास के गीत अत्यन्त श्रेष्ठ हैं । एक गीत देखिए :—

प्रिय तुम भूले मैं क्या गाऊँ
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे
जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ ?
शब्दों के अधखुले द्वार से,
अभिलाषाएँ निकल न पातीं
उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर,
इच्छाएँ चल कर थक जातीं !
शून्य स्वप्न संकेतों में मैं,
कैसे तुमको पास बुलाऊँ ?
जहाँ सुरभि की एक लहर से,
निशा बह गई डूबे तारे।
अश्रु बिंदु में डूब-डूब कर,
दृग तारे ये कभी न हारे।
दुख की इस जागृति में कैसे,
तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ ?
प्रिय तुम भूले मैं क्या गाऊँ
—आधुनिक कवि

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक भूमिका में भाव की संगुंफित अभिव्यक्ति, भाषा के लालित्य, संगीतात्मकता और चित्रात्मकता के गुणों के कारण चंद्र-किरण और आकाश गंगा के गीत वर्मा जी के श्रेष्ठ गीतकार के व्यक्तित्व के परिचायक है।

एकलव्य : एक नया मोड़ :—

यों तो वर्मा जी के प्रबन्धकार के व्यक्तित्व की सूचना हमें उनकी वीर हम्मीर, चित्तौड़ की चिता, जौहर आदि प्रबंधात्मक रचनाओं में प्रारम्भ में ही मिल जाती है, किंतु एकलव्य (सन १९५८) के प्रकाशन के साथ उनके महाकाव्यकार के व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। प्रकारांतर से प्रारम्भिक ऐतिहासिक वृत्तों पर आधारित प्रबंध-रचना की प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष एकलव्य में दिखाई देता है। 'एकलव्य' की कथा महाभारत

(सम्भव पर्व अ० १३२ । ३१ ६०) से ली गई है । एकलव्य १४ सर्गों में विभाजित है । इस रचना में वर्मा जी का उद्देश्य निषाद संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का उद्घाटन रहा है । उन्होंने महाभारत के एतद्विषयक सूत्रों से प्रेरणा प्राप्त करके उस युग की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में आचार्य द्रोण के अर्थ संकट और द्रुपद द्वारा उनके अपमान तथा एकलव्य के आशावाद को मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रदान की है । युग विशेष की सांस्कृतिक भूमिका, यथार्थ एवं आदर्श के समन्वय, अछूतोद्धार के उदात्त एवं क्रान्तिकारी दृष्टिकोण आदि अभिनव गुणों के कारण 'एकलव्य' आधुनिक महाकाव्यों में 'कामायनी' की परम्परा का क्रान्तिकारी महाकाव्य होते हुए भी अपना वैशिष्ट्य रखता है । उसके नायक की परिकल्पना कवि की मौलिक एवं उदात्त सामाजिक दृष्टि की परिचायक है । एकलव्य उच्च-कुलोद्भव न होकर भी उनके लिए आदर्श है । उसका शील, कर्तव्य परा-यणता, संघर्ष एवं आशावाद निश्चय ही भारतीय साहित्य के नायकों की परम्परा में एक महान् उपलब्धि है । एकलव्य के कथानक, संवाद, चरित्र-चित्रण, दृश्यविधान आदि में नाटकीय शैली का अनुकरण उसे और भी उत्कृष्टता प्रदान करने में सहायक हुआ है । एकलव्य के उपेक्षित कथानक एवं चरित्र को महाकाव्योचित गौरव प्रदान कर रामकुमार जी ने महाकाव्य की नायक विषयक परम्परागत मान्यताओं पर कुठाराघात किया है । इसके अतिरिक्त इस रचना के अन्तर्गत उन्होंने आधुनिक युग की परिस्थितियों में मानवता के मूल्यों को आंकने का यत्न किया है । बंगला के 'अमित्रा-क्षर' छंद के प्रयोग के कारण छंद-प्रयोग की दृष्टि से भी 'एकलव्य' का अपना महत्त्व है । एक संक्षिप्त उद्धरण देखिए—

राज-सभा शोभित है । शक्ति के अयांग में,
शोभा की छटा है । शिल्प जैसे ऋतुराज है ।
प्रस्तर-स्तम्भों में खिलाए पुष्प जिसने है,
कलियों की एक-एक पखड़ी है खिलती,
लतिका के बीच पुष्प, पुष्प बीच लतिका,
काव्य-बीच कल्पना है, कल्पना में काव्य है ।

एक एक प्रस्तर म ‍ात-शत चित्र है
निमल सरोवर मे, मच म या तरु म,
हस, क्रोंच, पारावत, कोकिल, मयूर है,
नारियो की शोभा-खिची शत-शत रूप मे।

—एकलव्य

रामकुमार जी के काव्य विकास को ध्यान मे रखते हुए उनकी रचनाओ को ऐतिहासिक एव वर्णनात्मक प्रबध, मुक्तक तथा गीतिकाव्यात्मक रचनाओ के अन्तर्गत रखा जा सकता है। गीतात्मक और प्रबंधात्मक दोनो ही प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करने की दृष्टि से छायावादी कवियो मे उनका व्यक्तित्व प्रसाद के अधिक निकट है। इस प्रसंग मे यह स्मरणीय है कि उनकी गीत रचनाएँ प्रबंध रचनाओ की तुलना मे अधिक सफल बन पडी है।

रहस्यवाद :—

खड़ी बोली के रहस्यवादी कवियो मे रामकुमार जी का विशिष्ट स्थान है। उन्होने छायावाद को रहस्यवाद की उदात्त भूमिका प्रदान की। अध्ययन की गंभीरता, कल्पना एव अनुभूति के सयोग के कारण इनकी रहस्यवादी रचनाएँ अत्यत सरस एवं प्रेषणीय बन गई है। उनके एतद्विषयक गीत प्रिय के रूप सौन्दर्य की उदात्त कल्पना, करुणा की छाया, प्रेम-विरह के मार्मिक चित्र प्रकृति के आवरण मे अत्यंत प्रभावशाली बन गए हैं। रहस्यानुभूति में आत्मानद की भावना चितन के धरातल पर अनेक मनोहर चित्रों के सृजन मे सहायक हुई है। इन गीतों मे रामकुमार जी की अब तक रहस्यानुभूति अधिकतर प्रकृति के सौदर्य, संसार की क्षणभंगुरता, करुणा एव निराशा के संदर्भों मे व्यक्त हुई है। इसके अतिरिक्त रहस्यवादी गीतो के अन्तर्गत उन्होंने प्रतीकों की भी सफल योजना की है। ब्रह्म को 'दीपक', आत्मा को 'किरण कण' माया को 'दीप शिखा' से निःसृत धूम्र, सूर्य को 'आध्यात्मिक चेतना' संसार को 'रात्रि' तथा वृत्तियों को 'शलभ' का प्रतीक मानते हुए प्रस्तुत गीत मे उन्होने आत्म व्यक्तित्व का कितना सुन्दर निरूपण किया है :—

एक दीपक किरण कण हैं

धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव प्रभा लेकर चला हूँ पर जलन के साथ हूँ मैं।
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
शलभ को अमरत्व देकर प्रेम पर मरना सिखाया।
सूर्य का संदेश लेकर रात्रि के उर में समाया।
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।

ऐसे ही अनेक प्रतीक उनके गीतों में सरलतापूर्वक खोजे जा सकते हैं। साथ ही वे हृदयस्थ दिव्य प्रेरणा के संधान में तन्मय दिखाई पड़ते हैं :—

एक वेदना विद्युत सी खिंच-खिंच कर घुस जाती है।
एक रागिनी चातक स्वर में सिहर सिहर कर गाती है।
कौन समझावे गान।
छिपा कोई उर में अनजान

वर्मा जी के रहस्यवाद पर कबीर के रहस्यवाद और रवीन्द्र की गीताञ्जलि का प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि वह आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों की भूमि पर विस्तीर्ण है, किन्तु उसमें कहीं भी सिद्धान्त प्रतिपादन का आग्रह नहीं दिखाई पड़ता। कबीर की रहस्यानुभूतियों से उत्प्रेरित होते हुए भी वर्मा जी के रहस्यवाद में उल्टवासियों की क्लिष्ट कल्पना के स्थान पर अनुभूति का निश्छल उद्वेग दिखाई पड़ता है। ऐसे गीतों में प्रकृति उनकी रहस्यभावना एवं उद्देश्य की विराटता का आवश्यक उपकरण बन कर आई है :—

मैं आज बनूँगा जलद जाल।
मेरी करुणा का वारि सींचता रहे अवनि का अंतराल॥
नभ के नीरस मन में महान् बन सरस भावना के समान
मैं पृथ्वी का उच्छ्वासपूर्ण परिचय हूँ बन कर अश्रुमाल।
हा! यहाँ सदा सुख के समीप दुख छिप कर करता है निवास।
अब किसी ओर चीत्कार न हो कहूँ न अब दुख से कराह।
मैं भूल गया हूँ कठिन राह।

किन्तु उनके गीतो मे प्रकृति का स्वावृत स्वरूप अधिकतर सुकुमार व्यजनाओ पर ही आधारित है।

प्रेम और रहस्यवाद के क्रोड़ में निराशावाद :—

रामकुमार जी के रहस्यवादी एवं प्रेमभावना प्रधान गीतो मे दुखात्मक अनुभूतियो तथा निराशावादी विचारो का समन्वय द्रष्टव्य है। अनेक गीतो मे उनके व्यक्तिगत अनुभव वेदना के अभिव्यंजक है।—

नश्वर स्वर मे कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार मे कैसे देखूं जीत ?

※

कह सकता है कौन, देखता हूँ मै भी चुपचाप।
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप॥

—अभिशाप

प्रारम्भिक रचनाओ मे वेदना और जिज्ञासा का जो स्वरूप स्फुरित हुआ था, वह परवर्ती रचनाओ 'रूपराशि' 'अजलि 'चित्ररेखा' और 'चद्र किरण' आदि मे उत्तरोत्तर विकसित होता गया है—

मै बैठा था भावों के क्षण पर गति थी कितनी भेद,
किन्तु न जाने बीत गई कब यह वियोग की रात।

※

तारे डूबे किंतु कथा उतनी ही विरल असख्य,
धूमिल सा बेसुध सा आया है यह व्यर्थ प्रभात।

—चद्रकिरण

किंतु रहस्यानुभूति पूर्ण गीतो के अन्तर्गत वेदना प्रियतम के मधुर रूप की कल्पना एवं उसके हास मे विलीन हो जाती है—

यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे से बादलों मे कौन सा मधुमास आया।
आँख से नीरव व्यथा के दो बडे आँसू बहे हैं,
सिसकियो मे वेदना के व्यूह ये कैसे रचे है!
एक उज्जवल तीर सा रवि-रश्मि का उल्लास आया॥

—चित्ररेखा

वर्मा जी के निराशावाद में बौद्धिक चेतना के दर्शन होते हैं कुछ गीतों में उनकी यही बौद्धिक चेतना निराशा के क्रोड़ में आशावाद को पल्लवित कर सकने में सहायक हुई है, जिसके कारण उनके काव्य में स्वस्थ जीवन-दर्शन का विधान सम्भव हो सका है—

मेरे सुख की किरन अमर।
मेरे जीवन नभ के नीचे जब हो अंधकार सागर।
तब तुम धीरे-धीरे से आ, फेनिल सी सजना सुखकर।
मेरे जीवन में जब आवे अंधकार के श्याम प्रहर।
तब तुम खद्योतों में छिप कर आ जाना चुपचाप उतर

—अंजलि

निराशावादी अभिव्यक्तियों के कारण उनके गीतों में करुण रस की निर्झरिणी का प्रवाह सम्भव हो सका है। रामकुमार जी की करुणा का भी स्वरूप विराट है। वह उनके व्यक्तित्व को 'अहं' में केन्द्रीभूत न करके सामान्य मानवीय अनुभूति के धरातल पर प्रस्तुत करता है।

गीतिकाव्य—

छायावादी गीतिकाव्य में रामकुमार जी के गीतों का विशेष महत्त्व है। उनके गीतों में भाव की प्रभावान्विति, संक्षिप्तता, संगीतमयता, कोमल कांत पदावली, अनुभूति की तीव्रता आदि गीतिकाव्य के आवश्यकीय गुणों का सफलता पूर्वक समावेश हुआ है। कल्पना संयुक्त आत्माभिव्यक्ति और आत्मसमर्पण की भावना ने गीतों की भाषा को अपूर्व प्रवाहमयता प्रदान की है। प्रतीकों की योजना ने सौंदर्य की कल्पना को सजीव एवं सुन्दर बनाया है। उनके गीतों में छोटे-छोटे भाव-चित्रों को सजाने की क्षमता दृष्टिगोचर होती है—

वियोगिनी यह विरह की रात।
आँसुओं की बूंद ही में बह गई अज्ञात।
कब मिले थे वे तुझे क्या है न कुछ भी याद ?
खोजती ही रह गई जग का बुझा सा प्रात।

अंधकार प्रशान्त था नभ में हृदय में और
तू न उसको पाकर जग में रही अज्ञात।

—आधुनिक कवि

वर्मा जी के गीतों पर यत्र-तत्र उर्दू की विरोधात्मक शैली का भी प्रभाव मिलता है, जिससे अभिव्यक्ति में प्रभावगत सौंदर्य आ गया है। गीतों में उनका चिंतनशील व्यक्तित्व भी मुखरित हुआ है। काव्यविकास के साथ रामकुमार जी के गीतों में भाव, भाषा, अभिव्यंजना आदि सभी दृष्टियों से प्रौढता आती गई है। उनके गीतों में अनुभूति का धरातल पर्याप्त विस्तीर्ण है। पीड़ा, दुख, विषाद, निराशा, उल्लास आदि सहज मानवीय वृत्तियों का उनके गीतों में सुन्दर निरूपण हुआ है। गीतों का शिल्प उनमें सन्निहित अनुभूति के अनुरूप ही है। अतः उनके अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्षों में एक संतुलन दृष्टिगोचर होता है। अनुभूति गीत की शैली का संधान स्वतः कर लेती है, अतएव वह आरोपित सी नहीं प्रतीत होती।

प्रकृति चित्रण -

छायावादी कवियों में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के समान डा० रामकुमार वर्मा के काव्य में अधिकतर प्रकृति उसका आवश्यक उपकरण बनकर आई है। उनकी प्रबंध और गीत दोनों ही प्रकार की रचनाओं में प्रकृति चित्रण काव्यरूपों की प्रकृति के अनुकूल हुआ है। प्रकृति के रूपचित्रण की मनोरम कल्पना एवं उसके चेतन रूप की व्यंजना राम-कुमार जी के प्रकृति-चित्रण की उल्लेखनीय विशेषता है। निर्झर, बसंत, पावस, इन्द्रधनुष, रात्रि, तारिकाओं आदि प्राकृतिक उपादानों ने उनकी कल्पना के कोष को सम्पन्न बनाया है। प्रबंध काव्यों में प्रकृति चित्रण अधिकतर पृष्ठभूमि तथा भाषा कथा-प्रवाह में भावजगत का निर्माण करने के ही उद्देश्य से हुआ है। किंतु गीतों में उसका विविध रूपों में प्रयोग परिलक्षित होता है। जहाँ कवि आत्मानुभूति एवं मानवीय चेतना के निदर्शन में यत्नशील दिखाई देता है वहाँ प्रकृति के चित्रण में उसका चिंतनशील व्यक्तित्व उभर आया है—

तरुवर के ओ पीले पात
किस आशा के तनु सम्हाले रहते हैं दिन रात ?
रात हो या कि प्रभात ॥
पतले एक हाथ से पकड़े हो तरुवर का गात ।
अन्य तुम्हारे स्वजन हरे रंगों का ले परिधान ।
हँसते है पीले पत्त पर क्या मर-मर कर गान ?
सुनते हो चुपचाप अन्य पत्रो का यह अभिशाप ।
उनका है आनन्द तुम्हारा यह विस्मय संताप ।
गिर जाना भू पर समीर मे, हिल-डुल कर इस बार ।
दिखला देना पत्रो को उनका अंतिम संसार ।

प्रकृति के मानवीकरण द्वारा दृश्य चित्रों को सजाने मे वर्मा जी सिद्धहस्त है। ऐसे गीतो मे उनकी कल्पना का उद्वेग, भावना को तीव्रता प्रदान करता हुआ प्रवाहमयता एवं संगीतात्मकता का युगपत सन्निवेश करने मे विशेष सफल हुआ है। प्रस्तुत गीत मे तारिकाओ एवं ओस कणो से सुसज्जित रात्रि की बाला का चित्रण कितना सजीव बन गया है—

इस सोते संसार बीच सज जग कर रजनी बाले ।
कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन सो रही है उत्सुक आँखे सारी ।
मत कुम्हलाने दो सूनेपन मे अपनी निधियाँ सारी ॥
निर्झर के निर्मल जल मे गजरे हिला-हिला कर धोना ।
लहर-लहर कर यदि चूमे तो किंचित विचलित मत होना ॥
होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित लहरो ही मे लहराना ।
लो मेरे तारों के गजरे निर्झर स्वर मे यह गाना ॥
यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय न मोल करे ।
तो फूलों पर ओस रूप मे बिखरा देना ये गजरे ॥

—चित्ररेखा

प्रकृति के छायाचित्र खींचने मे भी वर्मा जी सिद्धहस्त है। गीतस्थ भाषा की प्रवाहमयता मे वस्तुस्थिति का पूरा चित्र उभर आता है, उन्हे

किसी अन्य भाव का आवश्यकता नहीं पड़ती—

मेघों का यह मंडल अपार।
जिसमें तम पड़कर एक बार ही
कर उठता है चीत्कार।
ये काले-काले भाग्य अंक
नभ के जीवन में लिखे हाय।
यह अश्रु बूँद भी सरल बूँद सी
आज बनी है निराधार।
यह पूर्व दिशा जो थी, प्रकाश,
जननी छविमय प्रभापूर्ण
निज मृत शिशु पर रखकर नमित माथ
बिखराती घन केशान्धकार

—चित्ररेखा।

भाषा, अलंकार और छन्द :—

भाषा के सम्बन्ध मे रामकुमार जी विशुद्धतावादी दिखाई पड़ते है। उनकी काव्य-भाषा में संस्कृत की तत्सम शब्दावली की प्रधानता मिलती है। किन्तु प्रबन्ध और गीत दोनों ही प्रकार की रचनाओं मे भाषा प्रवाहमयता एवं चित्रात्मकता के गुणों से युक्त है। उसमे अरबी, फारसी और जनपदीय बोलियों के शब्दों का प्रयोग विरले ही हुआ है। अन्य छायावादी कवियों की भाषा की अपेक्षा उनकी भाषा प्रेषणीय है। यही कारण है कि प्रतीकात्मकता एवं लाक्षणिकता के फलस्वरूप भी भाषा कहीं भी सजीवता का परित्याग नहीं करती। भाषा को सौंदर्य प्रदान करने के लिए उसे अलंकारों से सुसज्जित करना उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनके काव्य मे अलकारों का प्रयोग भावोद्दीपक के ही रूप मे हुआ है। प्रस्तुत गीत मे प्रयुक्त सादृश्य-मूलक अलंकारों मे यह स्पष्ट हो जायेगा :—

तारे नभ मे अंकुरित हुए
जिस भाँति तुम्हारे विविध रूप मेरे मन मे सचरित हुए।।
यह आभा है क्या कुछ मलीन

पर अंधकार से किरण गान
मुझमें मिलकर हैं स्वरित हुए
देखो इतना है लघु विकास,
मेरे जीवन के आसपास
पर सघन अँधेरे के समान ही
दूर दैन्य दुख दुरित हुए

*

वारिधि के मुख में रखी हुई,
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास।

उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग अधिकतर भाषा की परिष्कृति दृष्टि, नाद संसार की परिव्याप्ति, चमत्कार प्रवणता, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, भावतीव्रता अथवा वस्तु जगत में प्रच्छन्न भाव को विभिन्न दृष्टियों से उभार-कर गति प्रदान करने के उद्देश्य से हुआ है।

रामकुमार जी ने छंद को काव्य का अनिवार्य उपकरण माना है। उनके विचार में कविता को हृदयस्पर्शी बनाने के लिए उसका छंदबद्ध होना आवश्यक है। छंद की लय से भाव उद्दीप्त होते हैं। गीतों में संतुलित पद-विन्यास एवं विविध छंदों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इससे उनके काव्य में नादात्मक सौंदर्य पग-पग पर स्फुरित हुआ है। गीतों की सीमित परिधि के छंद-बन्धन के साथ ही भावोर्मियों का आविर्भाव और शमन जिस पूर्णता के साथ होता है वह वर्मा जी के छंद-अधिकार का परिचायक है। प्रबन्ध-काव्यों में वस्तु निर्वाह, भाषा की प्रवाहमयता एवं कथोपकथनों के अन्तर्गत उन्हें छन्द-विधान में अपूर्व सफलता मिली है। एकलव्य का प्रस्तुत उद्धरण देखिए :—

महाराज ने हटा ली दृष्टि उस भेंट से,
मैंने कहा 'लीजिए न तुच्छ भेंट फल की।
फल उस पेड़ के हैं, जो न लगा मुझसे,
आपने लगाया था, नवीन आल बाल में,
यह तो अवश्य ही स्मरण होगा आपको।

सींचा उसे नि य कर कम
बस शान्त हो।'
महाराजा ने विचित्र क्षुब्ध कंठ से कहा
विप्र ! व्यर्थ बातों के लिए न अवकाश है।
—एकलव्य

रामकुमार जी ने छंदों के नए प्रयोग भी किए हैं। 'एकलव्य' में बंगला के 'अमित्राक्षर' छंद का किंचित परिवर्तन के साथ प्रबन्धोचित प्रयोग पर्याप्त सफल कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्तक रचनाओं के अन्तर्गत पद शैली प्रयोग से गीतिमयता की सृष्टि हुई है।

अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्षों की प्रौढता, कल्पना की उन्मुक्त उड़ान, संवेदनशीलता, लाक्षणिकता, भावों की गहनता, नाद सौंदर्य, चित्रात्मकता, ध्वनि, गेयता, प्रवाहमयी भाषा का माधुर्य आदि दृष्टियों से रामकुमार जी की रचनाएँ खड़ी बोली काव्य की परम्परा में श्रेष्ठ स्थान की अधिकारिणी हैं। इतिवृत्त प्रधान ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीयता विषयक रचनाओं से लेकर छायावाद की प्रतिनिधि गीति काव्यात्मक [illegible] तक एवं 'एकलव्य' महाकाव्य की रचना तक उनके काव्य-विकास की रेखायें स्पष्ट है। वर्मा जी ने अन्य छायावादी कवियों के समान खड़ी बोली हिंदी काव्य को गीतियों की अभूतपूर्व राशि से सम्पन्न बनाया। 'एकलव्य' की रचना द्वारा महाकाव्य की परम्परागत मान्यताओं पर कुठाराघात करके एतद्विषयक नवीन आदर्श की स्थापना की। छायावाद को रहस्यवाद की दिव्य एवं उदात्त भूमिका प्रदान करने में उनका योग असंदिग्ध है। छायावादी काव्यादर्शों के अनुसरण के फलस्वरूप भी उन्होंने काव्य और भाषा को अपूर्व प्रेषणीता एवं संगीतमयता से संयुक्त किया है।

[illegible] युगपत स्वरूप अन्य छायावादी कवियों के काव्य में नहीं मिलता।

रामधारी सिंह दिनकर

विश्वनाथ मिश्र

दिनकर जाग्रत पुरुषार्थ के कवि है और उनकी रचनाओ मे यौवन के उद्दाम वेग का स्वर अनेक राग-रागिनियो मे मुखरित हुआ है। उन्होंने अपनी गिराओ मे पौरुष के आवेग का जब सर्व प्रथम अनुभव किया था, तो हमारे देश मे अंग्रेजी साम्राज्यवाद का दमन-चक्र चल रहा था, और उसी के प्रति तीव्र आक्रोश की भावना को लेकर उन्होने अपना कवि-जीवन आरम्भ किया। यह आक्रोश शीघ्र ही विद्रोह की भावना मे परिवर्तित हो गया; और वे जनसाधारण को देश के प्रति अपने कर्तव्य की ओर सजग करने के लिए, उद्‌बोधन गीत गाने लगे। उनकी आँखो मे मनुष्य के मगल-मय भविष्य का बडा मनोहर स्वप्न था और अपनी वाणी के सहारे वे उसे जन-जन के मन मे प्रतिष्ठित करने के लिए सचेष्ट हो गये। यौवन के उन प्रथम क्षणों मे कभी-कभी उनका कवि, इस सामाजिक चेतना के स्थान पर अपने मन की बात भी कहने लगता था। इस मनःप्रसग मे कभी प्राकृतिक शोभा का अभिनन्दन, कभी लौकिक अनुराग की भावना का अभिव्यजन और कभी समस्त विश्व मे परिव्याप्त किसी रहस्यमयी सत्ता के प्रति आत्म-निवेदन होता था। कुछ समय तक दिनकर के मन मे यह द्वन्द्व भी चलता रहा कि वे अपनी रचनाओ मे अपने मन की कथा कहें या समाज के दुख-दर्द, हर्ष-उल्लास, स्वप्न कल्पनाओ को वाणी दें : इस संघर्ष मे उनकी सामाजिक चेतना ही बलवती रही, अपने मन की बात तो

व्यक्ति के स्वाधान होने के कई बार अपनी अभी अभी प्रकाशित रचना उर्वशी में, खुल कर कह पाये हैं। दिनकर के मन में, व्यक्तिगत एवं सामाजिक चेतनाओं को लेकर, जो संघर्ष चला है उसका एक सुपरिणाम भी हुआ है। कवि के साथ साथ वे विचारक भी हो गए हैं और उससे उनकी काव्य-रचनाओं में गंभीरता आयी है।

दिनकर के उदय की वेला में हमारा स्वाधीनता आन्दोलन निरन्तर घनीभूत होता जा रहा था। साहित्य के क्षेत्र में उन दिनों छायावाद का शासन था; और उसकी स्वच्छन्दतावादी वृत्ति को लेकर काव्य-जगत में, जीवन की भावना एवं कल्पना में अनुरंजित, वायवी इत्यादि उपस्थित की जा रही थी। काव्य की इस धारा की सबसे बड़ी दुर्बलता समकालीन सत्य की उपेक्षा थी, और इसी लिए स्वयं इसके उन्नायक निराला और पंत, जन साधारण का विदेशी शासन के अन्तर्गत प्रतिदिन बढ़ती हुई हीनता एवं दरिद्रता को देखकर, अपनी वायवी वृत्तियों को छोड़कर, धरती की व्यथा की कथा कहने लगे। प्रसाद जी ने भी अपने नाटकों, उपन्यासों एवं कहानियों में सामान्य मानव के दुख-दर्द को वाणी देना आरम्भ किया। किन्तु छायावाद के कुहासे को पूर्णत: चीरकर जन साधारण के मन की पीड़ा एवं विद्रोह-भावना को जन-भाषा में ही प्रस्तुत करने का श्रेय तो दिनकर को ही है। दिनकर जी की कुछ प्रारम्भिक रचनाओं पर भी छायावाद की छाप है; किन्तु अपने आलोक से वे उसे शीघ्र ही विच्छिन्न कर, समाज को गति देने वाली रचनाएँ प्रस्तुत करते हुए, प्रगतिशील काव्य-धारा के प्रवर्तक हुए।

दिनकर का हिन्दी काव्य क्षेत्र में अवतरण इस प्रकार आरम्भ से ही अपने नामानुसार आलोकधन्वा कवि के रूप में हुआ। उनकी रचनाओं से ही हिन्दी काव्य-धारा में प्रगतिवाद का क्रम आरम्भ हुआ। प्रगतिवाद, अपने मूल रूप में, लोक जीवन की स्वीकृति, उसकी दुर्बलताओं की पहिचान और फिर उन्हें मिटा कर समाज को गति देने का दर्शन है। दिनकर ने उसे इसी रूप में ग्रहण किया है; और फिर उसे आधुनिकता से अनुप्राणित करने के लिए गाँधीवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद सभी के प्रगतिशील

तत्वों से ओत-प्रोत किया है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना और आवश्यक है कि दिनकर, अधिकांश प्रगतिवादी कवियों की भाँति, दर्शन के लोक से बुद्धि का पथ ग्रहण कर के, काव्य-जगत में नहीं आये हैं, वरन् स्वयं जीवन की कटु वास्तविकताओं ने उन्हें भाव विभोर कर के इस दिशा में अग्रसर किया है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि वे मृत्तिका का तिलक लगाकर, अन्तः प्रेरणा से, अम्बर को छोड़, धरा का गीत गाने की ओर अग्रसर हुए। सुर के समक्ष भी उन्होंने मनुष्य की पूजा की और उसकी महिमा के बलग्र पृष्ठ लिखे। दिनकर की किरणों का प्रकाश इसीलिए 'चित्राधार' 'अनामिका' 'वीणा' आदि के रूप में नहीं, वरन् 'रेणुका' में बरसता हुआ देखने को मिला।

दिनकर के प्रथम काव्य-संग्रह 'रेणुका' में हम उनके काव्य-दर्शन का पर्याप्त स्पष्टीकरण देखते हैं। आरम्भ के 'मंगल आह्वान' में ही उन्होंने उस विराट गायक से नया कवि-कर्म प्रदान करने का आग्रह किया है :

> कर आदेश फूँक दूँ शृंगी उठे प्रभाती राग महान।
> तीनों काल ध्वनित हों स्वर में जागे सुप्त भुवन के प्राण।
> गत विभूति भावी की आशा ले युग धर्म पुकार उठे।
> सिंहों की घन-अंध-गुहा में जागृति की हुंकार उठे॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि छायावाद के कल्पना-कुञ्ज से वास्तविक जगत की ओर अग्रसर हो रहा है। धरती की ओर उन्मुख यह काव्य-दर्शन 'कविता की पुकार' में और भी स्पष्ट हुआ है :

> आज न उड़कर नील कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी।
> आज चमेली में न चन्द्र किरणों से चित्र बनाऊँगी।
> अधरों में मुस्कान न लाली वन कोपल में छाऊँगी।

*

> विद्युत छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश।
> तुम गाँवों के बनो भिखारी मैं भिखारिणी का लूँ वेश।

इसी रचना में कवि ने, राजवाटिका छोड़ कर, वनफूलों की ओर जाने का भी निश्चय किया है। नागरिक जीवन की कृत्रिमता से विमुख होकर,

गाँवों की सहज शोभा की ओर उन्मुख होने का यह दर्शन, गांधी जी की प्रेरणा से प्रसूत प्रतीत होता है। समाजवाद के परिवर्तनवादी एवं साम्यवाद के उग्र क्रान्तिकारी दृष्टिकोणों को भी दिनकर ने अपने प्रारम्भिक काल में ही स्वीकार कर लिया था; तभी तो उन्होंने काव्य-शक्ति का आवाहन करते हुए लिखा —

> क्रान्ति धात्रि कविते! जागे उठ आडम्बर में आग लगा दे।
> पतन पाप पाखंड जले, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे॥

कवि का यह काव्य-दर्शन उनकी आगे की रचनाओं में और निखरा है। 'हुंकार' की एक रचना में कवि ने अपने को सौरमंडल का ज्योतिर्धर कवि एवं विभा पुत्र कहा है; और जग को अपना अक्षय आलोक दान करने की घोषणा की है।

दिनकर ने वास्तव में अपनी रचनाओं के द्वारा, हिंदी कविता को, मनोजगत के रहस्यलोक से निकाल कर, सामान्य जीवनधारा के आलोकमय पथ पर अग्रसर किया। नागरिक जीवन की कृत्रिमता से मुँह मोड़ कर, भावुक प्रकृति के सौन्दर्यवश कवि दिनकर ने जब सर्व प्रथम भारतीय ग्रामों की ओर दृष्टि उठाई तो उनका मन, उनकी नैसर्गिक शोभा से आह्लादित हो उठा। अपनी जन्म-भूमि की शोभा में भाव-विह्वल होकर उन्होंने लिखा :—

> मेरे खेतों की छवि महान
> अनिमंत्रित आ उर में अजान
> भावुकता बन लहराती है
> फिर उमड़ गीत बन जाती है

गाँवों में चारों ओर प्राकृतिक शोभा का विस्तार देखकर उनके मन की कविता का स्फूर्तिमय रूप भी दर्शनीय है —

> धान की पी चन्द्रधौत हरीतिमा, आज है उन्मादिनी कविता परी।
> दौड़ती तितली बनी वह फूल पर, लोटती भू पर जहां दूर्वा हरी॥

इन पंक्तियों में छायावादी कवि पंत जैसे प्रकृति-प्रेम की स्पष्ट झलक

है। दिनकर की प्रकृति-परक रचनाओं में एकआध स्थल ऐसे भी है, जिनमें वे रहस्यद्रष्टा हो उठे है :

चन्द्रिका किस सुन्दरी की है हँसी, दूब यह किसका अनन्त दुकूल है।
किस परी के प्रेम की मधु-कल्पना, व्योम में नक्षत्र वन में फूल है ॥

किन्तु प्रत्यक्ष-जगत के स्थितिप्रज्ञ कवि दिनकर इस रहस्य-कुञ्ज मे अधिक नहीं रम सके, उनकी दृष्टि गाँवों की प्राकृतिक शोभा देखते-देखते ग्रामीणों के कष्टमय जीवन की ओर भी गयी। उन्हें गांवों के कृषक ही नहीं, नगरों के सामान्य लोग भी दुख दारिद्र्य से ग्रस्त दिखायी दिये, और तब एक बार उनके मन में पलायन का भाव भी जागा :

मैं न रुकूँगा इस भूतल पर जीवन यौवन प्रेम गवाँकर।
वायु उडाकर ले चल मुझको जहाँ कहीं इस जग से बाहर ॥

'पाटलिपुत्र की गंगा' को सबोधित करते हुए, उन्होंने अतीत में रत होने की इच्छा की; किन्तु इस अतीत-दर्शन ने ही उन्हे, अपनी मज्ञानता का बोध करा कर, वर्तमान जीवन की विक्षुब्ध धारा को क्रान्ति की ओर उन्मुख करने की प्रेरणा प्रदान की। फिर तो इस क्रान्ति के दर्शन ने उनके समग्र जीवनदर्शन को परिवर्तित कर दिया। उनके प्रकृति-दर्शन, इतिहास-दर्शन एवं काव्य-दर्शन सभी क्रान्ति-परक हो गये। दिनकर का यह व्यापक क्रान्ति दर्शन उनके 'हिमालय' शीर्षक सम्बोधन-गीत मे बड़े सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

दिनकर का विद्रोही रूप उनके दूसरे काव्य-सग्रह 'हुंकार' में बड़े उभरे एवं सबल रंग मे प्रकट हुआ है। उन्होंने अपने इस सग्रह की रचनाओं में, वर्तमान जीवन की उन परिस्थितियों का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, जिन्होंने उन्हें क्रान्ति का गान गाने की प्रेरणा दी है। भारतीय किसान के कष्टमय जीवन की गाथा का दिग्दर्शन 'हाहाकार' में है। इसी रचना में कवि ने दूध के लिए तड़प कर मर जाने वाले बच्चों की कब्रों से 'दूध-दूध' की हृदय-द्रावक सदा को सुना है

कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है।
'दूध-दूध!' की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है ॥

दूध-दूध । ओ वत्स मदिरा के बहरे पाषाण कहाँ हैं।
'दूध-दूध !' तारे बोलो इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं।

*

हटो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
'दूध-दूध !' ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि दिनकर ने वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति का दर्शन, मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन के ग्रन्थों से नहीं, वरन स्वयं जिन्दगी की पाठशाला से ग्रहण किया है।

दिनकर का यह क्रान्ति का दर्शन 'हुंकार' की कई रचनाओं में सप्तम के स्तर तक पहुँचा हुआ,सुनने को मिलता है। 'विपथगा' में उन्होंने क्रान्ति का मानवीकरण करके आत्मकथात्मक शैली में उसके उद्भव और विकास की कथा प्रस्तुत की है। क्रान्ति ने विपथगामिनी के रूप में अपना आत्म परिचय दिया है। तलवार की झंकार ही उसके पायलों का स्वर है, बिजली का कड़कना ही उसका अपना उग्रनाद, अँगड़ाई उसकी भूचाल है और साँसें उन्चास पवन। उसका शृङ्गार भी बड़ा ओज पूर्ण है।

मेरे मस्तक के छत्र मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शतफन।
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चन्दन।
आँजा करती हूँ चिताधूम का दृग में अन्ध-तिमिर-अंजन।
संहार लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन।

इस भयंकर प्रसाधन के साथ उसने-अपने उद्भव की भी रहस्यमय कथा कही है। उसे स्वयं यह ज्ञात नहीं रहता कि वह किस रोज और कहाँ अवतरित होगी; किन्तु जब वह मिट्टी से जागती है तो अम्बर तक आग लगाती चली जाती है। जीवन की कौन सी परिस्थितियाँ, उसके यौवन को सजग करती हैं, उनके सम्बन्ध में वह निश्चित है।

पौरुष की वेदी डाल पाप का अभयरास जब होता है।
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है।
धन के विकास का बोझ दुखी दुर्बल दरिद्रजन ढोता है।
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है।

सहती सब कुछ मन मार प्रजा कसमस करता मेरा यौवन।

उसका आमन्त्रण कब होता है यह भी उसने बताया है।

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों में रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमंत्रण !

आगमन के अनन्तर इस आमंत्रण पर उसका अद्भुत पुरुषार्थ भी दर्शनीय है :

असि के नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ,
थर-थर करते कानून न्याय इंगित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से मैं अपने पग धुलवाती हूँ।

क्रान्ति का ऐसा ही ओज पूर्ण रूप दिनकर ने उसे 'दिगम्बरी' कह कर संबोधित करते हुए भी प्रस्तुत किया है। दिनकर जी ने क्रान्ति के इस विध्वंसमय स्वरूप के साथ उसके निर्माण के पक्ष, निश्चित उद्देश्य की ओर भी संकेत किया है। क्रान्ति का लक्ष्य उन्होंने साम्य भावना की स्थापना माना है : उनका क्रान्तिकारी आज के मानव को विशेष दिशा की ओर उन्मुख करना चाहता है :

आज कम्पित मूल क्यों संसार का
अर्थ का दानव भयाकुल मौन है
झोपड़ी हँस चौंकती यह आ रहा
साम्य की वन्शी बजाता कौन है ?

पश्चिम से आई हुई साम्यवादी भावना का मोहन की वन्शी के रूप में यह भारतीयकरण, वास्तव में अनुपम है।

क्रान्ति के निर्माण के पक्ष को 'सामधेनी' की रचनाओं में दिनकर जी ने और सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। इस संग्रह की अधिकांश रचनाएँ तो उन्होंने युगेद्धा कवि के रूप में स्वाधीनता-यज्ञ के लिए समिधा जुटाने को

उद्बोधन-गान के रूप में लिखी है। किन्तु कुछ रचनाओं में नयी व्यवस्था का दर्शन भी है। इस संग्रह में सर्वप्रथम उन्होंने आज की रुग्ण मानवता का भली प्रकार परीक्षण करके उसके विकार को स्पष्ट किया है :

> स्थूल देह की विजय आज, है जग का सफल बहिर्जीवन,
> क्षीण किन्तु आलोक प्राण का, क्षीण किन्तु मानव का मन,
> अर्चा सकल बुद्धि ने पायी, हृदय मनुज का भूखा है,
> बढ़ी सभ्यता बहुत किन्तु, अन्तः सर अब तक सूखा है।

इसके अनन्तर रोग का निदान बताया है :

> दावानल सा जला रहा नर को अपना ही बुद्धि अनल।
> भरो हृदय का शून्य सरोवर, दो शीतल करुणा का जल।

'कलिंग विजय' इस संग्रह की सबसे सशक्त रचना है और उसमें की अशोक की चिन्ता धारा के माध्यम से, दिनकर जी ने, हृदय में उदात्त वृत्तियों के जागरण से, विक्षुब्ध मानव को शान्ति लाभ करते हुए उपस्थित किया है।

दिनकर जी की रचनाओं में इस प्रकार क्रान्ति के नाश और निर्माण दोनों के स्वर मुखरित हुए हैं किन्तु कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि उनके अशोक की भाँति, पायलों की मृदुल झनकार को सुनकर उनके हाथों से भी तलवार स्वयं गिर गयी है, और तब उन्होंने अपनी सौंदर्य-चेतना को वाणी दी है। जब उनके अधरों पर 'हुंकार' के प्रबल स्वर जागृत हो रहे थे, तब भी उनके मन में कभी-कभी सौंदर्य को आत्म-समर्पण की आकांक्षा उठती थी :

> मेरे भी यह चाह विलासिनि सुन्दरता को शीश झुकाऊँ
> जिधर जिधर मधुमयी बसी हो उधर वसंतनिलयवन छाऊँ।

किन्तु उन दिनों जनता के दुख-दर्द की बात उनके मन में अधिक कसक रही थी, इसीलिए उन्होंने लिखा :

> पर नभ में न कुटी बन पाती मैंने कितनी युक्ति लगाई
> आधी मिटती कभी कल्पना, कभी उजड़ती बनी बनाई।
> रह रह पंख हीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में
> झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न-राज्य के आँसू जल में।

लेकिन जन साधारण की सुख-सुविधा के लिए वाणी के सहारे उत्कट संघर्ष करते-करते थक कर यदा-कदा वे सौन्दर्य का अवलम्ब भी ग्रहण करते रहे, और अपने जीवन के उन एकान्त क्षणों में उन्होंने उसके अभिनन्दन की रचनाएँ भी लिखी। 'रसवन्ती' में ऐसी ही कविताएँ संग्रहीत है। उसमें उन्होंने अपनी प्रथम सौन्दर्यानुभूति का भी स्मृति-चित्र दिया है :

याद है वह पहला मधुमास कोरकों में जब भरा पराग
शिराओं में जब तपने लगी अर्ध परिचित सी कोई आग।

इसी सौन्दर्य-चेतना को लेकर कवि ने नारी को प्रकृति का सब से मनोहर रूप स्वीकार किया है और उसके आगे पुरुष को भिक्षुक की भाँति परम विनीत एवं प्रार्थना में लीन देखा है :

खिली भूपर जब से तुम नारि! कल्पना-सी विधि की अम्लान
रहे फिर तब से अनु अनु देवि! लुब्ध भिक्षुक से मेरे गान।

'बालिका से वधू' में कवि ने यौवन के जागरण की वेला में नारी के शरीर, मन एवं जीवन का बड़ा मोहक विवरण प्रस्तुत किया है। 'पुरुष प्रिया' में नारी के आगे पुरुष की सत्ता में होती आयी पराजय का चल-चित्रात्मक चित्रण है। 'गीत-संगीत' में जीवन के मधुर स्वरूप में प्रणय के मौन को अधिक मर्मस्पर्शी दिखाया गया है। इस संग्रह की सबसे उत्कृष्ट रचना 'छाया की कोयल' है और उसके माध्यम से कवि ने यह संकेत किया है कि उसका यह प्रयाण-गान वस्तुत ग्रीष्म के प्रखर ताप जैसे युग के वातावरण में कोकिल के मधुर गीत के समान है : इस मन्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्हें युग के सामान्य स्वर में अपने स्वर का अलग होना अरुचिकर लग रहा हो।

दिनकर वस्तुत द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व के कवि है . उनका कवि प्रसाद के नाटकों के नायकों की भाँति, एक कान से नूपुरों और दूसरे से तलवारों की झनकार सुनता है। उनके व्यक्तित्व की यह द्विधा वृत्ति 'द्वन्द्व-गीत' की रचनाओं में बड़ी स्पष्ट है। इस संग्रह की कुछ रचनाओं में सामाजिक चेतना को और कुछ में आत्मगत अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है। कुछ ऐसी भी है जिनमें इन दोनों वृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाशन है। किन्तु

इस संग्रह की मुख्य चेतना धारा लौकिक और आध्यात्मिक चेतनाओं के बीच का संघर्ष है, जिसमें कवि ने विशेष रूप से अध्यात्म पर बल दिया है। अध्यात्म को विशेष महत्त्व देने के कारण ही कवि अनेक स्थलों पर रहस्यवादी हो गया है। रहस्य-दर्शन में आत्मलीन दिनकर के मन का एक पृष्ठ देखिए :

देखे तुम्हें किधर से आकर नहीं पंथ का ज्ञान हमें,
बजती कहीं बाँसुरी तेरी बस इतना ही भान हमें।

एक स्थल पर तो कवि ने जायसी की भाँति प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को इस अदृश्य सत्ता से विलग हो जाने के कारण शोक विह्वल देखा है :

तारे लेकर जलन मेघ आँसू का पारावार लिये,
संध्या लिए विषाद, पुजारिन ऊषा विकल उपहार लिये।
हँसे कौन ? तुमको तजकर जो चला वही हैरान चला,
रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये।

यह ऊर्ध्व चेतना का राग, लोक-जीवन के प्रति विशेष सजग दिनकर में कुछ विचित्र-सा लगता है, किन्तु अब के छिन्न-व्यक्तित्व के युग में एक ही व्यक्ति में विरोधी प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है।

दिनकर चिर प्रवाहमान व्यक्तित्व के कवि रहे हैं; इसी लिए उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर काव्य-धारा को कई नये मोड़ दिये हैं : 'नीम के पत्ते' संग्रह की रचनाओं में उन्होंने इस देश के नये शासकों पर बड़े तीखे व्यंग किये हैं, 'नील कुसुम' में युग की साहित्यिक चेतना, प्रयोगशीलता को अभिव्यक्ति दी है, और 'धूपछाँह' में उनकी बच्चों के लिए लिखित रचनाएँ एवं कुछ विदेशी कविताओं के अनुवाद हैं। 'कुरुक्षेत्र' एक विचार-प्रधान काव्य है और उसमें महाभारत के बाद की पृष्ठभूमि को लेकर युधिष्ठिर की चेतना धारा एवं भीष्म पितामह के साथ उनके संवाद के सहारे आज के हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व का समाधान खोजा गया है। 'रश्मिरथी' में युग की प्रगतिशील भावधारा के अनुरूप कर्ण को एक महामहिम चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है : उसके चरित्र की गरिमा के सम्मुख धनुर्धर अर्जुन, धर्मराज युधिष्ठिर क्या स्वयं कृष्ण का

चरित्र भी होता है। कर्ण के चरित्र की गरिमा मंडित करके उस कवि ने अपनी पहल का, सुर के समक्ष नर की महिमा का वलक्ष्य पृष्ठ लिखने की प्रतिज्ञा, पूरी की है। नवीनतम कृति 'उर्वशी' में पुरुष एवं स्त्री के पारस्परिक आकर्षण का मनोरम प्रसङ्ग है। इसमें प्रेम के मनोविज्ञान का बड़ा सूक्ष्म उद्घाटन है तथा लौकिक स्नेह की भावना को, अध्यात्म के स्तर पर उठाकर, परमानन्द की अनुभूति जगाने वाला भी सिद्ध कर दिया गया है। कवि का मनः प्रसग इस कथा-काव्य में ही पूर्णता के साथ अभिव्यक्त हो सका है। किन्तु इसमें भी प्रत्येक पग पर उनकी लोक-चेतना सजग है।

दिनकर को इस अध्ययन के आधार पर आत्मगत एवं लौकिक, दोनों प्रकार की चेतनाओं से सम्पन्न कवि कहा जा सकता है। उनकी काव्य-रचनाओं में विद्यापति की शृङ्गार भावना, भूषण की ओजपूर्ण वाणी और तुलसीदास के लोकमंगल के आदर्श को अभिव्यक्ति मिली है। विप्लव के गायक के रूप में उनका हिंदी काव्य में वही स्थान है जो बंगला काव्य में काजी नजरुल इस्लाम का है। छायावादी कवियों का प्रकृति प्रेम और रहस्यदर्शन भी उनमें कुछ स्थलों पर दर्शनीय है। इतने व्यापक भावजगत के साथ उनकी रचनाओं का कला-पक्ष भी पर्याप्त विस्तृत और पुष्ट है। अपनी मौलिक प्रतिभा के स्पर्श से उन्होंने काव्य-भाषा, छन्द-विन्यास, मुक्त अभिव्यजनाविधान, सौन्दर्य-साधक-तत्वों सभी में नवीनता की सृष्टि की है। आधुनिक हिंदी को, काव्यात्मक भाषा बनाने का जो प्रयास, छायावादी कवियों ने, उसे, स्नेह के विभिन्न स्वरूपों की अभिव्यक्ति के लिए, कोमलकान्त बनाकर प्रारम्भ किया था, दिनकर ने अपनी ओजस्विनी शक्ति के संयोजन से उसे आगे बढ़ाया है। दिनकर का कवि रूप इतना उदात्त होते हुए भी, उनकी सामाजिक चेतना को लेकर लिखित रचनाओं में समय का स्वर अधिक है। अपने मनःप्रसग को लेकर उन्होंने 'उर्वशी' के रूप में ताजमहल तो खड़ा कर दिया, किन्तु आज का युग तो भाखड़ा-नागल का है।

●

हरिवंश राय 'बच्चन'

धर्मराज सिंह

साहित्यकार अपने परिवेश के अनुभूत सत्य को उद्घाटित कर परंपरागत मूल्यों को नये जीवन में संदर्भित करता है। साथ ही युग के प्रत्येक कवि या साहित्यकार का उद्देश्य अपने साहित्य को एक उच्चतम एवं सम्मानित रूप देने का होता है। कवि 'बच्चन' के नेतृत्व में प्रचलित काव्य-धारा को सशंकित दृष्टि से देखा जाने लगा था। किन्तु साहित्यिक बंधन साहित्य के स्वाभाविक विकास की मौलिकता को समाप्त कर देता है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में किसी प्रकार का बंधन मान्य नहीं है। प्रस्तुत कवि में अपार वेदना का स्रोत जब हृदय में नहीं समा सका तो वह अपने उसी रूप में काव्य में व्यंजित होकर दूसरों के हृदय पर भी वैसा ही आघात करने लगा है। इसी लिए उनके गीतों की लोकप्रियता सर्वाधिक है। आत्मानुभूति की इस निश्छल अभिव्यक्ति में भी एक सहज काव्य-गुण वर्तमान है। इस काव्य-गुण का सबसे बड़ा गुण है—सहज आकर्षण। काव्य की इसी विशेषता ने इन्हें समकालीन कवियों पन्त, महादेवी, निराला आदि के उत्कर्ष काल में भी विशेष रूप से नवयुवक साहित्य-प्रेमियों की ओर से अभिनंदनीय बना दिया।

'बच्चन' को 'हालावादी' कह करके साहित्यिकों ने उन्हें बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से परखा है। उनके साहित्य की वास्तविक परख तो तब होगी, जब इसका अध्ययन उनके जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में रखकर किया

जायेगा। कवि ने मधुशाला, हाला या प्याला का उपमान शराबी वातावरण निर्माण के लिए नहीं ग्रहण किया है अपितु उनकी 'हाला' में सवर्पवाद की धारा प्रवाहित है, उसमें साम्यवाद और समाजोत्थान का स्रोत निहित है। 'हाला' की कल्पना उनके दुःखमय जीवन को विस्मृत करने में विशेष सहायक तथा अन्तर और बाह्य के सामंजस्य में अधिक सफल सिद्ध हुई है। 'बच्चन' के अनुसार कविता की मुख्य प्रवृत्ति वेदनानुभूतियों की सरल एवं निश्छल अभिव्यक्ति है।[1] कवि की कविता में व्यक्त भाव परिपक्व अर्थात् अनुभूतिजन्य और अत्यन्त तरल है। 'मधुबाला' और 'मधुकलश' के गीत किस नीरस एवं कटु हृदय को कम से कम क्षण भर के लिए आकर्षित नहीं कर लेते? वह केवल आकर्षित ही नहीं होता, अपितु उसमें कवि के प्रति संवेदना और सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह की भावना भी प्रबल हो उठती है। यह बिलकुल सत्य है कि 'बच्चन' ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों से प्रेरित होकर ही 'स्व' को प्रकाशित किया है। फिर भी उनमें एक मानव समाज की विचारधारा सन्चित है। उनकी वाणी में वे ही विचार निकले है, जो कि उस परिस्थिति में पलने वाले प्रत्येक व्यक्ति की आवाज हो सकती है। 'मधुकलश' के तो अधिकांश गीत इस दृष्टि से उत्कृष्टतम सिद्ध हुये हैं। इनके पढ़ने से 'शेली' की उन्हीं पंक्तियों को याद आ जाती है, जिनमें करुणतम भावों की अभिव्यक्ति को ही सर्वाधिक मधुर कहा गया है।[2] इसीलिए तत्कालीन समाज में इन कविताओं का प्रबल समर्थन हुआ।

१—क—'गीत कह इसको न दुनियाँ यह दुखों की भाप मेरे।'

—मधुकलश, पृ० ४१

ख—'हाय मेरी विपुल निधि का गीत बस प्रतिकार..।'

—आकुल अन्तर, पृ० ३

ग—'खुलकर गीत गाते है, हृदय के भाव।'

—एकान्त संगीत, पृ० ७८

२. Our sweetest songs are those, That tell of Saddest thought"—Shelley.

मधुकलश के बाद की कविता तो मानो कवि के वैयक्तिक जीवन का इतिहास है। इसमें उसका तेज है, अभिमान है और है एक उच्छृङ्खल संघर्षमय जीवन की अभिव्यक्ति। उसने भाषा के माध्यम से अपने क्षत-विक्षत जीवन का रेखाचित्र खींचा है। उसने स्वयं कहा है—"बूझ दुनियाँ यह पहेली जान 'कुछ' मुझको सकेगी।" प्रारम्भिक रचनाओं से कवि ने समाज को निभाना चाहा है, उसके साथ चलना चाहा है किन्तु वह अपने इस विचार में सर्वदा असफल रहा। 'निशा निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' में कवि के विकल उर में निहित लगभग दो सौ उच्छ्वास हैं। 'मस्ती', 'बच्चन' की कविता का सबसे बड़ा गुण है।[१] उन्होंने जीवन में कभी हार नहीं मानी है। यह सत्य है कि हार जाने के बाद मार्ग में कुछ क्षणों के लिए बैठकर विश्राम कर लिया है किन्तु थोड़ी-सी भी शक्ति आने पर वे पुनः उसी संघर्ष के प्रवाह में बह चले हैं। आज के कवि जहाँ स्वस्थ मस्तिष्क से जीवन की परिभाषायें निर्मित कर रहे हैं, वहाँ 'बच्चन' की कविता स्वाभाविक रूप से जीवन की प्रतिच्छाया छोड़ती गई है। द्वितीय विवाहोपरान्त उनकी कविता की धुन, स्वर, लय, भाषा आदि में परिवर्तन आ गया है। सुखमय जीवन में सुखमय घड़ियों की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु इन कविताओं में भी उनके विगत अत्यन्त संघर्षमय जीवन का आभास यत्र-तत्र देखने को मिल जाता है। 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी', 'प्रणय-पत्रिका', और 'आरती और अंगारे' को इसके साक्ष्य में देखा जा सकता है।

कविता के आत्मिक स्वरूप के साथ-साथ कवि के काव्य-व्यक्तित्व से एक दूसरा रूप भी प्रारम्भ से ही जुड़ा हुआ है, वह है बाह्य के प्रति जागरूकता। बाह्य से तात्पर्य देश, विश्व एवं मानव-प्रेम से है। एक ओर जहाँ उसकी कविता का मुख्य वर्ण्य जीवन के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्र प्रेम भी उसका अपरिहार्य विषय है। 'तेरा हार' एवं प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर आज तक की कृतियों में कवि की यह अनुभूति समया-

---

१. 'मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।'

—आरती और अंगारे, पृष्ठ २५.

नुसार अभिव्यक्ति पाती रही है। इस विषय मे वह पहले ही निश्चय कर चुका था—

काव्य कल्पना के डैनों पर चढ़ मै उडता जाऊँ !
बहुत दूर जाकर भी अपने भारत को न भुलाऊँ।[१]

४२ मे तो उसकी कृतियो मे सार्वजनिक भावना का दृष्टिकोण पर्याप्त विस्तृत होता गया है। 'बंगाल का काल' 'सूत की माला' 'खादी के फूल ?' 'धार के इधर उधर' 'बुद्ध और नाचघर (कुछ कविताएँ)' आदि कृतियो मे राष्ट्र-प्रेम, विश्व-प्रेम, एवं मानव-प्रेम जैसे उदात्त विषयो को ग्रहण किया गया है। यद्यपि इन कविताओ का संबंध प्राय: सामयिक परिस्थितियो एवं घटनाओ से है पर कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी है जिनका महत्व आज के संदर्भ मे तत्कालीन परिस्थितियो से कही बढकर है। यथा—

कि तुम हिये सहिष्णुता लिए रहो,
कि तुम दुराव दैन्य का किये रहो,
तजो पलायनी प्रवृत्ति, का डरो,
बुरी प्रवचना उसे 'विदा' कहो—[२]

निस्सदेह इस संबंध मे कवि के इस विचार का समर्थन वाछनीय होगा—'काव्य का काम है सामयिक को छूकर शाश्वत बनाना, कम से कम चिरजीवी बनाना। सामयिक स्वय भी अपने बाहरी रूप मे अल्पस्थायी भले ही हो, पर अपनी भावना मे वह अन्य रूपो मे प्रतिध्वनित होता है।'[३] इन कविताओ मे जहाँ कवि संवेदन शील शाश्वत मानव की सफलता एवं विफलता के संघर्ष को लेकर चला है जहाँ उसका उद्देश्य उसे धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक बंधनो से मुक्त करने का है, वहाँ कविताएँ निस्संदेह उच्च कोटि की बन पड़ी है। फिर भी 'बच्चन' की कविता का मूल विषय राष्ट्र-प्रेम नही है अपितु उसका मूल स्वर तो

---

१. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग—२, पृ० ४६.
२. 'धार के इधर-उधर' से उद्धृत
३. 'धार के इधर-उधर' (भूमिका), पृ० ६. (दूसरा संस्करण)

व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पर ही आधारित हैं। उधर कवि के जीवन में वे धीरे-धीरे अविश्वास और धार्मिक अनास्था के विपरीत, विश्वास और आस्था की ओर अग्रसर हो रहे हैं। प्रारम्भ से ही कवि की कविता का विषय मनोवेगों पर आधारित अनुभूति का ही रहा है। इसलिए, जहाँ-जहाँ उसके मनोवेग बदलते गये हैं, अनुभूति भी बदलती गई है। भविष्य में अभी उसकी कविता का क्या दृष्टिकोण होगा, कहा नहीं जा सकता। हाँ, इधर एक विशेषता जो उनमें आई है, वह यह कि अब वे गद्यात्मक काव्य-समीक्षा, रेडियो-वार्ता, लेख एवं निबंध, रेडियो-रूपक, लोक-गीतों की धुन पर लोक-गीतों की रचना की ओर झुक गये हैं। उनके द्वारा की गई अनूदित रचनाओं की संख्या भी इधर बढ़ती जाती है। इस तरह से वे आज भी हिन्दी साहित्य की निरन्तर अभिवृद्धि में मनसा, वाचा, कर्मणा तन्मय हैं और हिन्दी को अग्रसर बनाने में प्रयत्नशील हैं।

इस परिचयात्मक विवेचन के बाद अब कवि के काव्य का शास्त्रीय विवेचन कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य मम्मट ने काव्य व्यक्तित्व को तीन रूपों में रखकर देखा है—शक्ति या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। 'काव्य प्रकाश' में शक्ति या प्रतिभा को नैसर्गिक अर्थात् जन्म-सिद्ध कहा गया है और शेष दो अर्जित हैं। व्युत्पत्ति लोक शास्त्र, काव्य आदि के अध्ययन, मनन और इनके ज्ञान से उत्पन्न योग्यता का नाम है। अभ्यास में कवि की ओर से काव्य-गुण और कला-प्रक्रिया को सीखने की चेष्टा रहती है। दण्डी ने अभ्यास का बड़ा महत्त्व स्वीकार किया है। उनका कहना है कि व्यक्ति में कवित्व शक्ति क्षीण भी हो तो अभ्यास करने पर विदग्ध लोगों की गोष्ठी में विहार करने योग्य हो जाता है।[1] रीति-कालीन कवि आचार्य केशव ने भी अभ्यास को काव्य का मुख्य हेतु माना है।[2] संस्कृताचार्यों ने श्रेष्ठ कवियों में इन तीनों काव्य-हेतुओं की प्रचुरता

---

१. 'कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।'—काव्यादर्श

२. चरण धरत चिन्ता करत, नींद न भावत सोर,
सुवरण को सोधत फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर।'—कवि प्रिया ३।४

आवश्यक माना है। इसकी क्षमता या अक्षमता के बल पर ही कवि और उसके काव्य का मूल्यांकन आधारित है। निर्णय की इन कसौटियों को ध्यान में रखते हुये डॉ० नगेन्द्र ने 'बच्चन' और उनके समकालीन एवं सहयोगी कवियों तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में अपने अन्तिम विचार इस प्रकार दिये हैं—"यह कविता अधिकतर अपरिपक्व वय के कवियों द्वारा लिखी गई है जिनका जीवनानुभव आर्थिक और शृंगारिक अन्तर्द्वन्द्वों तक सीमित रहा है, जिनका अध्ययन-मनन और विचार का क्षेत्र भी सीमित रहा है, और जिनकी प्रेरणा का उद्गम स्रोत कोई गहरा आस्तिक विश्वास न होकर प्रायः सन्देह और अनास्था ही है। अभ्यास भी इन कवियों का अपूर्ण सा ही रहा है। इस प्रकार इन कवियों का काव्य व्यक्तित्व साधारण धरातल से कुछ ही ऊपर माना जा सकता है—केवल 'बच्चन' ही अपनी तत्वगत व्यक्ति-चेतना के बल पर अपनी कुछ कविताओं में काफी ऊँचे उठ गये हैं। सामान्यतः इस श्रेणी के कवियों ने सहज और प्रिय कविता ही लिखी है, महान कविता बहुत कम।"[1] कवि द्वारा प्रणीत सारी की सारी रचनाएँ अच्छी नहीं होतीं। उनमें से कुछ ऐसी भी होती हैं, जिनमें पर्याप्त अवगुण भी वर्तमान रहते हैं। कवि का मूल्यांकन उसकी उत्तमोत्तम रचनाओं पर ही आधारित होता है। साथ ही निर्णय के समय कवि के दृष्टिकोण का भी ध्यान रखना अनिवार्य है। ऐसा न करने से आलोचक गण आलोच्य विषय के प्रति अन्याय कर जाते हैं।

'बच्चन' ने आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट-प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास में से प्रतिभा और व्युत्पत्ति को तो स्वीकार किया है किन्तु वे काव्य के क्षेत्र में 'अभ्यास' को नहीं मानते। यद्यपि दण्डी एवं केशवदास आदि आचार्यों ने अभ्यास का बड़ा गुणगान किया है किन्तु वे अभ्यास की दुरूह योजना द्वारा

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ७८

कविता का स्वाभाविकत्व या विनष्ट नहीं करना चाहते। उन्होंने इस विषय में स्वयं कहा है

उस कविता को क्या देकर के नाम पुकारूँ कहो-कहो,
जिसके अन्दर हो 'प्रयास' खग-कल-स्वर स्वत: प्रवाह न हो।[1]

कवि का यह 'प्रयास' ही आचार्यों का अभ्यास है। कवि ने जो कुछ लिखा है, वह केवल प्रतिभा के बल पर ही। उसने काव्य-रचना में अपनी कारयित्री या नैसर्गिकी प्रतिभा का ही उपयोग किया है। उसकी यह प्रतिभा प्रणय से प्रेरित है। इस तरह से कवि के काव्य-रचना का मूल हेतु प्रेरणा है। दूसरे शब्दों में इसी को हम प्रतिभा भी कह सकते हैं। इस काव्य-हेतु की स्थापना करके उसने मौलिकता की स्थापना की है।[2] इसके अतिरिक्त 'बच्चन' ने आचार्यों की व्युत्पत्ति को भी काव्य का एक मुख्य साधन माना है। उनकी यह व्युत्पत्ति दो तत्वों पर आधारित है—एक तो शास्त्रादि के अध्ययन-मनन पर और दूसरा प्रकृति निरीक्षण पर। निस्सन्देह कवि ने अध्ययन-मनन में अपना अधिकांश समय व्यतीत किया है। उसकी यह प्रवृत्ति अब भी उसी गति से चल रही है। इस तथ्य को उसने स्वयं एक स्थान पर स्वीकार किया है—"जब पहली बार मेरी अनुभूति शब्दों से फूट पड़ी थी तब मैंने अवश्य अपने से यह प्रश्न किया था कि क्या मैं कवि हूँ? कवि हूँ तो 'कविहि अरथ आखर बल साँचा'—कवि हूँ तो मुझे शब्दों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना होगा। इस कारण शब्दों के माध्यम पर मुझे अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहिए—साहित्य के

---

१ प्रारम्भिक रचनाएँ (दूसरा भाग), पृ० ४६.

२ "कविवर 'बच्चन' ने संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य-हेतुओं में से प्रतिभा और व्युत्पत्ति का समर्थन करने के अतिरिक्त प्रणय में प्राप्त प्रेरणा को भी काव्य-रचना का प्रेरक स्रोत मानकर मौलिक स्थापना की है।"

—आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त (डा० सुरेशचन्द्र गुप्त) पृ० ४७२.

स्वाध्याय से, काव्य पाठ से, काव्य के मर्म को समझने के प्रयत्न से। मैं हिन्दी, अंग्रेजी, थोड़ी संस्कृत और थोड़ी उर्दू जानता हूँ, बहुत थोडी बंगला भी और इनके माध्यम से जो कुछ साहित्य, काव्य मुझे पढ़ने को मिला है, उसका मैंने अध्ययन किया है। अब भी समय मिलने पर पढ़ता हूँ। मैं नवयुवक कवियो को अक्सर सलाह देता हूँ कि सौ पेज पढ़ो तो एक पंक्ति लिखो। मेरे पढ़ने-लिखने का अनुपात लगाया जाय तो मैं 'पर उपदेश कुशल' ही नहीं सिद्ध हूँगा।[1] इसके अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनाओं के अध्ययन को भी कवि ने काव्य का प्रेरक तत्व माना है—"पता नहीं, अन्य लेखको का अनुभव है, या नही, मेरा तो है कि कभी-कभी हम दूसरे कवि की रचना पढ़कर भी कविता लिखने को प्रेरित होते हैं। ऐसी प्रेरणाओं से कविता लिखना अपराध नहीं है।[2] प्रकृति निरीक्षण से भी कवि को कविता करने की प्रेरणा मिलती रही है। इस प्रेरणा से उसका काव्य आद्योपान्त आपूरित है। यथा—"कवि उर कलिका खिल जाए, हरहरा उठो तुम एक बार"[3] में ग्रीष्म बयार से प्रेरणा ली गई है। इसी प्रकार "मूक मेरी लेखनी को आज फिर प्रेरे हुये बादल"[4] आदि-आदि अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। इस तरह से 'बच्चन' के अनुसार प्रेरणा ही उनके काव्य की जीवन-दातृ है, जो बरबस अभिव्यक्ति पाने के लिए उनके कवि को विकल बना देती है। अन्त: प्रेरणा से स्वत: प्रादुर्भूत इस आवेश में इतनी शक्ति होती है कि कवि द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी अभिव्यक्ति को रोका नहीं जा सकता। इसके सम्बन्ध मे कवि का निर्णय ही पर्याप्त होगा—"अनुभवो मे डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम पर यथासंभव अधिकार प्राप्त करके मैंने अपने-आपको प्रेरणा पर छोड़ दिया है। प्रेरणा के

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (मेरी रचना प्रक्रिया) पृ० १५, २७ नवम्बर, १९६०।
२. आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्य-सिद्धान्त, पृ० ४७३ पर उद्धृत।
३. प्रारंभिक रचनाएँ (पहला भाग) पृ० ७८।
४. प्रणय-पत्रिका, पृ० ५३।

कविता की स्वाभाविकता को विनष्ट नहीं करना चाहते। उन्होंने इस विषय मे स्वयं कहा है—

उस कविता को क्या देकर के नाम पुकारूँ कहो-कहो,

जिसके अन्दर हो 'प्रयास' खग-कल-स्वर स्वतः प्रवाह न हो।[१]

कवि का यह 'प्रयास' ही आचार्यो का अभ्यास है। कवि ने जो कुछ लिखा है, वह केवल प्रतिभा के बल पर ही। उसने काव्य-रचना मे अपनी कारयित्री या नैसर्गिकी प्रतिभा का ही उपयोग किया है। उसकी यह प्रतिभा प्रणय से प्रेरित है। इस तरह से कवि के काव्य-रचना का मूल हेतु प्रेरणा है। दूसरे शब्दो मे इसी को हम प्रतिभा भी कह सकते है। इस काव्य-हेतु की स्थापना करके उसने मौलिकता की स्थापना की है।[२] इसके अतिरिक्त 'बच्चन' ने आचार्यो की व्युत्पत्ति को भी काव्य का एक मुख्य साधन माना है। उनकी यह व्युत्पत्ति दो तत्वो पर आधारित है—एक तो काव्यादि के अध्ययन-मनन पर और दूसरा प्रकृति निरीक्षण पर। निस्संदेह कवि ने अध्ययन-मनन मे अपना अधिकाश समय व्यतीत किया है। उसकी यह प्रवृत्ति अब भी उसी गति से चल रही है। इस तथ्य को उसने स्वयं एक स्थान पर स्वीकार किया है—"जब पहली बार मेरी अनुभूति शब्दो मे फूट पडी थी तब मैंने अवश्य अपने मे यह प्रश्न किया था कि क्या मैं कवि हूँ? कवि हूँ तो 'कविहि अरथ आखर बल साँचा—कवि हूँ तो मुझे शब्दो के माध्यम से अपने को व्यक्त करना होगा। इस कारण शब्दो के माध्यम पर मुझे अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहिए—साहित्य के

---

१ प्रारम्भिक रचनाएँ (दूसरा भाग), पृ० ४६

२ "कविवर 'बच्चन' ने संस्कृत आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट काव्य-हेतुओं मे से प्रतिभा और व्युत्पत्ति का समर्थन करने के अतिरिक्त प्रणय से प्राप्त प्रेरणा को भी काव्य-रचना का प्रेरक स्त्रोत मानकर मौलिक स्थापना की है।"

—आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त (डा० सुरेशचन्द्र गुप्त) पृ० ४७२.

स्वाध्याय से काव्य पाठ से काव्य के मर्म को समझने के प्रयत्न से मैं हिन्दी, अंग्रेजी, थोड़ी संस्कृत और थोडी उर्दू जानता हूँ, बहुत थोड़ी बंगला भी और इनके माध्यम से जो कुछ साहित्य, काव्य मुझे पढने को मिला है, उसका मैंने अध्ययन किया है। अब भी समय मिलने पर पढता हूँ। मैं नवयुवक कवियो को अक्सर सलाह देता हूँ कि सौ पेज पढो तो एक पंक्ति लिखो। मेरे पढ़ने-लिखने का अनुपात लगाया जाय तो मै 'पर उपदेश कुशल' ही नही सिद्ध हूंगा।[१] इसके अतिरिक्त अन्य कवियो की रचनाओ के अध्ययन को भी कवि ने काव्य का प्रेरक तत्व माना है—"पता नही, अन्य लेखकों का अनुभव है, या नही, मेरा तो है कि कभी-कभी हम दूसरे कवि की रचना पढकर भी कविता लिखने को प्रेरित होते है। ऐसी प्रेरणाओ से कविता लिखना अपराध नहीं है।[२] प्रकृति निरीक्षण से भी कवि को कविता करने की प्रेरणा मिलती रही है। इस प्रेरणा से उसका काव्य आद्योपान्त आपूरित है। यथा—"कवि उर कलिका खिल जाए, हरहरा उठो तुम एक बार"[३] मे ग्रीष्म बयार मे प्रेरणा ली गई है। इसी प्रकार 'मूक मेरी लेखनी को आज फिर प्रेरे हुये बादल"[४] आदि-आदि अनेक उदाहरण भरे पड़े है। इस तरह से 'बच्चन' के अनुसार प्रेरणा ही उनके काव्य की जीवन-दातृ है, जो बरबस अभिव्यक्ति पाने के लिए उनके कवि को विकल बना देती है। अन्तः प्रेरणा से स्वतः प्रादुर्भूत इस आवेश मे इतनी शक्ति होती है कि कवि द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी अभिव्यक्ति को रोका नही जा सकता। इसके सम्बन्ध मे कवि का निर्णय ही पर्याप्त होगा—"अनुभवो मे डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम पर यथासंभव अधिकार प्राप्त करके मैने अपने-आपको प्रेरणा पर छोड़ दिया है। प्रेरणा के

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (मेरी रचना प्रक्रिया) पृ० १५, २७ नवम्बर, १९६०।
२. आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्य-सिद्धान्त, पृ० ४७३ पर उद्धृत।
३. प्रारंभिक रचनाएँ (पहला भाग) पृ० ७८।
४. प्रणय-पत्रिका, पृ० ५३।

अस्तित्व को मैं मानता हूँ। किसी मनस्थिति मे, किसी परिस्थिति मे किसी घटना से, किसी दृश्य से, किसी विचार से सर्जक की वह प्रवृत्ति सहसा जाग उठती है जो उसे सृजन के लिए विवश कर देती है।" १ उसके अनुसार 'अच्छी रचना मे जो सर्वश्रेष्ठ होता है, वह प्रयत्न से नहीं प्रेरणा से आता है।' उसने अपने कवि का निर्णय इस प्रकार दिया है—"किसी कवि के लिए आदर्श परिस्थिति तो यही हो सकती है कि जीवन और साहित्य के स्वाध्याय से परिपक्व होकर वह प्रेरणा की प्रतीक्षा करे और अपनी 'अर्ज' (धुन सवार होना) के अनुसार लिखने को स्वतन्त्र हो। मुझे दुर्भाग्यवश ऐसी परिस्थितियाँ सदा नही मिली। मै शत-प्रतिशत कवि नही रह सका। मुझे अपने और अपने ऊपर निर्भर रहने वालो के लिए जीविका के साधन जुटाने को प्रायः सदा ही कुछ ऐसा करना पडा है, जो सृजन की पूरी स्वतत्रता नहीं देता।"२ इस प्रकार हम कवि के काव्य का मूल्य उसकी प्रेरणा की गहराई पर ही अंकित कर सकते है। प्रेरणा-जन्य सद्यः अनुभूति की अभिव्यक्ति के अवसर जीवन मे बहुत कम आ पाते है। 'बच्चन' के जीवन मे भी ऐसे कुछ ही क्षण है जिनकी वास्तविक अभिव्यक्ति मे पूर्णरूप से खरे उतर सके है। इस दृष्टि को ध्यान मे रखते हुये 'निशा-निमंत्रण', 'एकात-संगीत' और 'हलाहल' जैसी कृतियाँ निस्सदेह कवि की महानतम रचनाएँ हैं। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा है कि व्यक्तित्व का पर्यवसान यदि काव्य की कसौटी माना जाय तो 'निशा-निमंत्रण' ही उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना होगी। यहाँ आकर उनकी वेदनात्मक प्रेरणा अतीव घनीभूत हो उठी है और साथ ही उसके एकान्त-चिन्तन की पराकाष्ठा भी हो गई है। इसलिए कवि की ये कविताएँ अपनी साधना मे विशेष सिद्ध हो पाई हैं और इन्ही के आधार पर वे एक युगान्तरकारी कवि सिद्ध होते हैं। चूँकि 'महान कलाकार युग का निर्माता हुआ करता है।' इसलिए 'बच्चन' भी आधुनिक युग के एक महान कवि एवं कलाकार हैं।

●

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २७ नवम्बर, १६६० (मेरी रचना प्रक्रिया) पृ० १५.
२. वही, पृ० १५-१६.

अज्ञेय

जितेन्द्रनाथ पाठक

प्रत्येक नवीन काव्यांदोलन की भाँति 'अज्ञेय' द्वारा पुरस्कृत-समर्थित काव्यांदोलन भी गहरे विवाद का विषय बनता गया लेकिन इसे अज्ञेय तथा उनके अनुवर्ती और सहवर्ती काव्य सृजन का सौभाग्य ही कहा जायगा कि यह काव्यांदोलन सशक्त ही होता गया और सर्जना मे विपुल। एक ओर गहरा विवाद और दूसरी ओर उसी काव्यधारा की सशक्तता और विपुलता यही एक ऐसा अंतर्विरोध है जो इस काव्यांदोलन की ऐतिहासिक अनिवार्यता को प्रभावित कर देता है। 'अज्ञेय'-काव्य का संपूर्ण विकास इत्यलम से ('भग्नदूत' और 'चिंता' को, फिलहाल, छोड़कर) 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तक जिस प्रकार आलोचकों के विरोध-विचार को शतमुख करता गया उसी प्रकार संभावनाओ के अनेक द्वार भी खोलता चला। 'अज्ञेय' अपनी कविताओं मे जहाँ एक ओर कवि-नेता (सायास शायद कम अनायास ही अधिक) के रूप में विकास करते गए वहाँ अपनी गद्य-कृतियो मे ठोस विचारक के रूप मे। यह विचारक-रूप जहाँ एक ओर निबंधों मे अनेक विवादास्पद वैचारिक धरातलों को उभारता गया वहीं सप्तको और सम्पादित पत्रिकाओ मे एक सशक्त काव्यांदोलन को सांगठनिक क्षमता भी देता चला। इस प्रकार 'अज्ञेय' का सही अध्ययन अद्यतन कविता के वैचारिक संघर्षो, वस्तुगत उपलब्धियो और शिल्पगत अपकर्षोत्कर्षो की कथा होगी जो एक बड़ी पुस्तक का काम है।

'तारसप्तक' (१९४३ ई०) ने 'अज्ञेय' का नाम प्रयोगवादी कवि के

प्रवक्ता के रूप मे प्रस्तुत किया। यद्यपि दूसरा सप्तक (१६५१ ई०) मे 'अज्ञेय' ने प्रयोग को वाद से जोड़ने मे अपना वैमत्य प्रकट किया और 'प्रयोग' संज्ञा की काव्यगत उपपत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा—'जिस प्रकार कविरूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहनेवाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे उसी प्रकार आत्मसत्य के अन्वेषी कवि को अन्वेषण के प्रयोग-रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है।' इस प्रकार 'अज्ञेय' माध्यम संबंधी प्रयोग और परीक्षा की बात करके काव्य-शिल्प की सतत प्रयोगशीलता के तथ्य को स्वीकार करते है। आगे चलकर वे कहना चाहते है कि 'प्रयोग अपने आप मे इष्ट नही है वह साधन है। दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया और उसके साधनो को भी जानने का साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्ति कर सकता है।' और इस प्रकार, अज्ञेय स्वीकार करते हैं कि 'वस्तु और शिल्प दोनों क्षेत्रों में प्रयोग फलप्रद होता है।' प्रयोग को वाद से जोड़ने मे 'अज्ञेय' को चाहे जो आपत्ति रही हो लेकिन सप्तकों के द्वारा प्रस्तुत कविताएँ हिंदी में अभूतपूर्व भावबोध तथा रूपशिल्प लेकर आईं। इनमे निश्चय ही चाहे सत्य के शोध का प्रश्न हो, चाहे प्रेषण के साधनो की परीक्षा का, प्रयोग की वृत्ति प्रधान थी। इस तरह यदि प्रयोगवाद की संज्ञा पाठको और आलोचको में रूढ़ि हो गई हो तो उसे स्वाभाविक ही कहा जायगा। प्रयोग शब्द काव्य के क्षेत्र मे एक अत्यन्त विचारणीय शब्द है और इससे कविता मे रूढ़ि का तिरस्कार होकर निरंतर विकसनशीलता की प्रतिष्ठा होती है, पाठक को सौंदर्य-बोध और भावबोध के नए-नए आयाम उद्घाटित होते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस संबंध में इलियट का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्धरण उपस्थित करना प्रासंगिक होगा।

'सच्चा प्रयोक्ता अस्थिर कौतूहल अथवा नव्य स्थापन की इच्छा या

आश्चर्य में डालने की प्रवृत्ति से चालित नहीं होता बल्कि वह एक कवि के रूप में प्रत्येक नई कविता में (अपनी पूर्वकविताओं की ही तरह) उन संवेदनाओं के लिए, जिसके विकास पर उसका कोई नियंत्रण नही है, उचित माध्यम की तलाश की अनिवार्यता से बाध्य होता है।'

इसमें संदेह नही कि प्रयोग प्रयोग के लिए अवांछित मार्ग है और सच्चा प्रयोक्ता अपने परिवर्तित परिवेश की अनिवार्यता के कारण ही माध्यम के क्षेत्र में नए प्रयोग करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक विचारणीय कवि रूप के क्षेत्र मे प्रयोक्ता होता है; क्योंकि प्रत्येक नया कवि अपनी वैयक्तिक विशिष्टता के साथ विशिष्ट युग मे भी संबद्ध होता है। नए कवि के सम्मुख यह समस्या हर पुराने कवि की अपेक्षा अधिक अवरुकारिणी सिद्ध होती रहती है। उसका कारण यह था कि २०वी शती के पूर्व का भारत न्यूनाधिक सामंती संस्कृति और रूढिग्रस्त धार्मिक मूल्यों से अनुशासित था, किंतु नए कवि के सामने विज्ञानाश्रित संस्कृति का विकास हो रहा है जो अतिशय अविश्लेष्य वर्तमान को जन्म देती है। व्यक्ति आज इकहरा रह ही नहीं गया है, वह संवेदनाओं और संस्कारों की दृष्टि से दुहरा हो गया है। इसी को 'तारसप्तक' के संपादक ने उलझी संवेदनाएँ कहा था। इस प्रकार, प्रयोग शब्द सिद्धान्ततः उस सीमा तक मान्य हो सकता है जिस सीमा तक वह पूर्वयुगीन काव्य-कौशल के लिए अपरिचित इस अविश्लेष्य वर्तमान को काव्यवाहन से उपस्थित करता है और इस कारण उसे माध्यम के क्षेत्र मे कुछ अभिनवता या प्रयोगशीलता लानी पड़ती है। हां उसे निरे रूपवाद (Formalism) के रूप मे अथवा शुद्ध व्यक्ति-कुंठा के प्रचारक के रूप मे कोई भी पीढ़ी अमान्य घोषित करेगी। किंतु सौभाग्य की बात है कि प्रयोगवादी काव्यरचना के पुरस्कर्ता माध्यम के क्षेत्र में (छंद, भाषा, प्रतीक, बिंब आदि) निरंतर ठोस उपलब्धियों की ओर प्रयासशील रहे और व्यक्ति-कुंठा के स्वर भी शीघ्र ही आगामी दशक के अधिक मानवोपयोगी सामंजस्य पूर्ण रचनाधारा में खो गए।

२

अज्ञेय की कविता के सर्जनात्मक मूल्य विवादास्पद रहे हैं—ऐसा कहा

जा चुका है। यह एक स्वाभाविक बात थी कि 'अज्ञेय'-काव्य काव्यांदोलन के साथ विचारगत आन्दोलन का विषय भी बनता गया। 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' की भूमिकाओं, 'त्रिशंकु' ('४५) के निबंधों, 'प्रतीक' की टिप्पणियों के माध्यम से 'अज्ञेय' के विचारों का अध्ययन किया जा सकता है, जिससे उनके काव्य और प्रयोगवादी तथा नई कविता के कवि का घनिष्ट संबंध है।

यह कठोर और जटिल वर्तमान औद्योगिक विकास से उत्पन्न मध्यवर्ग की महायुद्धोत्तर समस्याओं और उलझनों से गठित हुआ है। इस औद्योगिक विकास और यांत्रिक प्रगति से कवि के समक्ष सांस्कृतिक ह्रास की समस्या आई और 'अज्ञेय' ने संस्कृति की रक्षा और 'चिर जागरूक चेष्टा' की बात की तथा बताया कि 'वह अलौकिक स्वास्थ्य-चेष्टा, वह अचेतन जीवनी-शक्ति[१] इससे ही निष्पन्न होगी तथा यही 'हमारे जीवन-संघर्ष की बुनियाद' होगी।[२]

इस बहुधंधी और यंत्र-जटिल समाज मे कवि ने अपनी सामाजिक अनुपयोगिता देखी। अज्ञेय ने लिखा 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न-अपर्याप्तता के

---

१. The true experimentator is not impelled by restless curiousity, or by desire for novelty, or the wish to surprise and astonish, but by the compulsion to find, in every new poem as in the earliest, the right form for feelings over the development of which he has as a poet, no control.

—Selected prose by T. S. Eliot, Penguin Books; 1955, Experimentation P. 88.

२. त्रिशंकु—'संघर्ष युग में साहित्य', अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, बनारस, सन् ४५ ई०, पृ० २२

प्रति विद्रोह है।[1] अपर्याप्तता के प्रति विद्रोह और कला-सृष्टि द्वारा पर्याप्तता की ओर अभिप्रयाण की बात तो समझ मे आती है, किन्तु कलाकार के सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी होने के नाते ही उसके द्वारा कला-सृष्टि की कल्पना और इस कल्पना को Nomadic Tribes की सामाजिक अवस्था तक खीच कर ले जाने की बात बहुत अधिक नहीं जँचती। किन्तु कलाकार अपनी इस प्रतिज्ञा के बावजूद अपनी उपयोगिता शायद न प्रमाणित कर सका और उसे स्वप्रयत्न से ऊपर उठकर विद्रोह-स्वर को उठाना पड़ा और 'अज्ञेय' ने 'संतोषजनक सामाजिक परिवृत्ति' की माँग की बात की।[2]

इस कोण पर आकर उन्होने मूल्यवान और फलद विचारो को स्थापित किया। उनके मत से परिस्थिति की साहित्यकार पर निश्चित प्रतिक्रिया होनी चाहिए और उनकी मान्यता है कि "यदि लेखक की प्रतिक्रिया प्रौढ है तभी वह सत्साहित्य की रचना कर सकता है।[3] वह उस प्रतिक्रिया की व्याख्या मे कहते है "इस प्रकार हम यह स्थापना कर सकते है कि यद्यपि अतृप्ति का अनुभव प्रत्येक आधुनिक लेखक मे होना चाहिए, तथापि उसकी रचनाओ का महत्व आँकने के लिए यह देखना चाहिए कि अंततोगत्वा अपनी इस अनुभूति के प्रति उसकी स्थिति क्या है। यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्यपूर्वक अपनी आंतरिक माँग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएँ जगाई है उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है तभी उसकी रचनाएँ महान साहित्य बन सकेंगी।"[4]

---

१. त्रिशंकु, 'कला का स्वभाव और उद्देश्य', सरस्वती प्रेस, बनारस पृ० २६
२. वही, 'परिस्थिति और साहित्यकार' " पृ० ५०
३. वही, 'परिस्थिति और साहित्यकार' " पृ० ५३
४. वही, 'परिस्थिति और साहित्कार' " पृ० ५३

'अज्ञेय' ने, आगे चलकर, प्रगतिवादी आदोलन के प्रति सैद्धान्तिक वैमत्य प्रकट किया। उन्होने 'त्रिशंकु' मे 'सक्रान्तिकाल की साहित्यिक समस्याएँ' शीर्षक के अंतर्गत 'साहित्य किसके लिए', 'राजनीति और साहित्य' 'साहित्य और प्रगति,' 'क्या लेखक बिकाऊ है'' इन उपशीर्षकों के अंतर्गत सन् ३६ से ही उत्थित प्रगतिवादी आदोलन और मतवाद के प्रति अपना सैद्धान्तिक विरोध प्रकट किया।

'अज्ञेय' ने चेष्टित साहित्य की भर्त्सना की और कलाकार की रचनाशीलता को "निगूढ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता"[६] बतलाया। उन्होंने लिखा "दु.खी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणिया तो जीवन मे ह नही। दुख, अपूर्णता, पीडाये सर्वव्यापी है। गरीबो ने इनका ठेका नही लिया है।" 'अज्ञेय' का निष्कर्ष है कि "क्यो न हम दोनों वर्गों के ऊपर उठकर सपूर्ण मानवता के गान गाएँ।"[१] 'अज्ञेय' साहित्य की चिरन्तनता के प्रश्न को भी उठाते है "नीतियाँ सापेक्ष्य है रूढियाँ निरन्तर वदलती रहती है। अतः नैतिक कसौटियाँ सापेक्ष्य हैं, प्रगति भी सापेक्ष्य है। फलत आज जो प्रगति है कल वही प्रतिगति भी हो सकती है और यदि ऐसा है, तो प्रगतिवादी आलोचक की कसौटियाँ साहित्य की कसौटियाँ नही हैं। क्योंकि साहित्य आत्यतिक होने का दावा करता है। वह माँगता है कि उस पर जो निर्णायक बनकर बैठे उसकी कसौटी भी शाश्वत और चिरन्तन हो।"[२] और वह प्रगतिशीलता का आत्मचिंतित अर्थ भी सामने रखते है: "साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो वह यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति मे कार्यकारण-परंपरा जोड़ने की वृत्ति है।"[३] उन्होने कवि का उद्देश्य घोषित किया 'और परिस्थिति के भीतर ही अपने लिए एक संतोषजनक परिवृत्ति गढ़ सकता है।"[४]

---

१. त्रिशंकु ,, संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ,
सरस्वती प्रेस, बनारस पृ० ६९
२. वही ,, ,, ,, पृ० ६१
३. वही ,, ,, ,, पृ० ७०
४. वही ,, ,, ,, पृ० ७८

'अज्ञेय' के प्रगतिवादी धरातल का, उसके हदबन्दी संबंधी बुनियादी दोष का विवेचन बिलकुल ठीक है, किन्तु जब उनका अग्निगर्भत्व प्राप्त कवि परिस्थिति के भीतर ही, 'अपने लिए एक संतोषजनक परिवृत्ति'[१] के गढने तक ही अपनी ध्येय-सीमा घोषित करता है तब कवि का विद्रोह सत्व एक बड़े हल्के, कमजोर और अनुपयुक्त धरातल पर प्रतिष्ठित होता है, ठीक 'शेखर: एक जीवनी' के शेखर की तरह। लगता है किसी मध्यवर्गीय बुद्धि-जीवी की चेतना का वह बौद्धिक उभार है, जो कार्यक्षेत्र और उद्देश्य-क्षेत्र मे आने पर पुनः असमर्थ शक्ति होने के कारण अपने तल की ओर उतर जाता है। 'अज्ञेय' का सारा विकास सुचिंतित धीर पदो की यात्रा है किन्तु उसमे अह्म की सारी उर्जस्विता और युयुत्सा का मात्र 'पीड़ा बोधात्मक स्थिति' और 'निष्क्रिय सहिष्णुता' मे पर्यवसान प्रभा का हतप्रभ हो जाना नही तो और क्या है ?

३.

अज्ञेय की कविताओं का क्रमविकास वस्तुत दो युगो (छायावाद तथा परवर्ती युग) मे होने के कारण दो भागो मे बाँटा जा सकता है :

१. सन' ४६ तक[२] २ सन, ४६ के बाद

४६ ई० के पूर्व भी स्पष्ट ही ऐतिहासिक क्रम से दो प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियों का बोध होता है: १—छायावाद-प्रभावित काव्य, जो सभवतः '२८,—'२६ तक होता रहा होगा, २—प्रायोगिक काव्य, जो अनुमानतः '३८,—'४६ के बीच हुआ होगा। पुस्तको का क्रम-संकेत करना चाहे तो

१. त्रिशंकु, 'संक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक रचनाएँ'
सरस्वती प्रेस, बनारस, पृ० ८२

२. सन' ४६ 'इत्यलम' कविता सग्रह का प्रकाशन काल है। इसके संबंध मे कवि कहता है 'इत्यलम' शीर्षक इस बात का द्योतक है कि लेखक आत्माभिव्यंजना के दूसरे मध्यम या साधनो के साथ जूझ रहा है, किन्तु उसने कविता न लिखने की शपथ नही ले ली है।

'अज्ञेय ने आगे चलकर प्रगतिवादी आंदोलन के प्रति सैद्धान्तिक वैमत्य प्रकट किया । उन्होंने त्रिशंकु में संक्रान्तिकाल की साहित्यिक समस्याएँ' शीर्षक के अंतर्गत 'साहित्य किसके लिए', 'राजनीति और साहित्य' 'साहित्य और प्रगति,' 'क्या लेखक बिकाऊ है' इन उपशीर्षकों के अंतर्गत सन् ३६ से ही उत्थित प्रगतिवादी आंदोलन और मतवाद के प्रति अपना सैद्धान्तिक विरोध प्रकट किया ।

'अज्ञेय' ने चेष्टित साहित्य की भर्त्सना की और कलाकार की रचना-शीलता को "निगूढ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता"[१] बतलाया। उन्होंने लिखा "दुःखी और सुखी की कोई आत्यन्तिक श्रेणियाँ तो जीवन में है नहीं । दुःख, अपूर्णता, पीडायें सर्वव्यापी है । गरीबो ने इनका ठेका नहीं लिया है ।" 'अज्ञेय' का निष्कर्ष है कि "क्यों न हम दोनों वर्गों के ऊपर उठकर सपूर्ण मानवता के गान गाएँ ।"[१] 'अज्ञेय' साहित्य की चिरन्तनता के प्रश्न को भी उठाते है "नीतियाँ सापेक्ष्य है, रूढ़ियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं । अतः नैतिक कसौटियाँ सापेक्ष्य हैं, प्रगति भी सापेक्ष्य है । फलत. आज जो प्रगति है कल वही प्रतिगति भी हो सकती है और यदि ऐसा है, तो प्रगतिवादी आलोचक की कसौटियाँ साहित्य की कसौटियाँ नहीं हैं । क्योंकि साहित्य आत्यंतिक होने का दावा करता है । वह माँगता है कि उस पर जो निर्णायक बनकर बैठे उसकी कसौटी भी शाश्वत और चिरन्तन हो ।"[२] और वह प्रगतिशीलता का आत्मचिंतित अर्थ भी सामने रखते है : "साहित्य-कार के लिए प्रगतिशीलता का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो वह यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति मे कार्यकारण-परपरा जोड़ने की वृत्ति है ।"[३] उन्होंने कवि का उद्देश्य घोषित किया 'और परिस्थिति के भीतर ही अपने लिए एक संतोषजनक परिवृत्ति गढ सकता है ।"[४]

---

१. त्रिशंकु ,, संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ,
सरस्वती प्रेस, बनारस पृ० ६९
२. वही ,, ,, ,, पृ० ६१
३. वही ,, ,, ,, पृ० ७०
४. वही ,, ,, ,, पृ० ७८

'अज्ञेय' के प्रगतिवादी घरातल का, उसके हदबन्दी संबंधी बुनियादी दोष का विवेचन बिलकुल ठीक है, किंतु जब उनका अग्निगर्भत्व प्राप्त कवि परिस्थिति के भीतर ही, 'अपने लिए एक संतोषजनक परिवृत्ति'[१] के गढ़ने तक ही अपनी ध्येय-सीमा घोषित करता है तब कवि का विद्रोह सत्व एक बड़े हल्के, कमजोर और अनुपयुक्त धरातल पर प्रतिष्ठित होता है, ठीक 'शेखर: एक जीवनी' के शेखर की तरह। लगता है किसी मध्यवर्गीय बुद्धि-जीवी की चेतना का वह बौद्धिक उभार है, जो कार्यक्षेत्र और उद्देश्य-क्षेत्र मे आने पर पुन: असमर्थ शक्ति होने के कारण अपने तल की ओर उतर जाता है। 'अज्ञेय' का सारा विकास सुचिंतित धीर पदो की यात्रा है किंतु उसमे अह्म की सारी उर्जस्विता और युयुत्सा का मात्र 'पीड़ा बोधात्मक स्थिति' और 'निष्क्रिय सहिष्णुता' मे पर्यवसान प्रभा का हतप्रभ हो जाना नही तो और क्या है ?

३.

अज्ञेय की कविताओ का क्रमविकास वस्तुत दो युगों (छायावाद तथा परवर्ती युग) मे होने के कारण दो भागो मे बाँटा जा सकता है ·

१. सन' ४६ तक[२] २. सन, ४६ के बाद

४६ ई० के पूर्व भी स्पष्ट ही ऐतिहासिक क्रम से दो प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियो का बोध होता है: १—छायावाद-प्रभावित काव्य, जो संभवत: '३८,—'३९ तक होता रहा होगा, २—प्रायोगिक काव्य, जो अनुमानत: '३८,—'४६ के बीच हुआ होगा। पुस्तको का क्रम-संकेत करना चाहें तो

---

१. त्रिशंकु, 'संक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक रचनाएँ'
सरस्वती प्रेस, बनारस, पृ० ८२

२. सन' ४६ 'इत्यलम' कविता संग्रह का प्रकाशन काल है। इसके संबंध मे कवि कहता है 'इत्यलम' शीर्षक इस बात का द्योतक है कि लेखक आत्माभिव्यंजना के दूसरे मध्यम या साधनो के साथ जूझ रहा है, किन्तु उसने कविता न लिखने की शपथ नही ले ली है।

भग्नदूत' (सन् ३३) और चिंता (सन् ४१) को एक सीमा तक छायावाद-प्रभावित काव्य कह सकते हैं (कुछ इत्यलम की रचनाएँ भी इसी कोटि के अन्तर्गत आएँगी) और 'इत्यलम' (सन्' ४६) की 'वंचना के दुर्ग' एवं 'मिट्टी की ईहा' मुख्यतः और 'इत्यलम' की शेष कविताएं अंशत. प्रायोगिक काव्य के अतर्गत ली जाएँगी। सन' ४६ के बाद के कविता-संकलनो मे 'हरी घास पर क्षण भर' (सन' ४६ से सन्' ४८ की कविताएँ), 'बावरा अहेरी' (सन्' ५० से' ५३ तक की कविताएँ), 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' (सन् ५४ से ५७ तक की कविताएँ),'अरी ओ करुणा प्रभामय' (५४ से ५८) तक की कविताएँ, प्रायोगिक सौंदर्य और माध्यम-नवीनता से सयुक्त तो हैं ही, किन्तु प्रयोगवादी भावधारा भी इन कविताओं से नव स्वच्छतावाद (Neo Romanticism) की ज्यादा उदार और काव्योपयोगी भूमिका पा गई है।

४.

'अज्ञेय की अपेक्षाकृत आरम्भिक कृति 'चिंता' को उनके आलोचक को अलग से ही लेना होगा। इसका स्वरूप और अतरंग दोनो पूर्वापेक्षा और परापेक्षा सम्पूर्णतः भिन्न है। भूमिका मे 'अज्ञेय' इसको काव्य की तकनीक से पृथक और 'क्षेत्र-विशेष मे मानव के अन्तर्भावों के प्रतिचित्रण' से सयुक्त बताते है। यह 'क्षेत्र विशेष' 'स्त्री-पुरुष का चिरंतन प्रेम-व्यापार' है और उसकी व्यंजना 'गद्य-पद्य मय' है। कथ्य की दृष्टि से इसमे पुरुष और स्त्री के गतिशील सम्बन्धों के संदर्भ में, 'विश्वप्रिया' और 'एकायन' दो खण्डो मे, पुरुष और स्त्री के आकर्षण और विकर्षण अथवा लेखक के शब्दों में दोनों के बीच होने वाला चिरंतन संघर्ष ही चिन्ता का विचारणीय और वर्ण्य है। भूमिका मे कहानी को वर्ण्य की भाँति अनगढ बताया गया है और उसे प्रेम-जीवन के प्रसङ्गों की भाँति गद्य-पद्यमय कहा गया है।

'एकायन' खण्ड मे अज्ञेय ने पुरुष-प्रेम का अंकन किया है। अनेक अंशो में 'अज्ञेय' प्रत्यक्ष रूप से उस पुरुष से एकीकृत हो जाते हैं याने अज्ञेय का

कला के लिए केन्द्र माँगनवाला 'नारी के अभिमान को सामर्थ्यदर्प से उन्मद' होकर 'तोड़ देने' वाला विशेष पौरुषेय व्यक्तित्व 'एकापल' के पुरुष का निर्माण-द्रव है किन्तु यहाँ पुरुष के सनातन रूप का भी पूर्ण कथन हुआ अथवा (Depersonalisation) की क्रिया पूरी हुई है इसमें बहुतो को सन्देह हो सकता है। 'विश्वप्रिया' में संवेदनशीलता के बल पर 'पर घटित को आत्मघटित' करने के प्रयत्न के बावजूद नारी अपनी संपूर्णता मे नही आ सकी है किन्तु यहाँ पर कवि की लाचारी है।

अर्थात् आत्माभिव्यंजना के दूसरे माध्यम अगली कृतियों मे सम्मुख आते हैं, वैसे इन माध्यमो की भूमिका 'इत्यलम' में ही स्पष्ट हो गई है। किंतु साथ ही 'तार सप्तक' मे प्रकाशित अज्ञेय की प्रयोगवादी कही जाने-वाली वह कविताएं भी प्रकाशित हो गई हैं। 'जयतु हे कंटक चिरंतन' नामक एक पैरोडी कृति असंकलित है, शायद कवि ने ही उसे महत्वहीन समझा। इस प्रकार यह कहना उचित होगा कि 'इत्यलम' नाम नये माध्यम का भावी खोज का निश्चय तो है ही, किंतु उस भावी खोज की दिशाओं का सकेतन भी है। यह भी हो सकता है कि कवि अपनी प्रयोग-वादी भावनाशीलता को 'हरी घास पर क्षण भर' तथा अन्य परवर्ती कृतियो मे नवस्वच्छंदतावाद की ओर मोड़ने तथा भाषा और भाव के क्षेत्रों मे आमूल परिवर्तन उपस्थित करने के कारण भी 'इत्यलम' नाम की चरितार्थता मानी जा सकती है। यह युग-विभाजन के लिए एक काफी स्पष्ट और दृढ रेखा प्राप्त हो जाती है।

चिन्ता की तकनीक पर छायावाद का निश्चित प्रभाव है, यों उसमे 'अज्ञेय' के प्रयोगशील रूप की भी झलक मिलती चलती है। गद्य-पद्यमयता (संस्कृत काव्यशाला के शब्दों मे चम्पूशैली) छायावाद के गद्यकाव्यो के अधिक निकट है लेकिन यदि कवि ने शुद्ध गद्यकाव्यों की शैली को पृथक से, कविता की शैली को पृथक से पल्लवित किया होता तो एकतानता और रचनागत स्वारस्य का अधिक निर्वाह होता किन्तु कुल मिलाकर, इस रचना

मे कवि का अकुंठित चित्त व्यक्त हुआ है जो अपनी अभिव्यक्ति में पर्याप्त आभावान और प्रीतिकर है।

५

'अज्ञेय' छायावादोत्तर हिन्दी कविता (विशेष रूप से बच्चन के निशा निमंत्रण के पश्चात) मे लेकर अब तक अनेक मत-विरोधों के बावजूद अत्यंत सचेत कवि रहे है और प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, बच्चन, दिनकर की शृंखला मे अगली कड़ी के रूप मे प्रतिष्ठित होने के अधिकारी। शलाका कवि के लिए यथार्थ के प्रति जिस प्रौढ़ प्रतिक्रिया की आवश्यकता है और उस प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए जितना और जैसा काव्य-माध्यम चाहिए उस ओर 'अज्ञेय' के काव्य ने अत्यंत धीर पद-विन्यास किया है। यही पर इस तथ्य को सूचित कर देना भी अन्यथा न होगा कि 'अज्ञेय' को सर्वत्र परम्परा से तोड़कर देखना परम्परा को और अज्ञेय को दोनों को ही गलत समझना है। 'समसामयिक भारतीय साहित्य' मे उन्होने हिन्दी पर लिखे अपने अंग्रेजी निबंध मे नये कवि पर पंत, और निराला का विशेष ऋण स्वीकार किया है या यों कहा जाय कि इन कवियो के कतिपय काव्यगुणो—यथा सुन्दर शब्द-चेतना, स्वर-मूल्यों का संवेदनशील उपयोग, सांगीतिक अंतर्दृष्टि, प्रकृति के प्रति नव्यतर और सहजतर ग्रहणशीलता—के प्रति अज्ञेय मे प्रशंसा के भाव है। यों तो 'अज्ञेय' प्रसाद और महादेवी को विचारणीय कवि मानते हुए भी उन्हे निराला और पंत की तरह छायावादी काव्य का पुरस्कर्ता नहीं मानते।[१] यही नहीं बहुत स्पष्ट पता चलता है कि प्रसाद 'अज्ञेय' के लिए प्रभावशाली कवि नही है। लेकिन नए कवि और बड़ी सूझ-बूझ वाले नए आलोचक श्री विजयदेव नारायण साही ने अज्ञेय और

१. Contemporary indian Literature—Sahitya—Akadami p. 77

प्रसाद मे सामानता की अकाट्य रेखाएँ खोजी है।[1]

उन्होने निष्कर्ष स्वरूप लिखा है कि 'दुनिया के किसी कवि से यदि अज्ञेय की निकटता दिखती है तो वह जयशंकर प्रसाद से। वे दोनों एक ही सिमिट्री की दो विपरीत दिशाएँ है जिसके 'बेस' मे तीसरे दशक की खण्डित चेतना वाली मनोभूमि है।'[2] दोनो मे समानता के आधार है—'वही शालीनता, वही शब्दो की चौकसी, वही आभिजात्य और वही कुछ खुला हुआ और कुछ डूबा हुआ व्यक्तित्व'।[3] बहुत विस्तार मे जाने का अवकाश नही है इसलिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'अज्ञेय' का

---

१. अज्ञेय प्रसाद को कवि नहीं मानते या केवल विश्वविद्यालयों का कवि मानते है। × × शायद उनकी निगाह वैपरीत्य पर अधिक पड़ती है, साधर्म्य पर कम। उससे अधिक आश्चर्य प्रसाद के कुछ कठिन प्रशासको पर हुआ है, जो प्रसाद की परम्परा की अभिलाषा तो रखते है लेकिन उस परम्परा को तीसरे दशक की मनोभूमि मे फलित होता हुआ नही देखते हैं। बेशक परम्परा का अर्थ हम केवल पुनरावृत्ति लें तो बात दूसरी है। लेकिन यदि परम्परा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं मे फूटती हुई चलती है, तो 'अज्ञेय', आगे के इतिहासकार को 'प्रसाद' की 'परम्परा' मे ही दिखलाई पड़ेंगे। × × × (कुछ) संकुचित और भ्रामक प्रयोगो मे 'परम्परा' का कुछ ऐसा रूढिगत अर्थ हमारे मन मे बैठ गया है कि विकासमान या द्वन्द्वात्मक अर्थ में हम परम्परा की कल्पना ही नहीं कर पाते।

—नई कविता ५-६, 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' किताबमहल, इलाहाबाद १९६०-६१, पृ० १२०।

२. नई कविता ५-६, 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' श्री विजयदेव नारायण साही, पृ० ११७।

३. नई कविता ५-६, 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' श्री विजयदेव नारायण साही, पृ० ११६।

कर्तृत्व अपनी वस्तून्मुखता में विशद है और वस्तून्मुखता के स्तरों में अन्तर, अतलस्पर्शी—ऊपर-ऊपर से वह शिल्प और अंतरवर्ती चेतना की दृष्टि से परम्परा-छिन्न लगती है लेकिन भीतर से या यों कहें, नाना वैपरीत्यों के गर्भ में वह हिंदी की विकासमान परम्परा की अगली कड़ी है। मेरा यह भी विश्वास है कि जहाँ अज्ञेय ने अपने विचारों से हिन्दी कविता को कहीं-कहीं बड़े मौलिक विचार दिए है वहीं उन्होंने अपने ही मूल्यांकन के पथ को अपनी ही उक्तियों के द्वारा आविल भी कर दिया है। लेकिन इस प्रसंग पर भी विचार के लिए काफी अवकाश चाहिए।

'अज्ञेय' व्यापक और विविधतापूर्ण जीवनानुभव के कवि है। यह अवश्य है कि उन्होंने हर अनुभूति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को विशिष्ट रूप दिया है। इसके पीछे उनके अपने दृष्टिकोण रहे है जो निरतर परिवर्तनशील और एक हद तक विकासशील रहे है। इस वक्तव्य की परीक्षा के लिए अज्ञेय की रचनाओं का मूल्यांकन आवश्यक है। 'अज्ञेय' की कविता को वस्तु-चेतना की दृष्टि से निम्न शीर्षकों के अंतर्गत समझना सुविधाजनक होगा .

१. रूपांकन और प्रेमानुभूति
२. सामाजिक अनुभूति (देश प्रेम, रूढ़ि-विरोध, व्यक्तिसत्ता की स्थापना और पुनरावर्तन)
३. प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति

रूपांकन और प्रेमानुभूति :

'अज्ञेय' मुख्यतः प्रेमानुभूति के कवि है क्योंकि उनका सारा व्यक्तित्व नारी-सापेक्षता में ही फलीभूत होता है। वे कहते है कि 'यह जो गाँठ है साझी हमारी' उसे मैं 'तभी खोल सकता हूँ' जब 'तुम्हारे चेतना-तल पर' 'मेरा ध्यान' 'तैर आए'।[१] इतना ही नहीं वह अपनी काव्य-प्रेरणा भी वहीं से पाता है। कवि के अनुसार 'जब उर के रस स्रोत के सूखने' की आशंका होती है तभी तुम्हारा 'तेजस्मित मुख' 'कविता की सजीव रेखा-

---

१. हरीघास पर क्षण भर, 'क्षमा की बेला' पृ० ३५ ।

सी' मानस-पट में घिर आती है।'[1] अज्ञेय प्रेम-व्यापार मे नैसर्गिकता के भी पक्षपाती हैं। 'खग युगल' के प्रणय को देखकर वे दुःख के साथ कहते हैं 'हाय तुम्हारी नैसर्गिकता, मानव नियम निराला है, वह तो अपने ही से अपना प्रणय छिपाने वाला है।'[2] इसी भावना का विकास उनकी अन्य प्राकृतिक कविताओं मे है, जिनमे प्रकृति के सहज चित्रों में यौन-भावना का सन्निवेश करके उन्हे यौन-प्रतीक का रूप दे दिया गया है :

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष
वज्र-सा यदि तड़ित-सा हुलसा हुआ-सा
आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियो मे उमड़ आई है लहू की धार
काम है अभिशाप
तुम कहाँ हो नारि।[3]

वह आगे देखता है कि 'धारयित्री' 'स्नेह से आलिप्त' और 'बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल' तथा 'बद्ध' होकर 'सत्य-सी निर्लज्जा' 'नंगी औ' 'समर्पित' 'वासना के पंक-सी' फैली हुई थी।[4] उसका प्रेम वासना-मिश्रित है इसमें उसका विश्वास है। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी वह इस मनःस्थिति मे हो कि कहे :

बाहु मेरे घेर कर तुमको रुके रहे
दो लताओं के प्रलंबित अकुरो से
प्राण दोनों के वस झुके रहे

---

१. इत्यलम, पृ० ९८।
२. इत्यलम, पृ० ९६।
३. इत्यलम, पृ० १५४।
४. इत्यलम, पृ० १५५।

वासना से आवरण से हम परे थे

सहज अनुरागी

नहीं मुझमें अहम् की अभिव्यंजना जागी।[१]

निस्संदेह जहाँ कवि अहम् को तिरोहित हो जाने देता है वहाँ वह काम की बड़ी ही उत्तम अनुभूतियों में मग्न होता है। ऐसे स्थलों पर वह 'विरह के आघात से' अपने 'प्यार को दूना' हुआ बताता है।[२] वह प्रेम में चिर ऐक्य का विरोधी है। और ऐसे स्थलों पर वह प्रेम के वासनात्मक नहीं साधनात्मक रूप की ओर अग्रसर होता है :

प्रेम में चिर ऐक्य कोई मूढ़ होगा तो कहेगा

विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्यों जीता रहेगा[३]

और ऐसे अवसरों पर वह घोषित करता है कि 'जिन्हें प्रेम अनुभव रस का कटु प्याला है' 'वे रोगी हैं' अथवा 'जिनके लिए वह सम्मोहनकारी हाला है वे मुर्दे होंगे।' कवि ने तो 'आहुति बनकर देखा है' कि 'वह तो प्रेम यज्ञ की ज्वाला है'।[४] यद्यपि 'अज्ञेय' का अहम् इतना सबल और उनके लिए ही इतना अत्याज्य है कि वे प्रेम के साधनात्मक रूप में अपने को बहुत अधिक तन्मय नहीं कर पाते और नारी को मित्र रूप में पाने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। उनकी बौद्धिकता भी इस प्रकार की अभिव्यंजना को प्रभावित करती है। उनका क्षणवाद भी (खग-युगल ! करो संपन्न प्रणय, क्षण के जीवन में हो तन्मय) उनकी इस प्रकार की भोग-वृत्ति और प्रकृतिवादिता (Naturalism) को प्रश्रय देता है। वह याद को पराजय मानने लगते हैं :

भोर-बेला नदी-तट की घंटियों का नाद

चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद

---

१. इत्यलम, पृ० २०० ।

२. इत्यलम, पृ० २०१ ।

३. इत्यलम, 'हिम हारिल नाम तेरा' पृ० ११७ ।

४. इत्यलम, 'मैने आहुति बन कर देखा' पृ० १३६-३७ ।

नहीं मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद

उनके ग्रंथि-जटिल मन मे अनेक शंकाएँ उठने लगती है।

अब तक हम थे बंधु
सैर को आए
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुँधले मे दुबके प्रेमी बैठे है
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने।[1]

अज्ञेय ने नारी के रूपांकन की अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की है। रूपांकन मे उन्होंने पारम्परिक उपमानों को तो छोड़ ही दिया है, छायावादी प्रतीक और उपमानों को भी छोड़ने की कोशिश की है। इन समस्त वर्णनों मे उनकी मूल भावना शारीरिक आकर्षण की है। 'कलगी बाजरे की' शीर्षक रचना मे वे कहते है कि 'अगर मै तुमको ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका' या 'शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुई' या 'टटकी चम्पे की कली' नहीं कहता तो केवल इसलिए कि 'ये उपमान मैले हो गए है' तथा 'इन प्रतीको के देवता कूच कर गए है'।[2] और इस दृष्टिकोण के अनुरूप नव्यतर और सहज उपमानो के माध्यम से नारी के उस रूप को व्यक्त किया है जिसके प्रति वह निवेदित, समर्पित और कभी-कभी उन्मथित है :

अगर मैं यह कहूँ
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा मे कलगी छरहरी बाजरे की

*

---

१. हरी घास पर क्षण भर, पृ० ६२-६३।
२. वहीं, पृ० ५७।

या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की
और जब जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संस्कृति का घना हो सिमट आता है
और मैं एकांत होता हूँ
समर्पित ।[१]

नख-शिख रीति-शास्त्र का बड़ा प्रसिद्ध शब्द है। उस रीति युगीन 'नख-शिख' के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक अंग का उपमान स्थिर हो चुका था। 'अज्ञेय' ने नखशिख नामक अपनी कविता में रूढ़ उपमानों को यदि कहीं लिया भी है तो संदर्भ (Context) और संबंध (Association) बदल दिया है।

तुम्हारी देह
मुझको कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से
स्मरण में भी गंध देती है
(रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई कुहासे-सी चेतना को
मोह ले)
तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस-बूँदें हैं
अछूती ज्योतिमय
भीतर द्रवित
(मानो विधाता के हृदय में जग गयी हो भाप करुणा की)
तुम्हारे होंठ
पर उस दहकते दाड़िम पुहुप को
मूक तकता रह सकूँ मैं

---

१. हरी घास पर क्षण भर, 'कलगी अकेली बाजरे की' पृ० ५८।

(सह सकूँ मैं ताप ऊष्मा का मुझ जो लील लेती है) [1]

वस्तुतः रूपांकन के इस चरण मे सांकेतिक नए-नए बिंबों की कला विशेष समादृत हुई है और इससे माध्यम की न केवल शक्ति बढ़ी है बल्कि सौंदर्य के अनेक शरीरी और अशरीरी उपादान अपनी पूरी रहस्यमयता के साथ बड़े ही विपुल और स्पष्ट रूप मे उद्घाटित हुए है। छायावादी कवि जब सौंदर्य के इन स्तरो का उद्घाटन करते समय किसी वायवी वातावरण मे खो जाता है तो अज्ञेय और आमतौर से नए कवि उस पूरी रहस्यमयता को एक मुखर आकृति प्रदान करते है।

'अज्ञेय' क्षणवादी है, क्षण के भीतर प्रवहमान व्याप्त संपूर्णता के भोक्ता है। क्षण की संपूर्णता मे व्याप्त मानव की अनारोपित समग्रता—स्वाभाविकता अज्ञेय के कवि का इष्ट है और इस रूप मे वे नए बोध के संवाहक है। उनका कवि मन के उदात्तीकरण की बात सोच सकता है, वह भी प्रेम के शारीर रूप को स्वीकार करते हुए और मन के विजय के किसी अहम् को बिना पाले। वह कहता है .

जहाँ पर मन
नहीं है यज्ञ का दुर्दान्त घोड़ा
जिसे लौटा तुझे दे
मैं समर्थ जभी कहाऊँ [2]

वासना के प्रति उसकी स्थिति यही है :

मैं दम साधे रहा
मन में अलक्षित
आँधी मचती रही :
प्रातः बस इतना कि मेरी बात
सारी रात
उघड कर वासना का

---

१. बावरा अहेरी, 'नखशिख', पृ० ३५
२. अरी ओ करुणा प्रभामय, 'वहाँ पर बच जाय जो', पृ० १६५

रूप लेने से बचता रहो [१]

प्यार के प्रति उसका असीम विश्वास है सकारण

क्या कहीं प्यार के इतर
ठौर है कोई
जो इतना दर्द सँभालेगा ?
पर मै कहता हूं;
अरे आज पा गया प्यार मै, वैसा
दर्द नही अब मुझको सालेगा।[२]

प्यार दर्द की निधि को संभाल लेता है और यों सँभालता है कि दर्द तो बना रह जाता है लेकिन उसका कष्ट समाप्त हो जाता है।

सामाजिक अनुभूति

'अज्ञेय' आरम्भ मे स्वातन्त्र्य आन्दोलन के उस परिपार्श्व के कार्य के कार्यकर्ता थे जो गुप्त रूप से आतंक-प्रसार के माध्यम से स्वतंत्रता पाने का विश्वासी था। फलत 'अज्ञेय' को कारावास-जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। इस कारावास-जीवन की कविताओं के रूप मे ही अज्ञेय की सामाजिक अनुभूतियाँ आरम्भ मे व्यक्त होती हैं—अज्ञेय की आरम्भिक संघर्ष मूलक कविताओं मे द्वन्द्वात्मक मन.स्थिति दिखलाई पड़ती है जिसमे वे कहते हैं 'रणक्षेत्र जाने से पहले सैनिक जी भर रो लो।'[३] यह पंक्ति कवि की साधारण जनोचित सहजता का आख्यान चाहे बन ले लेकिन शूरोचित अभियान-गीत का रूप नही बन सकेगी। वह इसी मानवोचित सहजता का विस्तार करता है और 'पराजय-गान' गाता है। उसका समाज को समर्पित 'स्व' अन्तर्मुखी होता जाता है और वह 'विजित, तिरस्कृत, घायल और श्रान्त अंगों को लेकर जाने किस आशा से घर को लौट आता है। और, कुल मिलाकर, वह अपने आरंभिक अभियान मे भग्नदूत है। किन्तु

---

१. वही, 'चाँदनी चुपचाप', पृ० १४६

२. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १६२।

३. भग्नदूत, 'प्रस्थान', पृ० ३६

वह अपने दूसरे अभियान में अपना शूरोचित 'उद्धत विद्रोही' रूप प्रकट करता है :

> तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
> घिरा हुआ है जग से पर है सदा अलग निर्मोही।
> जीवन-सागर हहर हहर कर
> उसे लीलने आता दुर्धर
> पर वह बढ़ता ही जागरण लहरों पर आरोही।[1]

वह इस विपर्यास के प्रति भी जागरूक है कि :

> तेरी आँखों में पर्वत की झीलों का निस्सीम प्रसार
> मेरी आँखों में बसा नगर की गली गरमी का हाहाकार
> तेरे उर में बना अनिल सी स्नेह-अलस भोली बातें
> मेरे उर में जनाकीर्ण मग की सूनी सूली रातें।[2]

'अज्ञेय' ने बन्दी-जीवन के इस विश्वास को हिलने नहीं दिया है कि 'मुक्त बन्दी के प्राण'। वह बन्दी गृह की खिड़की में ही रिपु को ललकारता है, 'सँभल कि तेरा आसन डाँवाडोल'। वह 'अखण्ड ज्योति' की प्रार्थना में 'पैंतीस कोटि शिखाओं' को जलाकर भव्य भारत को एक दीपक के सदृश विश्व आलोक-प्रकाश के लिए प्रस्तुत करता है। वह अपने 'दूर वासी मीत' से 'अनथक कृतित्व का भूला राग' सुनाने को कहता है। आन्तरिक रूप से अपनी भारत माँ के प्रति समर्पित है किन्तु वह यौवनोचित उत्साह में मधु-शाला से सुरा माँगता है और मधुबाला से रूपदान। मधुबाला अवगुंठन में है। वह प्याला देती है किन्तु प्रतिच्छवि प्याले में ही देखने का इंगित करती है। वह उस प्रतिबिम्ब को देखकर स्तब्ध और विमूर्च्छित चित्त हो जाता है। चैतन्य बोधोत्तर वह उस प्रतिबिम्ब में करोड़ों विवसना, लम्बे केशों वाली कुमारिकाओं, करोड़ों विधवाओं का मुखबिम्ब देखता है। उसे ध्यान होता है सुरा-रूप में लालिम रक्त का। वह चीख उठता है आवेगाकुल

---

१. इत्यलम्, बन्दी स्वप्न विश्वास, पृ० ८७।
२. वही, पृ० ८३।

होकर कहता है फटजा आज धरित्री ! मेरा दुःख, लज्जा आज मिटा दे !' वह पाता है कि रक्तस्नात उसकी 'साकी' उसकी 'भारत माँ' ही है। यह आवेगाकुलता निगूढ़ देशभक्ति और व्यंग्य की अद्भुत कविता है।

आरम्भिक काव्यकाल मे वह हारिल पक्षी को अपने जीवन का प्रतीक मानता है। हारिल के हाथ का तिनका कवि की सर्जन-चेष्टा के भवितव्य का प्रतीक है और उसके उड़ते हुए डैने कवि की नश्वर जीवनानुभूति का। इस दृढ जीवनास्था के साथ वह 'वंचना के दुर्ग' के ध्वंस की ओर बढ़ता है और सम्पूर्ण रूढिग्रस्त अन्याय के ठेकेदारो को क्रमशः घृणा का गान सुनाता है . 'आज तुम्हे ललकार रहा हूँ सुनो घृणा का गान।'[१] अपने 'एक' को 'समूहलीन' करके वचना के दायी आततायियो को वह ललकारता है .

> नूतन प्रचण्डतर स्वर से
> आततायी, आज तुमको पुकार रहा मै—
> रणोद्यत, दुर्निवार ललकार रहा मै—
> कौन हूँ मै ?
> तेरा दीन दुखी पददलित पराजित
> आज जोकि क्रुद्ध सर्प मे अतीत को जगा
> 'मै' से 'हम' हो गया।
> मै के झूठे अहकार ने हराया मुझे
> तेरे आगे विवश झुकाया मुझे

किन्तु 'मै' के 'झूठे अहकार' का बोध (जिसने कवि को हराया और झुकाया था) उसके मन मे बहुत दिनो तक नही टिक सका और 'आततायी को ललकार' कर 'घृणा का गान' सुनाने वाले 'उद्धत विद्रोही' ने अपनी यह स्थिति व्यक्त की :

> मै ही हूँ वह पदाक्रांत रिरियाता कुत्ता—
> मै ही हूँ वह मीनार शिखर का प्रार्थी मुल्ला

---

१. इत्यलम, पृ० ५२-५३।

मैं वह छप्पर-तल का अहलीन शिशु-भिक्षुक
और, हाँ, निश्चय
मैं वह तारक युग्म
अपलक द्युति, अनथक गति, बद्ध नियति
जो पार किए जा रहा नील-मरु-प्रांगण नभ का ।

क्रमश: कवि आस्था की उस आत्यन्तिक सीमा को पहुँचा जिसे वैसी तटस्थता कहना उचित होगा जो अनास्था और नैराश्य की कोख से जन्म लेती है । समय आने पर आत्मालोचन के अवसरों पर कवि पहचानता है कि उसकी इस प्रकार की विचारणा के पीछे उसका अहंवाद है :

अहं ! अन्तर्गुहावासी ! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?
जानता क्या नही निज मे बद्ध होकर है नहो निर्वाह ?'[1]

किन्तु उसकी यह पहचान 'नदी के द्वीप' मे एक विचित्र स्थितिशील (Static) आत्मकेन्द्रित और अहमूलीन स्वरूप मे पर्यवसित हो जाती है :

किन्तु हम है द्वीप
हम धारा नही है
स्थिर समर्पण है हमारा

*

यदि ऐसा कभी हो
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा, घोर
काल प्रवाहिनी बन जाय '
तो हमे स्वीकार है वह भी, उसी मे रेत होकर
फिर बनेंगे हम, जमेंगे हम, कही फिर पैर टेकेंगे
कही फिर भी खडा होगा नए व्यक्तित्व का आकार ।[2]

---

१. हरी घास पर क्षण भर, 'कितनी शांति', पृ० १४ ।
२. वही 'नदी के द्वीप', पृ० ६६

यह निष्क्रिय नियतिवादिता द्वीपवत स्थितिशीलता अस्तित्व संकट का अधाकुलता जन-जीवन के संकुल वर्ग में अपना पार्थक्य बनाए रखने का मोह अन्य के अहंवाद का वह परिणतियाँ हैं जो सामूहिक विकास की धाराओं के ही विपरीत नहीं, बल्कि उनके व्यक्तित्व की पूर्व परिचित दीप्ति को भी मन्द करती है। किन्तु 'धारा नहीं हैं' के विश्वास का खण्डन 'अज्ञेय' स्वयं कर देते हैं :—

यह दीप अकेला स्नेह भरा है गर्वभरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो। [१]

इस कविता में अज्ञेय अपने उस 'मैं' को प्रतिष्ठित करते है जो धारा में विसर्जित है दीपवत बहने के लिए और अपना आलोक-विस्तार करने के लिए। यहाँ कवि का 'मैं' सचमुच 'मनोज्ञ' हो उठा है। पूर्वपरिचित दीप्ति को पुनः पाने लगा है। उसे इसका पाश्चाताप है कि उससे उस विशाल स्रोतस्विनी में बहा नहीं गया :

निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या ? नदी नाले ताल कुएँ को उलीचा है
तो क्या ? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ, पारंगत हूँ
इसी अहंकार के मारे
अंधकार सागर के किनारे ठिठक गया नत हूँ
उस विशाल में मुझसे बहा नहीं गया।
इसलिए जो और रहा, वह कहा नहीं गया। [२]

व्यक्तित्व का अपमान साहित्य में हो व्यक्तिता का अभिमानी कोई भी इसे स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु समष्टि को जो उसका सहज देय है उसको देना होगा। अज्ञेय जी क्रमशः उस ऊर्ध्व भूमिका की ओर उठते है जो स्वस्थ सहज समाजोन्मुखता को प्रश्रय देती है। 'मैं वहाँ हूँ' कविता में अपनी कल्पना वे सेतु रूप में करते हुए कहते है :

---

१. बावरा अहेरी, 'यह दीप अकेला', पृ० ६२-६३।

२. वही, 'जो कहा नहीं गया', पृ० ६४।

मैं सेतु हूँ वह सेतु
जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है
जो हृदय से हृदय को
श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
कल्पना के पख से कल्पना के पख को
विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है
जो मानव को एक करता है
समूह के अनुभव जिसकी मेहराबें हैं
और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से
चिर परिवर्तन शीला, सागर की ओर जाती-जाती·· बहती है
मैं वहाँ हूँ—दूर दूर दूर। [१]

अब कवि के सम्मुख 'अमरत्व' एक यही है 'अस्मिता-विलय' हो जाय, इसमें ही वह कल्याण मानता है (इन्द्रधनु रौंदे हुए ये · यही अमरत्व है) लगता है कवि एक दम परिणत कोण और आत्म चैतन्य होकर अतीत की भूल को स्वीकार करता है

अब हम फिर साथ है
न जाने कैसे, प्रभाववश, थोड़ा भटक गए थे

*

आस्था न काँपे, मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है
तेरा वरद और मेरा अभयद, यों हमारे साथ है। [२]

कवि 'हमने पौधे से कहा है' शीर्षक कविता में उन लोगों पर व्यंग्य करता है जो मिट्टी को उपेक्षणीय मानते हैं। वह 'हवाई यात्रा' करने और 'ऊँची उड़ान' करने वाले कवि को याद दिलाते है कि पृथ्वी पर चीकट कंवल की नई घुटन में · मानव का समूह-जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा

---

१. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, 'मैं वहाँ हूँ', पृ० २१-२२।
२. वही, 'घुमड़न के बाद', पृ० ५१।

है ऐसे कवि से दूर कहता है कि ओ कवि तुम अपने उड़न खटोले की खिड़की को खोलो मिट्टी पर खड़े होकर तो देखो यहाँ तुमको तुम्हारा ही वह 'अनपेक्षित प्रतिरूप दिखलाई पड़ेगा। यह नर ऐसा होगा जिसकी अनिद्रित आँखों मे नारायण की कथा' भरी है। इस स्तर पर आकर अज्ञेय कहते है

अच्छी कुण्ठा रहित इकाई
साँचे ढले समाज से
अच्छा अपना ठाठ फकीरी
मँगनी के सुख साज से।[४३]

'अज्ञेय' आद्यंत उस समष्टिवाद के विरोधी दिखलाई पड़ते है जो अपने विशेष प्रकार के साँचे के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तो रोक ही देता है ह्रास भी प्रारम्भ कर देता है। इस 'साँचे-ढले' समाज द्वारा प्रदत्त सुख-सुविधाओं की अपेक्षा उसका अपना फकीरी ठाठ उसे अधिक प्रीतिकर है। एक बात निश्चित है कि 'अज्ञेय' अपनी अस्मिता को भले ही दीप्त रखना चाहे किन्तु उस दीप्ति से जनसामान्य का तिरस्कार नहीं है। उनकी भावना उस परिप्रेक्ष्य को पाना चाहती है जहाँ से वह अहंता और सामाजिकता के संग्रह-त्याग की विवृत्ति छोड़कर आगे जायगी और उपेक्षित जीवन सामान्य को अंक मे लेकर उसके विकास-मार्ग को प्रशस्त करेगी, क्योंकि अब वह पुनः 'जनवरी छब्बीस' पर अपने युगों के स्वप्न को आलोक मंजूषा, समर्पित करने लगी है (बावर अहेरी, पृ० ४४)।

प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति

'अज्ञेय' ने प्राकृतिक सौंदर्यानुभूति के क्षेत्र मे भी छायावादी दाय को अधिक सूक्ष्म प्रशस्त और वैचित्र्ययुक्त बनाकर उपस्थित किया है। उन्होंने छायावादी प्रकृति-काव्य के उन सभी ऐन्द्रिय बोधों, सांगीतिक सूक्ष्मताओं, विशेषण विपर्ययों, संवेदनागत उपलब्धियो को विकसित ही किया है। इस दिशा मे निराला की शब्द-चेतना और सांगीतिक स्वर-बोध, पन्त का रंग

---

४३. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १६

बोध न घ बोध ध्वनि बोध अज्ञेय के प्रेरणा स्रोत अवश्य रहे होंगे। अज्ञेय अपनी प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं में वस्तु या दृश्यविशेष के अन्तःस्थित सम्पूर्ण छन्द, बाह्य वातावरण की मर्मच्छवियों का उपयुक्त शब्द-चयन करके अंकन करते हैं और उनमें अनेक स्थान पर वे बेजोड़ दिखलाई पड़ते हैं :—

ये मेघ साहसिक सैलानी
ये तरल वाष्प से लदे हुए
द्रुत साँसों से लालसा भरे
ये ढीठ समीरण के झोंके
कंटकित हुए रोएँ तन के
किन अदृश करों से आलोड़ित
स्मृति शेफाली के फूल झरे!
झर झर झर
अप्रतिहत स्वर
जीवन की गति आनी-जानी
झर
नदी कूल के चल तरुतल
झर उमड़ा हुआ नदी का जल
ज्यों क्वाँरपने की केंचुल में
यौवन की गति उद्दाम प्रबल...[1]

धारासार वर्षा हो रही है : आप कान बन्द करें और खोलें आपको यही झर-झर-झर की अप्रतिहत ध्वनि सुनाई देगी। इस दृश्यांकन में 'अज्ञेय' एक ही स्थिति में अनेक स्थानों की शब्द-परिक्रमा के माध्यम से भिन्न परिस्थितियों के यथार्थानुकृतिपूर्ण चित्र त्वरित गति से उपस्थित करते जाते हैं। इसमें Art of simultaneity का सुन्दर निर्वाह भी लक्षित किया जा सकता है। कविता की अगली अनुद्धृत पंक्तियों में आए 'मटियाया सा

---

१. बावरा अहेरी, पृ० २२

भूरा पानी' और 'थिगलिया भर छीजे आँचल सी ज्यों त्यों बिछी बालू बाना' के द्वारा वर्णबोध 'कम्पित फरास की ध्वनि सरसर' के द्वारा नाद और रूप बोध सुन्दर रूप में हुआ है। उपमाएँ भी नूतन, सर्वतः उपयुक्त और भावोद्रेकक्षम हैं 'ज्यों क्वाँरपने की केंचुल में यौवन की गति उद्दाम प्रबल' उदाहरण स्वरूप। साथ ही मानवीय प्रतिक्रिया के सूक्ष्म रूप भी 'किन अदृश करों से आलोडित स्मृति-शेफाली के फूल झरे।' मेघ के लिए 'साहसिक' 'सैलानी', 'आत्मव्यस्त', 'छलिया' विशेषण काफी व्यंजक, परिचित किन्तु नवीन रूप सामने रखते हैं। 'निराला' ने मेघ की विराटता, उमड़-घुमड़, गर्जन-तर्जन का चित्रण किया था किन्तु 'अज्ञेय' ने उसकी गत्वरता, एकस्वरता और प्रसरणशीलता को बड़ी सफलता के साथ शब्दांकित किया है।

गति का जितना सूक्ष्मबोध 'अज्ञेय' को है उतना कम लोगों को है। 'डैने को बिना हिलाए, भार युक्त से तिर जाते हैं पंछी,' या 'शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर डोलती कलगी अकेली' या 'रेत की अंगुलियों से बह' जाने की क्रिया के सूक्ष्मतर और दृश्य की आत्मा के व्यंजक चित्र उपस्थित करने वाला कवि जिस समय 'भादों की उमस' का प्रतिबिंब अंकित करता है असाधारण रूप में अपने छंद-विवेक का परिचय देता है।

सहम कर थम से गए हैं बोल बुलबुल के
मुग्ध अनझिप रह गए हैं नेत्र पाटल के
उमस में बेकल अचल हैं पात चल दल के
नियति मानो बँध गई है व्यास में पल के[1]

'दूर्वाचल' और 'पावस प्रात, शिलङ' नामक कविताओं में भी विचित्र रूप से गिने चुने हुए शब्दों में कवि संवेदना-सवलित (संवेदना-जड़ित नहीं) रूप से दृश्य का यथार्थानुकृतिपूर्ण रेखांकन करता है। इन कविताओं में कवि ऐन्द्रिय बोधों के विनियोजन में असाधारण सौंदर्य बोध का परिचय देता है। प्रकृति का कितना आग्रह-शून्य, निर्लेप, विरल बिम्ब युक्त अंकन है :

---

१. इत्यलम, 'वंचना का दुर्ग', पृ० १७६।

धूप
—माँ की हँसी के प्रतिबिंब-सी शिशु-बदन पर—
हुई भासित
नए चीड़ों से कँटीली पार की गिरि-शृंखला पर
गति।[१]

इन रचनाओं के सम्बन्ध में यह कहना है कि ये सभी प्रयोगवादी प्रतिक्रिया (छायावादी स्फीत भावुकता और प्रगतिवादी सल्वाट काव्यपद्धति के विरुद्ध) की संतति नहीं हैं, बल्कि प्रयोगलब्ध और अर्जित कौशल की। किन्तु 'अज्ञेय' ने प्रतिक्रिया मे जिस प्रकृति को उपस्थित किया था वह सर्वत्र उतनी सशक्त रूप मे चित्रित नहीं हुई। वैयक्तिक कुंठा और संक्रान्ति-कालीन सामाजिक अंतर्विरोधों को प्रकृति के प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करने के मोह मे ऐसा अनेक बार हुआ है। उस काल की शांति में रिरियाता कुत्ता या 'वचना है चाँदनी सित' या 'टूटी हुई रही' 'या लटकती खम्भे से फटी-सी ओढनी की चिन्दियाँ दो चार' और 'मूत्र-संचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव धैर्यधन गदहा' भी है। 'अज्ञेय' के प्रकृति-काव्य मे यौन-कुंठाओं को प्रकृति-प्रतीकों द्वारा संप्रेषित करने का प्रयास किया गया है। उदाहरण स्वरूप 'सावन मेघ'

भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर[२]

—और छाती 'स्नेह से आलिप्त 'बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल' 'वह वासना के पंक सी फैली हुई थी सत्य सी निर्लज्ज नंगी और समर्पित।' 'सागर के किनारे' शीर्षक कविता मे 'अज्ञेय' जी लिखते हैं:

गीली दूब से मेदुर
मोड़ पर जिनके नहीं का फूल है जल है
मोड़ के भीतर—घिरे हो बाँह मे ज्यों—

१, इंद्रधनु रौंदे हुए ये, 'सूर्यास्त', पृ० ८३
२. इत्यलम, 'सावन मेघ', पृ० १५५।

गुच्छ लाल कुक्स के उ फूल[1]

और वे दहकने लाल गुच्छ कुरुस के विशेप परिचय म अन्य लिख है जो तुम हो या –

सो रहा है झोप अँधियाला
नदी की जाघ पर
दाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उझक कर झांक जाती है[2]

इस यौन-भावना के बेरोक प्रसार मे प्राकृतवाद (Naturalism) का सुनिश्चित योग है। 'अज्ञेय' के प्रकृति काव्य की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि प्रकृति निरपेक्ष रूप मे प्राय: नही आई है, वह सर्वथा अपनी प्रतिक्रिया के सग आई है। वह सदा कवि के भोक्तृत्व की छाप लेकर चलती है। यदि यौन प्रतीकों की सर्वथा शून्यता कही मिलती है तो अज्ञेय की 'इन्द्रधनु रोंदे हुए ये' और 'अरी ओ करुणा प्रभामय मे।'

'अज्ञेय' ने दूसरे संदर्भो मे बिंब-प्रतीकों के माध्यम से शताधिक प्रकृति चित्रों को दिया है उसका अध्ययन एक बड़ी पुस्तक का काम है।

६.

'अज्ञेय' ने कला पर निरन्तर चिन्तन किया है और अपनी उपलब्धियों को निरन्तर पंक्ति-बद्ध करते गए है। अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका मे रघुवंश के मंगलाचरण को साभिप्राय उद्धृत किया था –

वागर्थाविव सपृक्तो वागर्थप्रतिपत्तये
जगत पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ

'अज्ञेय' के अनुसार यहाँ कालिदास वाक मे अभिधेयार्थयुक्त अर्थ की प्रतिपत्ति नही करते है वल्कि नूतन अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए वागर्थाविव संयुक्त पार्वती परमेश्वर की वन्दना करते है। 'अज्ञेय' अर्थ के नवाभिधान की समस्या पर 'तीसरा सप्तक' मे बडी स्पष्टता के साथ कहते है 'प्रत्येक

---

१ हरी घास पर क्षण भर, पृ० २७।
२. हरी घास पर क्षण भर, पृ० २६।

शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है—यही उसका कल्प है।'[1]

'अज्ञेय' ने इस समस्या पर पुनः पुन विचार किया। अपने कविता संकलन 'अरी ओ करुणा प्रभामय' मे वे लिखते है कि 'सत्य' (अर्थ) और 'शब्द' 'जब तब सम्मुख आते ही रहते है' किन्तु 'अज्ञेय' का प्रयोजन बस इतना है कि 'ये दोनों जो सदा एक दूसरे से तनकर रहते है', इन्हे 'कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण मे' 'मिला दे' या 'उनके अनदेखे' उन दोनो की मध्यवर्ती दीवार को 'विस्फोटक से उड़ा दे'।[2] उस सत्य को अज्ञेय 'अन्तर्दृष्टि के' 'अनुभव की भट्ठी मे तपे हुए कण दो कण' मानते है।[3] और यह अन्तर्दृष्टि युगीनता की पीठिका पर जन्म लेती है इसलिए अभिनव रागबोध के अंतर्गत होती है। अभिनव रागबोध पूर्वाचरित कविता के माध्यम और शिल्पतत्र मे अपना अभिव्यक्तिसौकर्य नही सुलभ कर पाता इसलिए नए माध्यम की संभावनाओं के अनुसंधान मे प्रयोग द्वारा नए आयाम निश्चित करता है। इस सबंध मे कुछ एक प्रमुख बातो को लें :—

प्रतीक और बिम्ब—

यो प्रतीकों का प्रयोग तो अपने सुन्दरतम रूप मे रहस्यवादी कवियो में होता है किंतु फ्रांस मे १८९० के लगभग जो प्रतीकवादी आन्दोलन चला वह भौतिक पदार्थों की पृष्ठभूमि मे निहित सूक्ष्म अर्थच्छायायों की अभिव्यक्ति के आयोजन को सामने लेकर आया। कालहिन ने लिखा है कि प्रतीको मे एक साथ ही गोपन और प्रकाशन की शक्ति रहती है जिसमे मौन और वाणी के सहयोग से दुहरे अर्थ की व्यंजना होती है। इस प्रकार

---

१. तीसरा सप्तक, सन् १९५९, भारतीय ज्ञानपीठ काशी' पृ० १४।
२. अरी ओ करुणा प्रभामय, " " पृ० १९
३. " " " पृ० १६

संक्षिप्त शब्दों में गहन अर्थसमूह का सन्‍ ने ता अर्थ प्रतीकों को मिला। आधुनिक जटिल युग के जटिल मन और जटिल ... नवा को काव्योपयोगी रूप मे व्यक्त करने मे प्रतीकों ने ... योग दिया। इन नव्य यथार्थवादी एव नवस्वच्छंदतावादी प्रतीक... अंग्रेजी मे इलियट, पाउड, डाइलन टामस, आडेन आदि ... ने किया है। हिन्दी मे प्रयोगवादी कवियों ने इसको बडे समारोह के साथ अपनाया। वैसे इनके पूर्ववर्ती छायावादी काव्य मे भावात्मक प्रतीकों की विशेष प्रतिष्ठा थी।

'अज्ञेय'-काव्य का मुख्य उपकरण प्रतीक-विधान ही है। 'इत्यलम' से लेकर 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तक प्रतीक का अनिवार्यतः प्रयोग हुआ है। अज्ञेय 'तारसप्तक' के 'स्व'-वक्तव्य मे कहते है, 'आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओ से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ दमित एवं कुठित है। उसकी सौदर्य-चेतना भी इससे आक्रात है, उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते है। प्रतीको द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत्त हो जाता है—तब वह उस स्पष्ट इति से घबराकर भागता है जैसे 'बिजली के प्रकाश में व्यक्ति चाक जाय।' इस सदर्भ मे वह डा० एच० लारेंस की कविता का संदर्भ प्रस्तुत करता है जिसमे प्रेमप्रसग मे एकाएक बिजली चमकने पर एक पुरुष प्रेमालाप छोडकर छिटक कर अलग हो जाता है क्योंकि The lightening has made it too plain ' (बिजली ने उस व्यापार को उघड़ा कर दिया)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञेय यौन-प्रतीको को नए कवि की स्थितिगत अनिवार्यता मानकर प्रस्तुत करते है। 'इत्यलम' मे 'सावन मेघ', 'हरी घास पर क्षणभर' मे 'जब पपीहे ने पुकारा', 'सागर के किनारे' और 'सो रहा है कोंप', इन यौन-प्रतीकों से पूर्ण है। कुछ प्रतीक शुद्ध व्यक्तिगत मानसिक दशाओ को संकेतित करते है। 'शिशिर' बिखरी और उदासीन मन स्थिति का,'बालू का अँगुलियो मे से यों ही वह जाना' जीवन की शुष्कता को यों ही झेलते जाने का प्रतीक है, आदि। बाद मे चलकर कुछ अन्य प्रतीक भी लिये

गए हैं जो व्यापक अर्थ रखते हैं—'बावरा अहेरी' सूर्य का प्रतीक है ।[1]

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ [2]

'अज्ञेय' के प्रतीकों का कोष विशद है। यह अवश्य है कि इन प्रतीकों का काव्यगत मूल्य तब कम हो जाता है जब ये आवश्यकता से अधिक खुल जाते है या 'बौद्धिक सहानुभूति' और 'बौद्धिक विकलता' के कारण प्रतीकों को अत्यन्त बौद्धिक बना देते हैं। प्रयास-प्राप्त नहीं अनायास और भाव-प्राप्त प्रतीक काव्य के काम के है।

यह प्रतीक-पद्धति स्वप्न और स्मरण-चित्रो के क्षेत्र मे बढती है, क्योंकि प्रयोगवादी कवि का यह विशेष क्षेत्र है। और इस दृष्टि से, स्वप्न-चित्रण की कविताएँ सामने आती है। अज्ञेय के 'इत्यलम' की 'चार का गजर' शीर्षक कविता ऐसी ही है। साथ ही क्रमहीन अनुसंगो (free Associations) से भी 'अज्ञय' ने काव्य-सृष्टि की है और इनके पीछे दूसरा तर्क वही है जो इलियट का है, अर्थात् 'बाहर से असबद्ध दिखाई देने वाले टूटे-बिखरे स्वप्न आप से आप अपनी रूपरेखा को निर्मित करने के लिए छोड़ दिए जाते हैं।' इस शैली का प्रयोग निराला ने 'स्फटिक शिला' और 'कैलास शरत्' मे किया था। 'अज्ञेय' के 'कंकरीट का पोर्च' में इस प्रकार के 'विच्छिन्न

---

१. 'रुबाइयाट आफ उमर खैयाम' नामक फिट्जराल्ड द्वारा अनूदित काव्य-कृति में भी सूर्य के लिए Hunter of the East शब्द का प्रयोग आता है। 'अज्ञेय' ने 'बावरा अहेरी' प्रतीक-कल्पना में कही वहाँ से तो प्रेरणा नहीं ली है? देखिए Rubaiyat of Omar Khayyam, Newyork, 1940, P. 2.

२. बावरा अहेरी, पृ० १६।

आनुषग प्रयोग देखे जा सकते हैं जिसमें कवि नए मुहल्ले की ऊंची ऊँची इमारतों के बीच से खोजता हुआ' 'एक डाक्टरनी के नए बँगले के सामने ठिठक गया' और उसकी 'अटकी हुई आँख' 'कंकरीट के ढके हुए पोर्च' पर टिक गई। वह 'निराधार' तो था किन्तु 'बहुत-सी जगह पर' अपनी 'छाँह डाले था'। पर कवि का सुषुप्त आत्मा जागकर कहता है, 'दूसरे सब घर गैर हैं' और फिर उसका ध्यान 'धुंधला-सा पड़ता हुआ' जाता है .

मैदान के किनारे वाली पटरी के उस मौलसिरी के गाछ की ओर
जिसके नीचे की खुरदुरी घास में बैठकर
एक दिन दो प्राणों की विलायती मलाई की बर्फ खाई थी।[1]

विच्छिन्न आनुषग चित्रों की कला यदि अनायास काव्य-बोध से चालित हो तो बहुत सारे रमणीय दृश्य बिम्ब प्रतीक मिल सकते हैं, लेकिन यदि बुद्धि-प्रेरित दूरारूढ़ कल्पना या प्रयास-संयोजित कला या रूपवादी मनोवृत्ति की प्रेरणा स्वीकार की गई तो यह कला अकाव्योपयोगी हो जायेगी।

भाषा :

श्री नामवर सिंह ने आरंभिक प्रयोगवादी कविता के शब्दों को 'अनगढ़ ठीकरों से कड़े' कहा है। यह बात सही है, किन्तु छायावाद के बाद यथार्थोन्मुख और जटिल संवेदनाओं के कवि के सामने कविता का कोई निश्चित मुहावरा नहीं था। छायावादोत्तर कवि एक बार पुनः संक्रान्ति की अवस्था से गुजर रहा था और संक्रांति पार करने के बाद 'पोयटिक ईडियम' स्थिर होता है और उस समय काव्य में सांगीतिक बोध का विनियोग भी संभव होता है।[2] इस प्रकार आरम्भ में अज्ञेय 'निविड़ान्धकार' 'पृथकता द्वारा घना-

---

१. इत्यलम्, पृ० १७१।

२. But when we reach a point at which the poetic idiom can be stabilized, then a period of musical elaboration can follow.
—Selected-prose T. S. Eliot. p. 66.

त्रृत ऐक्य' आदि अनेक विलष्ट-कुकट्ठ प्रयोग करते थे, किन्तु 'हरी घास पर क्षण भर' में 'अज्ञेय' हल्के-फुल्के, व्यंजक और कोमल शब्द-विन्यास की ओर आ गए . उदाहरण स्वरूप 'कलस-तिमूल', 'कलौस', 'फीकी'. 'लीकी' आदि शब्द । 'अज्ञेय' के शब्द-चयन में धीरे-धीरे स्वरपात और संगीत का भी सुन्दर विनियोग हुआ है । प्रलंबित वाक्यों के स्थान पर छोटे वाक्यों की योजना हुई या जहाँ लम्बे वाक्य आए वहाँ भी रुचिरता बनी रही—फर्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची नम्रि रूपरेखा को ।[१]

छंद :

इलियट मुक्त छन्द पर विचार करते हुए लिखता है

As for free verse I expressed my views twenty five years ago by saying that no verse is free for the man who wants to do a good job. No one has better cause to know than I, that a great deal of bad prose has been written under the name of free verse........ Only a bad poet could welcome free verse as a leberation from form. X X X It has an insistance upon the inner unity which is unique to every poem, against the outer unity which is typical.

—Selected prose p. p. 65-66.

इलियट ने दो बातें बड़े महत्व की कही है जो मुक्त छंद सम्बन्धी सारी वहम का एक मात्र उत्तर है कि केवल एक अल्पद्रष्टा कवि ही मुक्त छन्द को रूप-स्वातंत्र्य मान सकता है, कि मुक्त-छन्द वस्तुतः बाह्य एकता के विरुद्ध भाव की आन्तरिक एकता का पुरस्कर्ता है । हिंदी में इस तथ्य को प्रायः सभी छायावादी कवियों—प्रसाद, निराला, पन्त, सबने स्वीकार किया । निराला तो इस छन्द के बहुल प्रयोग के लिए बदनाम ही हो गए । 'अज्ञेय'

---

१. बावरा अहेरी, पृ० १६ ।

ने शायद मुक्त-छन्द के क्षेत्र में 'निराला' के बाद सबसे अधिक प्रयोग किया। इन प्रयोगों का विस्तार पुराने कवित्त घनाक्षरी छन्दों उर्दू छन्दों आदि से लेकर लोकगीतों तक है।[१] इन छन्दों में यह प्रयत्न अवश्य हुआ कि नई कला योजित हो और मुझे यह भी कहने में संकोच नहीं है कि उन्होंने 'निराला' और 'पंत' की एतद्विषयक उपलब्धियों को अंशतः आत्मसात किया है। कवित्त छंद के अन्तर्गत हुए प्रयोग के लिए 'इत्यलम' की 'बीर-बहूटी' (पृ० १८७) और 'बदलों की सांझ' नामक कविताएँ और 'चिंता' के २०वें पृष्ठ पर 'जाने किस दूर वन प्रान्तर में उड़कर आया एक धूलि कण ग्रीष्म ने तपाया उसे' वाली कविता को देखना चाहिए। उर्दू के बह्र की लयात्मकता के लिए 'हरी घास पर क्षण भर' के ३६वें पृष्ठ पर 'शरद' नामक रचना देखनी चाहिए। लोकगीतात्मक कविताओं के लिए 'इत्यलम' का 'आशीः' (वसन्त के एक दिन) और 'ओ पिया पानी बरसा', 'हरी घास पर क्षण भर' की 'कातकी पूनो' तथा 'अकेली न जैयो राधे यमुना के तीर', 'बावरा अहेरी' की 'वसन्त की बदली' शीर्षक कविता, 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' में 'चातक पिउ बोलो बोलो' को देखना चाहिए। केवल 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में लोकगीतात्मक स्वर नहीं प्राप्त होता।

मुक्त छंदों की दिशा में अज्ञेय ने दो या एक शब्द में सीमित लघु पंक्तियों वाले मुक्त छंदों से लेकर दीर्घ पंक्तियों वाले छंद तक को लिया है, वैसे 'अज्ञेय' की प्रवृत्ति दोनों के बीच मध्यम पंक्तियों वाले छंदों की ओर है। दीर्घ पंक्तियों वाले उदाहरण को 'इतिहास की हवा'—जैसी चिन्तनपरक रचनाओं में पाया जा सकता है। इन मुक्त छंदों में भाव-विवेक की प्रतिष्ठा के कारण भाव-परिवर्तन के साथ छंदों में भी परिवर्तन होने लगा।

कुल मिलाकर माध्यम के क्षेत्र में 'अज्ञेय' चिर प्रयोगशील है। अर्थात

---

१. संकेतित प्रयोगों के उदाहरण और विवेचन के लिए 'आलोचना' हिन्दी के काव्यालोचन विशेषांक (सन् १९५९) में लिखित लेखक का एतद्विषयक लेख देखना चाहिए।

वे निरन्तर अपने द्वारा प्रयुक्त माध्यम की विशेषताओं को परखते और नए से नए माध्यमों की तलाश मे संलग्न दिखलाई पड़ते है। यह अवश्य है कि माध्यम के चयन और प्रयोग के समय संप्रेष्य वस्तु का विचार 'अज्ञेय' के लिए सर्व प्रमुख दिखलाई पड़ता है क्योंकि उन्हे पता है कि सप्रेष्य वस्तु की एक अपनी लय होती है और कथित माध्यम मे उस लय की अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए।

७.

इस बिंदु पर आकर हम अज्ञेय-काव्य को कुछ अन्य टूटे हुए पार्श्वों से भी देखें। 'अज्ञेय' का सारा काव्य-प्रयत्न अहमूवाद, बुद्धिवाद, क्षणवाद, अतियथार्थवाद और इधर नवस्वच्छदतावाद की प्रवृत्ति-धाराओं से प्रभावित होता हुआ चलता रहा है। लगभग यह सारी प्रवृत्तिधाराएँ हिन्दी के कुछ आलोचकों के द्वारा प्राय: अभारतीय ठहराई गई है इसीलिए उन्होने 'अज्ञेय'-काव्य के सांस्कृतिक मूल्य मे संदेह प्रकट किया है। किन्तु मेरा विचार यह है कि भारतीय काव्य-चेतना अथवा परम्परा का मूल्यांकन-निरूपण हम ठीक तरह से नही कर पाते। युग-परिवर्तन के साथ-साथ परिवेश मे परिवर्तन होता है तथा प्रत्येक परिवेश का अपना कथ्य होता है और हर युग परिवेश के कथ्य के नाना प्रभाव स्रोत होते हैं (आवश्यक नही है कि ये प्रभाव-स्रोत देशी ही हों, प्राय. विदेशी भी होते हैं और आज के विश्व मे जब 'दूरी' नामक तत्व ही समाप्त हो रहा है तब और भी)। परम्परा का विकास उसके अंधानुकरण मे मानना परम्परा के प्रगतिशील तत्वो को नजर-अन्दाज करना है। परम्परा का विकास द्वन्द्वात्मक रीति मे होता है। परम्परा के पेटे मे उसके क्षयिष्णु तत्व विकासमान तत्वों से 'रीप्लेस' हुआ करते है और इन विकासमान तत्वो को निश्चित करने वाला प्राय: युग-कथ्य ही हुआ करता है। जब आज युग-मेधा प्रत्येक दिशा मे अतर्राष्ट्रीय स्वरों की अभ्यासिनी हो गयी है तो काव्य ही क्यो अछूता बचे। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की भूमिका मे 'अज्ञेय' ने लिखा है : प्रस्तुत संग्रह मे अनेक कविताओं में भी पूर्व के (और पश्चिम भी क्यों नहीं ?) प्रभाव मिलेंगे, लेखक सभी का स्वीकारी है। इतने ही से

वह अभारतीय था या अहिन्दू हो गया — ऐसा वह न मानता है न पूर्व और पश्चिम के प्रभाव देने वाले। यदि वे इस संग्रह को पढ़ सकें तो मानें। × × × बन्द घर में प्रकाश पूर्व या पश्चिम किसी भी निश्चित दिशा से आता है — पर खुले आकाश में वह सभी ओर से समाया रहता है, उसी में उसका आकाशत्व है। उसी खुले आकाश को अपनी बाहों में भर सके, यह लेखक का स्वप्न रहा है, दूसरों के नापने में तो वह अभारतीय ही है।[1]

अज्ञेय का आरम्भ छायावादी कवियों के प्रभाव के भीतर से अवश्य हुआ किंतु उन्होंने अंग्रेजी कवियों ब्राउनिंग, डी० एच० लारेंस से भी प्रेरणा ग्रहण की। आरम्भ में वे यौन-वर्जनाओं और मध्यवर्गीय कुण्ठाओं से चालित थे। यही परिकल्पनाएँ क्रमशः क्षणवाद और पीड़ा-बोध की ओर आईं। लारेंस ने १९२० ई० में 'क्षण की निश्चित पूर्णता' का सिद्धान्त उपस्थापित किया था। अस्तित्ववादी विचारक भी इसी शृंखला में आते हैं। इस क्षणवाद की व्याख्या में 'अज्ञेय' यों कहते हैं :

> एक क्षण : क्षण में प्रवहमान
> व्याप्त सम्पूर्णता
> इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
> पिया था अगस्त्य ने
> एक क्षण। होने का
> अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण
> होने के सत्य का
> सत्य के साक्षात का
> साक्षात के क्षण का
> आज हम आचमन करते हैं।[2]

यह क्षणवाद 'अज्ञेय' को वस्तुक्षेत्र में विवाद और दुःखवाद तथा

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय, भूमिका, पृ० १०।

२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, नई कविता : एक सम्भाव्य भूमिका, पृ० ४४।

शिल्प क्षेत्र में बिम्बवाद (Imagism) और प्रतीकवाद की ओर ले गया। दुःख को भी 'अज्ञेय' ने दर्शन के रूप में उपस्थित किया :

दुःख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।[१]

'अज्ञेय' के सम्पूर्ण काव्य में उनका व्यक्तित्व अत्यन्त मुखर है। इसे अहम्वाद भी कहा गया है उनका 'व्यक्ति' कई बार अपने को अतिरिक्त रूप से 'एसर्ट' करता है लेकिन सन् १९५० के पश्चात से वह व्यक्ति पंक्ति के लिए विसर्जित होने लगा है। वह एक दीप की तरह अब भी अपनी आभा में अद्वितीय है लेकिन वह पंक्ति के लिए ही है। यह नयी कविता का प्रशस्त स्वर है। 'अज्ञेय' की अति-अद्यतन काव्य-चेष्टा नव स्वच्छंदतावाद (Neo-Romanticism) से प्रभावित है। 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में यह प्रवृत्तियाँ घनिष्ट भाव से प्राप्त होती है। 'अज्ञेय' की '५० ई० के बाद की रचनाओं में बौद्धिक और अबोद्धिक शक्तियों का संयोग घटित हुआ है। आरम्भ में अज्ञेय अपनी यौन प्रतीकात्मक रचनाओं और विच्छिन्न आनुषंग चित्रों में अतियथार्थवाद से भी प्रभावित थे, किन्तु अब उनकी रचनाओं में स्पष्ट नवस्वच्छदतावादी प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। वैसे यदि हर्बर्ट रीड के अनुसार कहे तो कहना होगा कि यह स्वाभाविक है क्योंकि स्वच्छंदतावाद का अतियथार्थवाद की ओर स्वाभाविक विकास होता है। इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि स्वच्छंदतावाद और अति-यथार्थवाद मिलकर ही नवच्छंदतावाद को जन्म देते है। जिसमे न तो बौद्धिकता का परिहार है न तो भावात्मकता का तिरस्कार, न तो आदिम मूल प्रवृत्तियों की घोर वर्जनशीलता है न आत्मचैतन्य प्रबुद्ध व्यक्तित्व का

१. हरीघास पर क्षण भर, पहला दौंगरा, पृ० ५५

बहिष्कार अज्ञेय का निर्माण इसी दिशा की ओर उन्मुख है

अंत में, कुल मिलाकर, कविता के क्षेत्र में अज्ञेय का कर्तृत्व एक प्राणवान प्रातिभ कवि के निरंतर विकसनशील चिन्तन का भव्य आलेख है। उनसे बहुतों को बहुत प्रकार की शिकायत हो सकती है किन्तु उनके काव्य-विवेक के इस निर्भ्रम उपयोग का कायल अनेक स्थानों पर अनेक को होना होगा। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' मे, मेरे विचार से, दार्शनिकता का अभिनव स्वर उपस्थित हुआ है और जो संकेत करता है कि 'अज्ञेय' के भावी काव्य-सृजन की दिशाओं की परतीक्षा की जाय क्योंकि अज्ञेय प्रौढि को आपरा कर चुके है और अपने ही उद्घोष के अनुसार उनकी स्थिति अनुलिखित रूप मे यो है :

आ तू
दर्पस्फीत जयी
मेरी तो
तुझे पीठ ही दीखेगी—क्या करूँ कि मै आगे हूँ
और देखता भी आगे की ओर ।[१]

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० २७-२८